

५०



सारिता मुक्ता रिप्रिंट

सेट
1

दिल्ली प्रेस, नई दिल्ली - 55

प्राचीन हिंदू संस्कृति

रतनलाल बंसल

2000 वर्षों से चली आ रही पराधीनता व आत्मग्लानि का बोझ

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अधिक दिनों तक पराधीन और पददलित रहने वाले राष्ट्रों में अपने अतीत काल के प्रति एक ऐसी गौरवमय भावना घर कर जाती है, जिस में सिवा भ्रम, मोह और आत्मतुष्टि के और कुछ नहीं होता। यह भावना पराधीनता के काल में राष्ट्र के आत्माभिमान को कुंठित नहीं होने देती। किंतु स्वाधीन होने के पश्चात यही भावना उस राष्ट्र के लिए विष का कार्य करती है और समस्त प्रगति, विकास और सुधार के पथ में भयानक बाधा बन जाती है।

आज अपने राष्ट्र की कसौटी पर हम इस मनोवैज्ञानिक सच्चाई को भली प्रकार परख सकते हैं। जब तक हम पराधीन थे और दुनिया की प्रगति के साथ अपने बंधनों के कारण नहीं चल पाते थे, तब तक हम यह मान कर आत्मग्लानि से बचने का प्रयास करते रहे कि आज का संसार कितना भी उन्नति कर जाए, किंतु अतीत काल में हम जिस स्तर पर रहे हैं, उन से यह पीछे ही रहेगा।

आत्मतुष्टि का वहाना : गौरवमय अतीत

पाश्चात्य जगत में जो भी आविष्कार होते गए, उन को हम अपने धर्मग्रंथों की काल्पनिक कथाओं के उद्धरण दे कर अपने ही सिद्ध करते गए। हवाई जहाज के लिए पृष्पक विमान, रेडियो टेलीविजन के लिए

संजय का श्राव्यान्, और इसी प्रकार के न जाने कहाँकहाँ के कुलाबे हम ने मिलाए। यहां तक कि हमारे इस अभागे देश में ऐसे भी महानुभाव हैं, जिन्होंने एटम शक्ति का आविष्कार होने के पश्चात उसे भी वेद-मंत्रों से निकाल कर दिखा दिया। न जाने कितने लेख 'वेदों में एटम शक्ति' विषय पर लिखे गए। पर ऐसे लेखों की संख्या अति नगण्य रही, जिन में भारतीय युवकों को एटम शक्ति के संबंध में ज्ञान प्राप्त कराने के लिए कुछ वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हो।

स्वाधीनता मिलने के पश्चात हमारी यह मनोवृत्ति ही हमारे देश की उन्नति में आज सब से बड़ी बाधा बन रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व जब रियासतों के भारतीय संघ में सम्मिलित होने न होने का प्रश्न था, तो प्राचीन भारतीय संस्कृति के नाम पर ही इन राजाओं ने स्वेच्छाचारी बने रहने का दावा पेश किया था और एक अच्छी-खासी संख्या में जनता भी उन के साथ हो गई थी। कहींकहीं यह आवाज भी उठाई गई थी कि ऋषियों की इस पुनीत भूमि में तो केवल राजतंत्र ही सफल हो सकता है, क्योंकि यही पद्धति वेदविहित भी है। इसी प्रकार समस्त प्रतिक्रियावादी और प्रगति-विरोधी शक्तियों ने प्राचीन काल के प्रति हमारी इस भयानक मोह भावना से लाभ उठाने का प्रयास किया था।

आज भी यह प्रयास जारी है। जिस का

प्रमाण यह है कि यद्यपि देश मुद्रास्फीति, खाद्य पदार्थों की कीमतीकरण, विद्युत्-शक्ति, संबंधी दुर्बलता, पूंजी के भयानक असंतुलन आदि जैसी मानव जीवन से सीधा संबंध रखने वाली समस्याओं के कारण जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहा है और इस बात की अपेक्षा है कि हमारी पूर्ण शक्ति इन समस्याओं के हल में ही लगनी चाहिए, तो भी हमारे देश में सब से अधिक शोर इस बात का है कि देश का नाम इंडिया रखा जाए या भारतवर्ष, देश की राष्ट्र-भाषा से विदेशी शब्दों को, जो जनता की जवान पर भली प्रकार चढ़ चुके हैं, निकाल कर क्यों न संस्कृत के अनर्गल शब्द, जैसे मोटर के लिए वहित्रभाण, वारंट के लिए प्राह्वान पत्र आदि रख दिए जाएं और राष्ट्रीय पोशाक में धोती क्यों न रखी जाए।

खानपान के संबंध में मनु ने अपनी स्मृति के पंचम अध्याय में भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का निर्देश करते हुए कहा है :

राष्ट्रशक्ति का अपव्यय

यह भावना इतनी बढ़ गई है कि यद्यपि इस देश में वेदों को पढ़ने व समझने वाले व्यक्तियों की संख्या कठिनाई से चार शूर्यों तक पहुंचेगी, पर आंदोलन हो रहा है कि रेडियो पर वेदों की कथा होनी चाहिए. अभी कुछ दिन पूर्व दिल्ली से प्रकाशित होने वाले 'सन्मार्ग' में ऐसे लेख भी प्रकाशित हुए थे, जिन में दीपावली पर जुआ खेलना प्राचीन संस्कृति के अनुरूप बता कर उस के लाभ दिखाए गए थे. भारतीय पार्लियामेंट में दो सदस्यों ने शराबबंदी को अपनी प्राचीन संस्कृति पर एक भयानक आक्रमण बता कर उस का बिरोध किया था. छुआछूत की पैशाच्चिक तथा अमानवीय प्रथा का तो मुख्य आधार ही प्राचीन संस्कृति के प्रति यह आदर भावना है.

“साही, गोह, गेंडा, कछुआ और खरगोश पंचनखों में, तथा एक दांत वालों में ऊंट को छोड़ कर सभी जंतु भक्ष्य हैं. (18)”

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि
अमक्ष्य जंतुओं में गाय का नाम नहीं है,
जिस के वध के प्रश्न पर अब तक इस
अभागे देश में न जाने कितना नर रक्त
बह चुका है.

हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र मांस खाने की आज्ञा देते हैं या नहीं, इस पर मैं इसलिए अधिक नहीं लिखना चाहता, क्योंकि धर्मशास्त्रों का कोई साधारण सा भी विद्यार्थी इसे विवादास्पद नहीं मानता। महर्षि वाल्मीकि की आर्ष रामायण में सेकड़ों श्लोक

इसलिए आवश्यकता है कि हम इस प्रश्न पर अब कुछ गंभीरता से तथा व्यर्थ की भावुकता को त्याग कर विचार करने का अभ्यास करें.

सकता है?

हमारे कुछ सुतों जैसे अति प्राचीन काल में स्त्रीपुरुषों के पारस्परिक संबंध किस प्रकार के थे, इस की चर्चा करते हुए भगवान व्यास ने महाभारत के आदि पर्व, अध्याय 122 में महाराज पांडु से कुंती के प्रति कहलवाया है :

“हे सुंदरी, पूर्व काल में स्त्रियों को कुछ रोकटोक न थी. हे सुहासिनी, उन दिनों वे स्वतंत्र रह कर भोगविलास की आशा में स्वच्छंदतापूर्वक घूमा करती थीं.

“हे सुभगे, वे कौमार्यावस्था में ही व्यभिचार किया करती थीं और इस से उन को अधर्म नहीं होता था, क्योंकि पूर्व काल में यही धर्म था.”

श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने भी अपने ग्रंथ ‘भारतीय इतिहास की रूपरेखा’ में पृष्ठ 225 पर वेदकालीन आर्यों के पारिवारिक जीवन का चित्रण करते हुए लिखा है :

“वैदिक जन भले ही पितृमूलक परिवार पर निर्भर थे तो भी माता से अनेक बार गोत्र खोजना और बहुपतिक विवाह आदि की पुरानी प्रथाएं अवशेषों और स्मारक चिन्हों के रूप में उन में चली आती थीं या कभी प्रकट हो जाती थीं. विवाह की संस्था में भी शिथिलता थी. वह इतनी दृढ़ न थी जितनी बाद में हो गई.”

महाभारत में श्वेतकेतु की कथा दी गई है, जिस में बताया गया है कि श्वेतकेतु के ही सम्मुख कोई ब्राह्मण उन की माता का हाथ पकड़ कर खींच ले जाने लगा. इस पर श्वेतकेतु क्रोधित हो उठे. तब श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने कहा :

“हे तात, क्रोध मत करो, यह सनातन धर्म है. इस भूमंडल में सभी वर्णों की स्त्रियां बिना किसी बंधन की हैं. हे तात, सभी जन अपने अपने वर्ण की स्त्रियों के साथ गायों जैसा व्यवहार करते हैं.”

महर्षि अत्रि ने भी अपनी स्मृति के

श्लोक 190 में कहा है :

“स्त्रियां जारों (प्रेमियों) द्वारा द्वेषित नहीं होतीं.

इसी प्रकार दीर्घतमा आदि की कथाएं स्पष्ट बताती हैं कि उस समय स्त्रीपुरुषों के बीच यौन संबंध होने के लिए विवाह आवश्यक नहीं था तथा वैदिक युग का विवाह आजकल के हिंदू विवाह की तरह पत्थर की लकीर नहीं होता था.

नियोग प्रथा : नैतिक स्तर

महाभारतकाल में विवाह प्रथा पर्याप्त रूप से प्रचलित हो चली थी और वेदकाल में स्त्रीपुरुषों के बीच बरते जाने वाले इस स्वेच्छाचार को व्यभिचार कहा जाने लगा था. पर उस समय भी अन्य पुरुष द्वारा गर्भाधान कराने की प्रथा जोरों पर थी. महाभारत के मुख्यमुख्य पात्र इस नियोग प्रथा द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं और जब समाज के शीर्ष स्थान पर विराजने वाले परिवारों तथा आदर्श धर्माचारी व्यक्तियों की यह स्थिति थी, तो साधारण जनों की क्या स्थिति होगी, कल्पना करना कठिन नहीं है.

हमारे धर्मशास्त्रों में ऋषियों, मुनियों और महापुरुषों की जो जन्मकथाएं दी गई हैं, उन से भी यह भलीभांति प्रकट और प्रमाणित होता है कि हमारे उस ‘सुवर्ण युग’ में महापुरुष माने जाने वाले व्यक्तियों के समाज में कामविषयक नैतिकता का स्तर कितना हीन था. अध्यात्म रामायण बालकांड सर्ग 3 में लिखा है कि एक बार महर्षि विश्वाङ्क किसी बड़ी झील में स्नान कर रहे थे कि उर्वशी उन के सामने हो कर निकल गई. फलतः महर्षि का वीर्य जल में स्खलित हो गया, जिसे किसी प्यासी मृगी ने जल के साथ ही पी लिया और वह गर्भिणी हो गई. फिर उस हरिणी के पेट से महर्षि ऋष्यशृंग उत्पन्न हुए, जो वन में ही सयाने हुए. उन के सिर पर एक सींग भी था.

वसिष्ठजी की उत्पत्ति तो और भी विचित्र है। वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड, सर्ग 55, में भगवान राम अपने अनुज लक्ष्मण को अपने कुलगुरु का जन्म वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं कि एक बार उर्वशी को वरुणालय में क्रीड़ा करते हुए देख कर मित्र और वरुण नामक दो देवता इस प्रकार कामपीड़ित हुए कि दोनों ने एक घड़े को उर्वशी की योनि मान कर उस में वीर्यपात कर दिया। उस घड़े में प्रथम तो अगस्त्य पैदा हुए, उन के पश्चात् उस घड़े में से वसिष्ठ उत्पन्न हुए, जो इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के कुलगुरु बने।

इसी प्रकार महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 130 में कृप और कृपी के जन्म का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है कि एक बार महर्षि गौतम के पुत्र शरद्दान का वीर्य जानपदी नामक अप्सरा को देख कर स्थलित हो गया और एक सरकंडे पर गिर गया, जिस से एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुईं। घटनावश वे राजा शांतनु के हाथ लगे और उन्होंने कृपापूर्वक इन का पालनपोषण किया, जिस से ये क्रमशः कृप और कृपी कहलाए।

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 131 में दसवें से ले कर चौदहवें श्लोक तक द्रोण की जन्मकथा इस प्रकार दी गई है:

“पूर्व काल में महर्षि भरद्वाज अग्नि-होत्र करने के हेतु अन्य महर्षियों के साथ गंगा स्नान को गए (10), वहां पर उन्होंने सौंदर्य और यौवन से संपन्न धृताची अप्सरा को, जो यौवन के मद से मत्त हो झूम रही थी, नहा कर उठते हुए देखा (11)। नदी के तट पर उस का वस्त्र खिसक गया। नग्नावस्था में उसे देख कर महर्षि काम के वश हो गए (12)। बुद्धिमान भरद्वाज का मन उस रमणी में आसक्त हो गया और उन का वीर्य स्थलित हो गया। उस वीर्य को उन्होंने द्रोण (एक विशेष यश पात्र) में रख दिया। (13) बुद्धिमान महर्षि के

उस द्रोण से द्रोण का जन्म हुआ, जिन्होंने वेदों तथा वेदांगों का अध्ययन किया। (14)

इन जन्मकथाओं के अतिरिक्त विष्णु द्वारा जलंधर दैत्य की सतीसाध्वी स्त्री वृंदा का सतीत्व भंग तथा ब्रह्माजी का अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे कामांध हो कर भागना आदि कथाएं जानबूझ कर छोड़ ही देने योग्य हैं, क्योंकि प्राचीन युग में भगवान राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण को वसिष्ठ की उत्पत्ति की अत्यंत अश्लील कथा स्पष्टतः बता कर भी भले ही मर्यादा पुद्गलोत्तम बने रह सकें, पर आज तो इन कथाओं का स्पष्ट उल्लेख मर्यादा का भंग करना ही माना जाएगा।

इन कथाओं से इतना तो स्पष्ट प्रमाणित हो ही जाता है कि उस समय से आज तक नैतिकता की परिभाषा में कितना अधिक परिवर्तन हो गया है। उस समय बहुपतिक प्रथा, नियोग, कन्याओं को बलपूर्वक भगा ले जाना, स्त्रियों को बलपूर्वक इच्छापूर्ति करने के लिए विवश करना, सब जायज था। ऋषि समाज में भी, जो सब से अधिक आदर्श समाज था, ये सब प्रथाएं निर्बाध रूप से प्रचलित थीं।

किंतु आज पिछड़ी हुई जातियों में भी इन को निंदनीय और अमानवीय माना जाता है तथा इन में से अनेक के लिए तो राज्य व्यवस्था में कठोर दंड है। उद्दालक की पत्नी के साथ जो घटना उस समय हुई, यदि वह आज हुई होती, तो उद्दालक की पत्नी को बलपूर्वक खींच ले जाने वाले ब्राह्मण महोदय आसानी से सातआठ वर्षों के लिए जेल में बंद हो जाते। ऐसी स्थिति में समझ में नहीं आता कि प्राचीन संस्कृति की धूम क्यों मचाई जा रही है।

व्यभिचार का ज्वलंत प्रतीक : हमारा गौरवमय अतीत

धार्मिक विश्वासों के लिए इतना लिखना ही यथेष्ट होगा कि वेदकाल में जिस इंद्र की सब से अधिक महिमा थी,

वह आज इतना उपेक्षणीय हो गया है कि शायद समस्त भारतवर्ष में इंद्र का एक भी मंदिर शेष नहीं है। वेदों में जिस 'शिशन पूजा' का उपासना किया गया है तथा शिशन पूजा करने वालों को आर्यों का शत्रु बताया गया है, वही शिशन पूजा अब शिव-लिंग पूजा के रूप में हिंदू जाति के एक बड़े भाग में प्रचलित हो गई है। श्री रामकृष्ण गो. भंडारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वैष्णवविज्जम एंड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स' में अति विद्वत्तापूर्वक यह सिद्ध किया है कि वैदिककालीन आर्य शिशन पूजा करने वालों से अत्यंत घृणा करते थे, पर पीछे उन के वंशजों ने उस पूजा को अपना लिया।

इस के अतिरिक्त अथर्ववेद में जादूटोने से संबंधित मंत्रतंत्र भी हैं। जो लोग शुद्ध स्वदेशी के अभिमान के रोग से ग्रस्त हैं और विदेश की सुंदर से सुंदर और उपयोगी से उपयोगी प्रथाओं को भी विदेशी होने के कारण नहीं अपनाना चाहते तथा अपनी भाषा को विदेशी शब्दों से बिल्कुल पाक कर देना चाहते हैं या जिन्हें विदेशी शब्दों के उच्चारण से धर्मभ्रष्ट होने का भय रहता है। उन को 'भंडारकर स्मारक ग्रंथ' में वैदिक साहित्य के विद्वान और प्रसिद्ध स्वदेशाभिमान लोकाचार्य तिलक का वह लेख पढ़ना चाहिए, जिस में उन्होंने अथर्ववेद के जादूटोने से संबंधित मंत्रों पर बाबुल तथा खाल्दी प्रभाव होना सिद्ध किया है और अथर्व 5, 13 के सांप का विष उतारने के मंत्रों में आए हुए 'तैमात,' 'आलिगी,' 'बिलिगी उरुगूला,' 'ताबुव' आदि शब्दों को विदेशी ठहराया गया है।

अब सोचिए कि क्या यह संभव है कि हमारे यहां जो भिन्नभिन्न प्रकार की पूजाएं प्रचलित हो गई हैं, तथा वेदविरोधी शिवलिंग की पूजा प्रचलित हो गई, उसे समाप्त कर के पुनः इंद्र की पूजा आरंभ कराई जा सके या अन्य वैदिक देवताओं की पूजा का प्रचलन हो सके?

हमारी प्राचीन पूजा और उपासना की

विधियां भी इस संबंध में एक भारी समस्या उपस्थित कर देंगी। यद्यपि उन का संस्कृति से अति निकट का संबंध होता है, क्योंकि वे इहलोक और परलोक—दोनों के संबंध में हमारे विचारों और मान्यताओं का प्रतीक होती हैं।

सभी जानते हैं कि वेदकाल में पूजा-उपासना की एकमात्र विधि यज्ञ थी, जिन में देवताओं की तृप्ति आहुति या बलि दे कर की जाती थी। दूध, घी, अनाज, मांस और सोमरस (एक लता का मादकरस) इन सभी की आहुति देवताओं के लिए दी जाती थी।

महिमा अश्वमेध की

इतना ही नहीं, बल्कि अन्न से मांस को सदैव प्रधानता दी जाती थी। ऐसी अनुश्रुति है कि राजा वसु चंद्रौपरिचर के समय इस विषय पर बड़ा विवाद उठा। ऋषि निरे अन्न की आहुति देना चाहते थे, पर देवता बकरे की मांगते थे। वसु से फैसला मांगा गया। उस ने देवताओं के पक्ष में फैसला दिया, क्योंकि पुरानी पद्धति यही थी।

इन यज्ञों में एक विशेष यज्ञ अश्वमेध यज्ञ था, जिस की सर्वाधिक महिमा थी। उस यज्ञ की केवल एक प्रथा यहां दी जाती है।

यजुर्वेद, अध्याय 23 के 19 से 32 तक की संख्या के मंत्रों में अश्वमेध यज्ञ के यजमान की पत्नी तथा कन्याओं के लिए व्यवस्थाएं दी गई हैं, जिन में से एक 'अश्व शिशन मुपस्थे कुस्ते वृषा बाजी' इत्यादि मंत्र का भाष्य करते हुए महीधर लिखते हैं :

“प्रधान रानी (यजमान की पत्नी) स्वयं अश्व के गुप्तांग को आकर्षित कर के अपने गुप्तांग में स्थापित करे। उस घोड़े में देवता की कल्पना करे। घोड़ा मुझ में वीर्य की स्थापना करे। कैसा घोड़ा, वीर्य सिंचन करने वाला, इसी लिए उसे 'रेतोधः'

(वीर्य का पुनर्जागरण) से सिद्ध हुआ कि वह पूर्वकाल में प्रचलित थी और धर्मशास्त्र में उस का विधान है, न कोई वस्तु, शब्द प्रथा या पद्धति इसलिए त्याज्य हो जानी चाहिए कि वह नूतन है या विदेशी है।

जीवन या मृत्यु : चुनाव एक का

अश्वमेध के अतिरिक्त गोमेध और नरमेध का भी विधान है। नरमेध यज्ञ को ब्रिटिश सरकार ने 1845 के एक्ट 21 द्वारा दंडनीय घोषित कर दिया था और शायद कोई भी स्वदेशी सरकार उस को पुनः प्रचलित करने का साहस नहीं कर सकेगी।

फिर भी हमारे धर्मप्राण देश में प्रति वर्ष एकदो ऐसी घटनाएं तो प्रकाश में आ ही जाती हैं, जिन से सिद्ध हो जाता है कि नरमेध का सर्वलोप नहीं हो गया है। एक बार तो सुप्रसिद्ध पुरातत्व विशारद श्री हीरानंदजी शास्त्री भी बड़ी कठिनाई से नरमेध यज्ञ करने वालों के चंगुल से बच सके थे, जिस का रोमांचकारी विवरण उन्होंने 'विशाल भारत' में लिखा था।

इसी प्रकार और भी संकड़ों इस प्रकार के तथ्य दिए जा सकते हैं, जिन से यह सिद्ध हो सकता है कि प्राचीन काल की मान्यताओं और धर्म में तथा हमारी वर्तमान मान्यताओं और धर्म में कितना विरोध उपस्थित हो गया है।

इस में संदेह नहीं कि प्राचीन काल में अनेक ऐसी प्रथाएं और मान्यताएं भी थीं, जो आज भी हमारे लिए ग्रहणीय हैं, किंतु निवेदन केवल यह है कि किसी वस्तु या किसी बात को केवल इसलिए स्वीकार

समय के साथसाथ परिस्थितियों में परिवर्तन होते चलते हैं। उन के साथ ही समाज के नियम, उपनियम, आचारव्यवहार व्यवस्था आदि में भी परिवर्तन होता चलता है। जो राष्ट्र तुर्की आदि की भांति उबार हृदय से नूतनता को स्वीकार करता है, वही संजीव रहता है, और जो राष्ट्र कुचक्रियों के भूलभुलाव में पड़ कर अपनी प्राचीन संस्कृति और प्राचीन गौरव की झूठी दुहाई से मोहवश हो कर नूतनता का विरोध करता है, वह अफगानिस्तान की भांति पिछड़ जाता है।

प्राचीन अर्वाचीन धर्म मान्यताओं का विरोधाभास

हमारे देश भारत को आज निर्णय करना है कि वह तुर्की का अनुकरण करेगा या अफगानिस्तान का, क्योंकि दोनों के ही इतिहास और परिणाम आज हमारे सम्मुख हैं। हमारे देश की स्थिति भी आज वैसी ही है, जैसी कमालपाशा अतातुर्क के उत्थान के समय तुर्की की तथा अंगरेजों की दासता और प्रभाव से अपने देश को सर्वथा मुक्त करा लेने वाले महान सुधारक अमानुल्ला खां के समय अफगानिस्तान की थी। इस प्रकार हमें जीवन और मृत्यु में से एक को चुन लेना है। ●

सरिता मुक्ता के रिप्रिंट्स सैट

सेट नं. 1 : प्राचीन हिंदू संस्कृति, शंबूक वध, अतीत का मोह, पुरोहित-वाद, गौपूजा, हमारी धार्मिक सहिष्णुता, कृष्णतीर्ति : हमारा नैतिक पतन, ज्ञान की कसौटी पर परलोकवाद, राम का अंतर्द्वंद्व, राम का अंतर्द्वंद्व : आलोचनाओं व आपत्तियों का उत्तर, भारत में संस्कृति का ब्राह्मण नियंत्रित विस्तार, हिंदू धर्म, संस्कृत, भारतीय नारी की धार्मिक यात्रा, कर्ण, भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा, तुलसी और वेब, रामचरितमानस में ब्राह्मणशाही, युगोयुगों से शोषित भारतीय नारी, भ्रष्टाचार, रामचरितमानस में नारी, सत्यनारायण व्रत कथा, क्या नास्तिक मूर्ख हैं? गांधीजी का बलिदान, यज्ञोपवीत, जंत्र तंत्र मंत्र, कर्मयोग, गहड़ पुराण, ईश्वर, आत्मा और पाप, कितना महंगा धर्म, सरिता और हिंदू समाज.

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 2 : कितना महंगा धर्म : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, कितना महंगा धर्म (निर्णय), राम कथा व सीता चरित्र. सरिता और हिंदू समाज, तुलसी साहित्य : अनुवाहों की सफल नुमाइश के सिवा क्या है? तुलसी साहित्य : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, हिंदूओं के मंदिर कैसे हों? रावण, रामचरितमानस के अविवशनीय प्रसंग, रामचरितमानस के कुछ असंगत स्थल, श्रीकृष्ण, गीता : कर्मवाद की व्याख्या या कृष्ण का आत्म प्रचार, क्या कौमार्य-रक्षा दकियानुसी है? कृष्ण और राधा, श्रीमद्भागवत, भागवत और भूगोल, समाजवाद बनाम स्वतंत्रता, कामायनी, हिंदू विवाह पद्धति, पुत्रेष्टि यज्ञ, तुलसीदास और हिंदू समाज, हिंदी साहित्य का गलत इतिहास, धनुषयज्ञ, कृष्ण और गोपियां, हमारे देव मंवर, क्या समाजवाद अनिवार्य है? विवाह पूर्व यौन संबंध, श्रीकृष्ण : अपने जीवन की संख्या में, सताई गई नारी, कृष्ण और कुब्जा.

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 3 : तिपाही क्यों लड़ता है, प्रेम पत्र न लिखिए, डायरी न लिखिए, इसलाम और स्त्री, योगी अरविंद, गीता में अंतर्विरोध, गायत्री मंत्र, गायत्री मंत्र : आलोचना व आपत्तियों के उत्तर, ट्रेड यूनियन, संसद सदस्य श्री चांदर वाला केस : मुकदमे की काररवाई, सेशन जज का निर्णय, उच्च न्यायालय का निर्णय, सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय, घाटे वाले बालाजी, आखिरत की अटकलें, हिंदी साहित्य की बपोती, भीष्म, मुसलिम विवाह, भगवान श्री रजनीचर, महाभारत की ऐतिहासिकता, महाभारत की ऐतिहासिकता : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, रेंट प्रतियोगिता, वैज्ञानिक ज्ञान बनाम अध्यात्म ज्ञान, पूजोपति, नियोग, सरिता और हिंदू समाज.

मूल्य 5 रुपए

दिल्ली बुक कंपनी, एम-12, कनाट सरकस, नई दिल्ली-110001.

शंबूक वध

वेदव्यास

शूद्र के वध से छल, कपट, पाखंड, झूठी मर्यादा पर परदा!

भोर होते ही अयोध्या का राजप्रासाद वेदमंत्रों की मधुर ध्वनि से गूंज उठा। सीता त्याग के बाद आज पहली बार श्री राम के मुख पर वही पुरानी दीप्ति झलक रही थी। यज्ञशाला में ऋषिमुनियों और सगेसंबंधियों से घिरे हुए श्री राम का मुख कुंदन की कांति लिए चढ़ते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान था। यज्ञ के बाद मंगलाचरण और पुष्पवर्षा के मध्य चंदन तिलक लगाया गया। आज माता कौशल्या के हर्ष की कोई सीमा न थी। उन्होंने गद्गद कंठ से राम को आशीर्वाद दिया, “पुत्र, तुम्हारा अश्वमेध यज्ञ सफल हो। तुम युगयुग जीओ।” श्री राम ने माता के चरणों को छुआ और राजप्रासाद के सम्मुख एकत्रित प्रजा के सामने अश्वमेध यज्ञ की घोषणा करने के लिए चल पड़े।

सहसा गगनभेदी कातर ध्वनि से सारा राजप्रासाद कांप उठा। श्री राम के बढ़ते हुए पांव एकाएक रुक गए। श्री राम ने कड़क कर द्वारपाल से कहा, “इस शुभ अवसर पर यह करुण क्रंदन कैसा?”

“एक ब्राह्मण अपने पुत्र के मृत शरीर को उठाए, अपरिमित शोक से त्रस्त हो छाती पीटपीट कर बिलाप कर रहा है। उस का पुत्र अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हो गया है, महाराज, और वह आप को...”

“तुम रुक क्यों गए, द्वारपाल?”

“महाराज, वह क्षुब्ध हो कर अनर्गल बकवास कर रहा है। वह आप को अपने

पुत्र का हत्यारा घोषित कर रहा है, महाराज।”

पुत्र के हत्यारे

उपस्थित जनों ने सुना। सब स्तब्ध थे। श्री राम का मुख क्रोध से तमतमा उठा। उन्होंने एक बार अपने चारों ओर देखा। इस से पहले कि श्री राम का मुख खुलता, पुत्र के मृत शरीर को छाती से लगाए सैनिकों की विशाल भुजाओं में जकड़ा हुआ ब्राह्मण राम के सामने आ खड़ा हुआ। उस की आँखें स्थिर थीं और मुंह फेन से भरा हुआ था। उस ने एक बार श्री राम को सिर से पांव तक देखा और पुत्र के मृत शरीर को धरती पर रख कर चिल्ला उठा, “राम, तुम मेरे पुत्र के हत्यारे हो। आज तक पिता के जीवित रहते कभी भी पुत्र मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ था। तुम्हारे राज्य में पाप और अधर्म ऐसे पनप रहे हैं जैसे वर्षा ऋतु में धान के खेत। मैं ईश्वर को साक्षी मान कर कहता हूँ कि मैं ने मन, वचन, कर्म से चेतन अथवा अचेतन अवस्था में भी कभी कोई कार्य नहीं किया, जिस का दंड पुत्रशोक हो। ऐसी अनहोनी घटनाएं अधर्मी, पापी और सर्वथा अयोग्य राजा के राज्य में होती हैं। यह मृत्यु नहीं, हत्या है और इस के कारण हो तुम!” ब्राह्मण का कंठ रंध गया। क्षण भर के लिए उस ने स्तंभ का सहारा लिया और फिर विद्युत गति से पुत्र के मृत शरीर को उठा

कर राजप्रासाद से बाहर भाग गया। सारा जनसमूह निर्विलक्षण आश्चर्य से उसे देख रहा था। आँखों के सामने अंधेरा छा गया। उन की दशा उस वृक्ष के समान थी जो भयंकर झंझावात में स्थिर रहने का यत्न कर रहा हो, जिस की शाखाएँ पृथ्वी को छूना चाहती हों, तना धरती से उखड़ना चाहता हो और जड़ें उसे पाताल की ओर खींच रही हों।

महामुनि नारद आगे बढ़े। निस्तब्धता को भंग करते हुए उन्होंने गंभीरता से कहा, “राम, धर्मशास्त्रों के अध्ययन, तप और जप से मोक्ष लाभ करने का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों को है। सत्ययुग में ऐसी अनहोनी घटना कभी न घटी थी। तुम्हारे राज्य में निश्चय ही कोई पातकी शूद्र अपने दास धर्म को त्याग मोक्ष-सिद्धि के लिए तपस्या कर रहा है, राम।”

श्री राम ने सुना। क्षण भर पहले का मानसिक झंझावात लुप्त हो गया। उन्होंने इस बार कृतज्ञता से महामुनि नारद की ओर देखा और फिर शस्त्रों से सुसज्जित सेनापति की ओर देखते हुए ऊँचे स्वर में कहा, “सेनापति, चतुरंगिणी सेना तैयार करो। मुझे सारी प्रजा मर्यादापुरुषोत्तम राम कह कर पुकारती है। मुझे पाप और अधर्म का मर्दन करना है। सैनिकों से कह दो कि सूर्योदय से पहले ही हम अयोध्या से प्रस्थान कर देंगे।”

शूद्र तपस्वी की खोज

ध्वजा से सुशोभित स्वर्णरथ पर बैठे हुए श्री राम दूर तक फँले हुए हरेभरे पर्वतों की शोभा को निरख रहे थे। आंतरिक आनंद से उन का मुख कलियों के मध्य खिले हुए फूल के समान सुखद पवन के झोंकों से झूम रहा था। उन्होंने दूर गगनचुंबी धवल चोटी की ओर देखते हुए कहा, “सेनापति, ऐसा जान पड़ता है जैसे हम महामुनि नारद द्वारा बताए हुए प्रदेश में आ पहुँचे हैं।”

सेनापति ने एक बार अपने चारों ओर देखा, मानो समस्त दृश्य को अपने

नेत्रपट्टों में छिपा लेना चाहता हो। उस ने अचानक से जेब खोले और कहा, “महाराज, इन पर्वतों का सौंदर्य और शांत वनों की शोभा स्वर्ग के समान है, यहां तो राक्षसों का मन भी तापस जीवन व्यतीत करने को लालायित हो उठेगा। निश्चय ही महामुनि नारद को भ्रम हुआ है।”

कुछ पलों तक सब चुपचाप रहे। घोड़ों के पांवों के प्रहार और रथ के पहियों की गड़गड़ाहट के अतिरिक्त और ध्वनि सुनाई नहीं दे रही थी।

श्री राम ने हरेभरे पर्वत की गोद में फँले हुए क्षोपड़ों की ओर हाथ उठाते हुए कहा, “राजगुरु, वहां दूर सुंदर लतिकाओं और पुष्पों से ढकी हुई क्षोपड़ियों का झुंड कैसा है?”

“कोई ऋषि आश्रम होगा, महाराज,” राजगुरु वसिष्ठ ने उत्तर दिया।

“कैसा शांति का राज्य है! सारथि रथ रोको। सेनापति, ऋषि आश्रम में हमारे आगमन का समाचार पहुंचा दिया जाए। हम इस आश्रम के तपस्वियों के दर्शन करेंगे।”

श्री राम के आने का संदेश पा कर वृद्ध तपस्वियों की एक टोली अतिथिसत्कार के लिए आश्रम से आती हुई दिखाई दी। श्री राम रथ पर से उतर आए। गुरु बसिष्ठ तथा उच्च संनिक अधिकारियों के मध्य खड़े हो कर श्री राम ने तपस्वियों को प्रणाम किया और अति मुदु स्वर में कहा, “तपस्वियो, आप के आश्रम की शोभा अपूर्व है। मैं आश्रमवासियों तथा इस आश्रम के अधिष्ठाता के दर्शन करना चाहता हूँ।”

एक वृद्ध तपस्वी ने आगे बढ़ कर राम को आशीर्वाद दिया और कहा, “राजन, यह आश्रम महर्षि शंबूक का है। शंबूक चारों वेदों और धर्मशास्त्रों के प्रकांड पंडित हैं। हम सब उन्हीं की छत्रछाया में विद्या उपार्जन करते हैं।”

श्री राम प्रसन्नता से पग बढ़ाते हुए तपस्वियों के साथ शंबूक ऋषि के आश्रम की ओर चले। महर्षि शंबूक उस समय

श्री राम ने कहा, “तू ने शूद्र हो कर ब्राह्मण बनने की धृष्टता की है, तेरा अपराध अक्षम्य है।” शंबूक ने कहा, “मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि राम का इतना नैतिक पतन हो जाएगा और वह अपने कुकर्मों का फल दूसरों पर लाद कर राजदंड की आड़ में तपस्वियों के वध के लिए भी उद्यत हो जाएगा।”

ध्यानावस्था में थे। कोलाहल सुन कर शंबूक के नेत्र खुले।

श्री राम ने झट आगे बढ़ कर प्रणाम किया और कहा, “महर्षि, मैं दशरथ का पुत्र राम हूँ। आप के आश्रम की शोभा से प्रभावित हो कर मुझे आप के दर्शनों की अभिलाषा हुई। आप का वंश कौन सा है?”

शंबूक का आश्रम

शंबूक ने खड़े हो कर श्री राम को आशीर्वाद दिया और कहा, “राम, मेरा नाम शंबूक है। मैं शूद्र हूँ।”

इतना सुनते ही श्री राम की आंखों में डोरे खिंच गए, झुजाएँ फड़कने लगीं। श्री राम ने खड्ग पर हाथ रखते हुए कहा, “शूद्र, तेरे रक्त से प्यास बुझाने के लिए मेरे इस खड्ग ने देश का कोनाकोना छान डाला। तू ने शूद्र हो कर ब्राह्मण बनने की धृष्टता की है। तू ने मर्यादा का उल्लंघन किया है। तेरा अपराध अक्षम्य है,” और राम का लपलपाता हुआ खड्ग म्यान से बाहर निकल आया।

शंबूक ने निर्भीकता से सिर उठाया। उस के मुख पर अलौकिक तेज था। अधबुले सीप के समान नेत्र सहसा फँल गए। उस ने चकित हो कर पूछा, “कैसा अपराध, महाराज?”

श्री राम ने सिर ऊंचा उठा कर कहा, “सूत्र, तू ने निर्धारित धर्म की शृंखलाओं को तोड़ने का साहस किया है। तू ने परंपरा और समाज के विरुद्ध विद्रोह किया है। तू ने शूद्र का सेवा धर्म त्याग कर द्विज बनने का जघन्य पाप किया है। तेरे इस कुकर्म के कारण मेरे राज्य में ब्राह्मण पुत्र

अल्पायु में मृत्यु को प्राप्त हुआ है। तू ही ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु का कारण है। तू हत्यारा है, इसलिए राजदंड के अनुसार तू मृत्यु का भागी है।”

शंबूक ने सुना, उस का मुख रक्तवर्ण हो उठा और उस का क्रुश शरीर बेल की भांति कांप उठा। उस के होठ प्रांघी के सूखे पत्तों के समान फड़फड़ा रहे थे। शंबूक ने सागर के समान गंभीर गर्जन करते हुए कहा, “राम, तनिक मन दर्पण में झाँक कर देखो—आज से कुछ वर्ष पहले की आकृति और तुम्हारी आज की आकृति में कितना महान अंतर है। दंभ और अज्ञान के अंधकार को कुछ क्षणों के लिए त्याग कर देखो—तुम्हारी आकृति कितनी भ्रष्ट हो गई है। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि देवताओं द्वारा मान्य दशरथपुत्र राम का इतना नैतिक पतन हो जाएगा और वह अपने कुकर्मों का फल दूसरों पर लाद कर राजदंड की आड़ में तपस्वियों के वध के लिए भी उद्यत हो जाएगा। ब्राह्मण बालक की अल्पायु में मृत्यु का कारण मैं नहीं, तुम स्वयं हो, तुम्हारे अपने पापकर्म हैं।”

मेरे पाप कर्म!

श्री राम का ऊंचा उठा हुआ खड्ग शनःशनः नीचे आ गया। उन्होंने वस्तु नेत्रों से राजगुरु वसिष्ठ और पास खड़े हुए ऋषि आश्रम के तपस्वियों की ओर देखा। उन के मुख से अनायास निकल पड़ा, “मेरे पापकर्म?”

शंबूक ने एक बार मुनि वसिष्ठ की ओर देखा और स्वाभिमान में सिर ऊंचा उठा कर कहा, “हां, तुम्हारे पापकर्म। धर्म-

कर्म को त्याग कर तुम्हारे राजप्रासाद के स्वादिष्ट भोजन पर पलने वाले ये ब्राह्मण और ऋषिजन तुम्हें क्या बताएंगे? ये तो अचेतन वाद्यों के समान हैं—तुम रागों को छेड़ते हो और ये तुम्हारी इच्छानुसार राग अलापते हैं।”

इस असह्य प्रहार से वसिष्ठ क्रोधित हो उठे। परंतु शंबूक का मुख आत्मबल के अलौकिक तेज से चमक रहा था। उस ने श्री राम की ओर एकटक देखते हुए कहा, “राम, तुम उस सर्प की भांति हो, जो धोखे से पथिक को इस ले। तुम ने बालि और सुग्रीव को मल्ल युद्ध में व्यस्त रख कर सात वृक्षों की ओट से बाण चला कर बालि का वध कर डाला। तुम ने क्षत्रिय हो कर क्षात्र धर्म का त्याग किया, परंतु उस समय किसी ब्राह्मण का पुत्र न मरा, और आज वेदशास्त्रों के अध्ययन, समाज के सड़े हुए अंग की सेवाशुश्रूषा तथा पशुओं से भी अधिक घृणित शूद्रों के उत्थान की चेष्टा को अपराध घोषित कर तुम मेरा वध करने के लिए उद्यत हो रहे हो?”

सब ने सुना। एक क्षण तक सब अवाक् खड़े रह गए। परंतु महाजानी ऋषि वसिष्ठ आगे बढ़े और चोट खाए हुए क्रुद्ध सर्प की भांति फुंकारते हुए बोले, “शूद्र, कनिष्ठ भाई की पत्नी पुत्री के समान होती है। बालि ने पशुबल का आश्रय ले कर छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी के साथ अनुचित संबंध स्थापित किया। शिष्टता और भद्रता की सीमा के उल्लंघन का फल श्री राम ने उसे दिया।”

शंबूक के होंठों पर परिहास की रेखाएं खिंच गईं। उस ने वसिष्ठ की ओर पैनी आंखों से देखते हुए पूछा, “और ज्येष्ठ भाई की पत्नी?”

वसिष्ठ ने श्ट उत्तर दिया, “माता के समान।”

बड़े भाई का वध

शंबूक ने गर्व से सिर उठा कर कहा, “राम द्वारा बड़े भाई का वध करवा कर जब सुग्रीव बड़े भाई की पत्नी को भोग-

विलास की साक्षी बन कर अपने भवन में ले आया तब तुम्हारी मर्यादा कहां थी? तब पैने बाणों से भरा हुआ तुम्हारा तरकश कहां था?” क्षण भर के लिए शंबूक चुप हो गया। उस ने श्री राम की निश्चल आंखों में आंखें डाल कर कहा, “सत्य तो यह है कि तुम दोनों की पत्नियों का हरण हो चुका था। तुम दोनों एकदूसरे के दुख को समझते थे। तुम दोनों का ध्येय एक था। और फिर महाबली बालि का सामना करना तुम्हारे बस की बात नहीं थी। तुम ने नीति का सहारा लिया और मर्यादा की आड़ ले कर तुम ने बाण चला दिया। कौन जानता था कि बराबर के युद्ध में भाग्य-लक्ष्मी किस की वरती। राम, तुम ने पाप को पुण्य, अधर्म को धर्म कहा।”

“अपनी विष उगलती हुई जिह्वा को रोको, शंबूक, अन्यथा मेरा यह खड्ग वज्र के समान गिर कर तुम्हारा अंत कर देगा,” राम ने क्रोध से कांपते हुए कहा।

“अपने अपराधों को सुनने के लिए बड़ा धैर्य चाहिए, राजन। तुम सत्य को झूठे तर्क से नहीं कुचल सकते। तुम ने अपने पापों की कालिमा को हमेशा रक्त से धोया है। तुम्हारे लिए धर्म, अधर्म और मर्यादा आदि केवल पत्थर की कोरी शिलाओं के समान हैं, जिन्हें तुम ने अपनी बुद्धि की पैनी छेनी और राजदंड के भारी-भरकम हथौड़े से अपने स्वार्थहित मन-चाही आकृतियों में गढ़ कर भोली प्रजा के सामने प्रदर्शित कर दिया है। तुम ने प्रजा की आड़ ले कर एक धोबी के कहने पर अपनी साध्वी पत्नी सीता को त्याग दिया।”

श्री राम ने सुना और गर्व से सिर ऊंचा उठा कर कहा, “मैं अपने हर काम को बुद्धि की कसौटी पर कस कर निश्चय करता हूं। भावना से कर्तव्य सदा ऊंचा होता है, शूद्र।”

निजी स्वार्थ

शंबूक के मुख पर परिहास की रेखाएं खिंच गईं। उस ने अधबुले नेत्रों से श्री राम

की ओर देखा. शंबूक के हाँठ खुले और एक दबी हुई आवाज़ निकली, “राज-पुत्र तो छल न करो. यों कहो कि मैं हर काम को निजी स्वार्थ की कसौटी पर कसता हूँ. तुम ने अपनी गर्भवती पत्नी के प्रति पति-धर्म को भावना कह कर और एक क्रोधांध मूर्ख के मुख से निकले हुए अविवेकपूर्ण शब्दों के पालन को कर्तव्य कह कर संबंधियों, मित्रों और गुरुजनों की आँखों में धूल झाँक दी. यदि राजा के नाते प्रजा को संतुष्ट रखना तुम्हारा कर्तव्य है, पत्नी और पुत्र के प्रति तुम्हारा धर्म भावना है तो जब भरत प्रजाजनों, मित्रों और संबंधियों को संग ले कर तुम्हें वन से लौटा लाने के लिए तुम्हारे पास गए, उस समय प्रजा की अनुनयविनय को तुम ने यह कह कर क्यों ठुकरा दिया कि पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा पहला कर्तव्य है और मित्रों, संबंधियों तथा प्रजा की इच्छा सब कोरी भावनाएं हैं?”

“वह धोबी का आक्षेप नहीं था, शूद्र. वह मेरे निजी निश्चय के विरुद्ध प्रजा के मन में उठती हुई अशांति का संकेत था.”

बाण ठीक लक्ष्य पर लगा देख कर शंबूक ने गंभीर हो कर कहा, “वह प्रजा के मन की अशांति नहीं थी, राम. वह तुम्हारे संकुचित और अंधकारमय मन का भ्रम था. रावण के राजप्रासादों में रहने के कारण सीता की अग्निपरीक्षा ली गई. तुम ने सीता को ग्रहण करने से इनकार कर दिया. हजारों मनुष्यों के बीच तुम ने सीता को अपमानित किया और कहा कि तुम ने एक तुच्छ नारी को प्राप्त करने के लिए घने जंगलों, नदियों और सागर को पार नहीं किया, अपितु अपने अपमान का प्रति-शोध लेने के लिए यह सब कुछ किया था. उस समय तुम्हारे विरुद्ध एक संगठित आवाज उठी. तुम झट समझ गए. ऋषि-मुनियों और देवताओं ने एक आवाज से सीता को अमृत के समान पवित्र माना. तुम ने यश लाभ के लिए सीता को ग्रहण तो कर लिया, परंतु तुम्हारे मन में संशय का बीज तुम्हारी कमजोरियों की खाद पा

कर प्रतिदिन फूलनेफूलने लगा और एक दिन वह आवाज बोलने लगी. तुम ने कहा कि उस की सघन शाखाओं ने साधारण ज्ञान के प्रकाश को भी ढक लिया. तुम बहाना ढूँढ़ने लगे और पहला अवसर पाते ही प्रजा की आड़ ले कर तुम ने अपनी गर्भवती स्त्री को धोखे से हिंसक पशुओं की दया पर अपरिचित घने वन में छोड़वा दिया. तुम ने जब पतिधर्म का त्याग किया, उस समय किसी ब्राह्मण का पुत्र अल्पायु में न मरा और आज युगोंयुगों से दासता की शृंखलाओं में जकड़े हुए इन शूद्र कहे जाने वाले जनों के अधकारमय जीवन को आलोकित करने के प्रयास को तुम ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु का कारण बता रहे हो! राम, तुम तो साधारण उदारता से भी शन्य हो.”

“मुख बंद करो, शूद्र,” श्री राम ने घायल सिंह की भांति गर्जना करते हुए कहा. श्री राम के नेत्र सुलगते हुए अंगारों की भांति चमक रहे थे. विद्युत के समान चमकता हुआ खड्ग म्यान के बाहर निकल आया.

शंबूक श्री राम के सामने आ कर खड़ा हो गया. खड्ग की तीखी नोक उस के हृदयस्थल को छू रही थी. उस ने निडरता से कहा, “राम, तुम्हारे राजसुख भोगते और जीवित रहते तुम्हारे दो पुत्र अनाथ बालकों की तरह दूसरों की दया पर पल रहे हैं. क्या तुम अपनी संतान के प्रति धर्म का पालन कर रहे हो? राम, तुम ने क्षत्रिय हो कर क्षात्र धर्म का पालन नहीं किया. गृहस्थ हो कर गार्हस्थ्य धर्म को त्याग दिया. पिता हो कर तुम संतान के प्रति अपने धर्म से विमुख हो गए—परंतु किसी ब्राह्मण पुत्र की अल्पायु में मृत्यु नहीं हुई और आज...”

श्री राम की भुजाएं तन गईं. उन की आँखों में उन्माद झलक रहा था. वह क्षुब्ध हो कर एकाएक चिल्ला उठे, “यदि एक शब्द भी तुम्हारे मुख से और निकला तो...”

भूठी मर्यादा

“मुझे धमकाने की चेष्टा मत करो,

CC-0. Agamhigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राम. मुझे मृत्यु का भय नहीं है, यश और स्वतंत्रता का लघु जीवन दासता और अपमान से भरी हुई दीर्घ आयु से लाख बार अधिक सुखकर है. तुम्हारे खड्ग द्वारा मेरा वध मुझे सीधा स्वर्ग ले जाएगा. इसलिए नहीं कि तुम मर्यादापुरुषोत्तम राम हो बल्कि इसलिए कि मैं सत्य पर हूँ और तुम अधर्म, पाखंड, झूठी मर्यादा और राजदंड के बल पर भोलेभाले पशुपक्षियों का शिकार खेलने वाले एक व्याध हो.”

श्री राम का खड्ग शंबूक के हृदयस्थल को बेधता हुआ उस के कृश शरीर के दूसरी ओर निकल गया. श्री राम ने झटका दे कर रक्तरंजित खड्ग को खींच लिया और फिर सिर से ऊंचा उठा कर

एक और भरपूर हाथ शब्द के लड़कते हुए शरीर पर मारा.

पलक झपकते ही शंबूक का सिर धड़ से अलग जा गिरा. आश्रमवासियों के नेत्र शंबूक के धूलिधूसरित सिर पर गड़े हुए थे. मरघट के सन्नाटे को भंग करता हुआ महामुनि वसिष्ठ के कंठ से ‘महाबली राम की जय!’ का घोष ऊंचे पर्वतों से टकरा कर प्रतिध्वनित हो उठा. एकाएक गगन-भेदी आवाजें उठीं मानो फटे हुए झांझ पर किसी राक्षस ने दनादन गदा प्रहार किया हो. श्री राम के सैनिक चिल्ला उठे, “अयोध्यापति राम की जय! मर्यादा पुरुषोत्तम राम की जय! महाबली राम की जय!”

७०

सरिता-मुक्ता के महत्त्वपूर्ण रिप्रिंट

पहला सैट	दर
लगभग 30 रिप्रिंट	5.00
दूसरा सैट	
लगभग 30 रिप्रिंट	5.00
तीसरा सैट	
लगभग 30 रिप्रिंट	5.00

दिल्ली बुक कंपनी, एम-12, कनाब सरकस, नई दिल्ली-110001.

अतीत का मोह

● मन्मथनाथ गुप्त

अतीत का मोह ही सड़ांध और जड़ता को जन्म देता है

अतीत की वस्तुओं और व्यक्तियों की पूजा कुछ लोगों में इतनी मज्जागत हो गई है कि कोई और बात उन के दिमाग में नहीं घुसती। उन के निकट कोई स्वर्णयुग या सत्ययुग है, तो वह भूतकाल में ही है। इसी कल्पित स्वर्णयुग की कसौटी पर वे वर्तमान, यहां तक कि भविष्य को भी कूतते रहते हैं।

यह बात सच है कि हम चाहें या न चाहें एक हद तक अतीत हमारे साथ है, और हम कितना भी प्रयत्न करें, उसे संपूर्ण रूप से हटा नहीं सकते। वह तो हमारी धमनियों में रक्त के रूप में प्रवाहित है। मैं तो यहां तक समझता हूं कि सब प्रकार से अतीत से छुटकारा पा लेना या उस से मुक्त हो जाना न तो हमारा ध्येय है, और न हो सकता है। मनुष्य रूप में हमारी श्रेष्ठता यही है कि हम अतीत की अभिज्ञताओं से लाभान्वित हो सकते हैं, जब कि इतर प्राणी नहीं हो सकते।

अतीत को अतीत समझते हैं

हमारे ज्ञान, विज्ञान के किसी भी अंश को लिया जाए, तो हमें ज्ञात होगा कि भूतकाल के प्रयोगों, कार्यों, घटनाओं पर निर्माण करने की शक्ति में हमारा बड़प्पन निहित है। एक पुष्ट ज्ञान के सूत्र को जहां छोड़ जाती है, यदि अगली पुष्ट उस सूत्र को वहीं से आगे ले कर जाने

की सामर्थ्य नहीं रखती, तो आज हम नियांडरथाल के मनुष्य से कुछ उन्नत न होते। इसलिए जब यह कहा जा रहा है कि हम अतीत के दास नहीं रहना चाहते, तो इस का केवल इतना ही अर्थ है कि हम अतीत को अतीत समझते हैं, और उस पर आगे चलने, प्रगति करने, उन्नति करने का हौसला रखते हैं।

हम में महत्तर संभावनाएं हैं

जब देखो तब रामायण, महाभारत, वेद की हांकना अच्छा नहीं मालूम होता। अवश्य ही हम इन महान ग्रंथों की कद्र को अच्छी तरह से समझते हैं। वे हमारे इतिहास के अविच्छेद्य अंग हैं। हम किसी भी प्रकार से उन के महत्व को अस्वीकार नहीं करते, पर जब हमें प्रकारांतर से यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि जो कुछ भी उत्कर्ष था, वह पहले के युगों में था और अब हम कुछ नहीं हैं, तो हमें इस पर आपत्ति होती है। हमारा कहना यह है कि हमारे पूर्वज महान थे, पर हम में महत्तर संभावनाएं हैं।

यह जो विचारशैली है, जिस में यह समझा जाता है कि हमें किसी अतीत युग के विचारों तथा व्यवस्थाओं से परिचालित होना चाहिए, सर्वथा वर्जनीय है। महात्मा गांधी ने रामराज्य के रूप में जो आदर्श रखा है, उस के गुणदोष के विचार का

स्थल यह नहीं है, पर इस में संदेह नहीं है। भलाइयां भी हैं, बराइयां भी हैं, आत्मखंडन भी है और यथेष्ट कमजोरियां भी हैं। एक युग विशेष को अनुकरणीय, माननीय तथा ध्येय के रूप में रखा है। प्रत्येक उच्च आदर्श के लिए किसी न किसी प्रकार के 'यूटोपिया' की कल्पना आवश्यक समझी गई है।

रामराज्य का यूटोपिया

रामराज्य गांधीवाद का 'यूटोपिया' है। हमें दो प्रधान कारणों से इस पर आपत्ति है। पहला कारण तो यह है कि अतीत के एक ऐतिहासिक युग को हमारा ध्येय या आदर्श बताया गया है। दूसरे शब्दों में ऐसा आदर्श रखने का तात्पर्य यह है कि विकासवाद के सर्वमान्य सिद्धांत को मान्यता नहीं दी जा रही है। किसी भी रूप में यह कल्पना करना कि हजारों वर्ष पहले मनुष्य जाति अब से अच्छी थी या अच्छी अवस्था में थी, यह प्रकट करता है, मानो इस बीच में हमारी कोई प्रगति हुई ही नहीं। हमें रामराज्य के 'यूटोपिया' पर दूसरी आपत्ति जिस कारण से है, वह बहुत ही सरल है। वृ आपत्ति यह है कि जिस रूप में रामराज्य बताया जाता है, उस रूप में रामराज्य का इतिहास में कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय प्राचीन साहित्य का क्लृप्त ग जानने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि ऋग्वेदिक युग में ही यहां अच्छी तरह वर्ग समाज का उदय हो चुका था। इस कारण वर्ग समाज की जो भी विशेषताएं थीं, उस युग में उन का अस्तित्व था। स्वयं वाल्मीकि ने रामराज्य का जो चित्र खींचा है, वह अन्य राजाओं के मुकाबले में कुछ अधिक प्रशंसात्मक नहीं है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोई अधार्मिक विचारों के व्यक्ति नहीं थे उन्होंने संस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। वह राम के चरित्र के विषय में लिखते हैं :

"युद्धकांड तक रामायण में राम का जो चरित्र दृष्टिगोचर होता है, उस में

यद्यपि राम प्रधान नायक हैं फिर भी श्रेष्ठता के किसी कालप्रचलित बंधबंधाए नियम के अनुसार उन्हें अस्वाभाविक रूप से सुसंगत कर के पेश नहीं किया गया है, अर्थात् किसी एक शास्त्रीय मत के त्रुटिहीन प्रमाण के रूप में उन्हें पाठकों की अदालत में गवाह बना कर खड़ा नहीं किया है। पितृ सत्य की रक्षा के लिए उत्साह के कारण उन के पिता का जो प्राणनाश हुआ, वह भले ही शास्त्रीय रूप से समर्थन योग्य बताया जाए, पर बालि का वध किस नीति से उचित है? इस के बाद विशेष उपलक्ष्य पर रामचंद्र ने सीता के संबंध में लक्ष्मण पर जिस वक्रोक्ति का प्रयोग किया था, उस में भी श्रेष्ठता का आदर्श कायम नहीं रहा। रामायण के कवि ने किसी एक मत की संगति के तर्कों को ले कर राम के चरित्र का निर्माण नहीं किया, यानी वह चरित्र स्वाभाविक है, वह चरित्र साहित्य का है, पर वह चरित्र वकालत का नहीं है।"

प्राचीन इतिहास पर नाज है

पर रामराज्य की कल्पना में राम के चरित्र तथा राम के राज्यशासन को एक मतविशेष की वकालत का साधन बनाने की चेष्टा की गई है और यह गलत है।

अब हम अपने मौलिक विषय पर लौटते हैं। हमें अपने पूर्व पुरुषों पर गौरव है, हमें अपने प्राचीन साहित्य पर नाज है, पर इस रूप में नहीं कि हम उसी को भविष्य का एकमात्र पाथेय बनाएं। न तो हमारे पूर्व पुरुषों ने ही ऐसा किया, और यदि हम प्रगति चाहते हैं, तो हम भी ऐसा नहीं कर सकते। हम रामराज्य, मुहम्मदराज्य या जो भी राज्य हो, उस से सबक लेने के लिए तैयार हैं, पर उस की बुतपरस्ती करना हमारे वश का नहीं है।

यदि हम अपने भूतकाल की तरफ

जरा भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो हमें यह शक्ति होनी चाहिए कि हमें जिन विचारों, संस्थाओं तथा रूढ़ियों को शाश्वत और चिरंतन समझते आ रहे हैं, वे शाश्वत नहीं हैं। इतिहास के एक विशेष सोपान में उन की उत्पत्ति हुई और इसलिए यदि इतिहास के किसी अगले सोपान में उन का विलय हो, तो हमें उस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक विचार तथा संस्था का एक ऐतिहासिक तकाजा होता है और उस के बाद उस का विलुप्त हो जाना स्वाभाविक है। जब ऐसा विलोप सामने आए, तो उस पर आंसू बहाबहा कर रोने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वैदिक युग

एक बहुत ही शाश्वत समझे जाने वाले विचार को लिया जाए। हम नीति या सदाचार का नाम सुनते ही सेक्स या यौन सदाचार की बात सोचने लगते हैं, यद्यपि सच तो यह है कि यौन सदाचार का एक अंग मात्र है। इस क्षेत्र में आज जो मान्यताएं हैं, वे हमेशा से नहीं हैं, और आज भी सब देशों में उन का रूप एक नहीं है। अति आदिम युग में विवाह प्रथा नहीं थी। तब मातृगमन, पितृगमन, भगिनीगमन, भ्रातृगमन आदि सभ्यता थी। ऋग्वैदिक युग में हम मातृगमन व पितृगमन युग से आगे बढ़ चुके थे, पर ऋग्वेद में सगी भाई और सगी बहन के विवाह के बहुत से प्रमाण मौजूद हैं। अभी भी हिंदू तथा मुसलमानों में बहुपत्नीत्व प्रथा जारी है। सुधारक उसे बंद नहीं कर पाए। हमारे पुरुषप्रधान समाजों में अब स्त्रियों और पुरुषों के लिए यौन सदाचार के भिन्नभिन्न मानदंड रखे गए हैं। इसलिए नीति तथा सदाचार की धारणा, जिसे लोग शाश्वत समझते हैं, कतई शाश्वत नहीं है—यह स्पष्ट है। उत्पादन पद्धति में स्त्री के महत्त्व में वृद्धि या कमी के साथसाथ यौन सदाचार का शिकंजा उस पर कड़ा या नरम किया गया है।

एक अन्य शाश्वत विचारधारा को लिया जाए। यद्यपि सभी भारतीय धर्मों में आत्मा का स्थान नहीं है, पर भारत में उत्पन्न सब धर्मों में जन्मांतरवाद एक ऐसा विचार है, जो सर्वमान्य है। आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी किस प्रकार से बौद्ध और जैन कर्म को ही जन्मांतरवाद का कारणीभूत समझते हैं, इस की यहां पर व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

सब यही समझते हैं कि जन्मांतरवाद की यह धारणा बहुत ही प्राचीन, यहां तक कि शाश्वत है। पर ऐसी कोई बात है नहीं। ऋग्वेद में जन्मांतरवाद का कोई उल्लेख नहीं है।

विटरनीट्ज का कहना है : “आत्मा की पुनर्जन्म प्राप्ति तथा पुनर्जन्म संबंधी जो दुःखात्मक विश्वास है, और जो विश्वास बाद की सदियों के दार्शनिक विचारों पर संपूर्ण रूप से नियंत्रण सा करता है, ऋग्वेद में उस का कहीं भी पता नहीं मिलता।” विटरनीट्ज इस से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बाद के भारतीय साहित्य तथा अति प्राचीन वैदिक साहित्य के अंतर्गत विचार इसी लिए बिल्कुल भिन्न हैं।

परलोक की चिंता नहीं

हिंदू धर्म का इतिहास तो बहुत बड़े परिवर्तनों से भरा पड़ा है। वेदों में जिस धर्म का प्रतिपादन है, उसे प्राकृतिक धर्म कहा गया है। उस युग में आर्यों को परलोक की चिंता नहीं थी। वे इहलोक के सुख, समृद्धि, युद्ध में विजय, रोग से मुक्ति, शत्रुओं के विनाश आदि के लिए विभिन्न देवताओं से प्रार्थना करते थे। इन देवताओं के साथ आर्यों का संबंध बहुत कुछ लेन-देनमूलक है, यानी ऐसा कि मैं तुम्हें सोम-रस पिलाता हूं, तुम्हारे लिए यज्ञ में आहुति देता हूं, तुम हमारे लिए यह करो, वह करो इत्यादि। इस समय तक जीवन में पारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता नहीं हुई थी।

कालक्रम से ही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठानमूलक हो गया। इसी के विरुद्ध विद्रोह में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध आदि मतों की उत्पत्ति हुई। जहां पहले वैदिक धर्म में आत्मतृप्ति की भावना थी, वहां बाद में आत्मविलोप की भावना का प्रचार हुआ। मनुस्मृति तथा गृह्य सूत्रों का धर्म बिल्कुल ही प्रतिक्रियावादी हो गया। खुल्लमखुल्ला वर्ग पक्षपात शास्त्रीय हो गया। यह स्मृतियों तथा सूत्रों में वर्णित समाज व्यवस्था से ज्ञात होता है। आश्चर्य होता है कि डाक्टर भगवानदास आदि हिंदू स्मृतियों के प्रशंसक किस प्रकार इन बातों की व्याख्या करेंगे कि इन कथित आदर्श स्मृतियों तथा सूत्रों में एक ही अपराध के लिए शूद्र और ब्राह्मण की सजाओं में आकाशपाताल का अंतर है, उदाहरणार्थ, यदि शूद्र ब्राह्मणी पर बलात्कार करे, तो उस के लिए प्राणदंड का विधान है, पर यदि ब्राह्मण शूद्रा पर करे, तो उस के लिए बहुत लघु वंड है।

वीर पूजा

इसी लिए मेरा यह कहना है कि अतीत को हम आदर्श के रूप में नहीं रख सकते। अन्वेषणों से तो यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक देश में जो ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति हुई, उस के पीछे वीर पूजा की भावना थी। हमारे देश में जहां राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ऐतिहासिक व्यक्ति अवतार के रूप में मान लिए गए, इस धारणा को बहुत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। कच्छ, मच्छ, वराह आदि अवतार पशु प्रतीक पूजा के ही रूप हैं। कई बार दोदो चारचार कबीलों के देवता एक हो गए हैं। एक का मुंड ले लिया गया, तो दूसरे का धड़ या अन्य अंग। इसी प्रकार से गणेश आदि देवताओं की उत्पत्ति हुई।

अतीत के संबंध में जानकारी प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक है। सच तो यह

है कि जब तक हम अतीत को जान नहीं लेते, तब तक भविष्य का निर्माण नहीं कर सकते। हमें अपने अतीत को जानना चाहिए, पर इसलिए नहीं कि हम उसी को प्रमाण मान लें, और उसी के अनुकरण में अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझें, बल्कि इसलिए कि हमें उस पर निर्माण करना है। जो स्थापित नींव को अच्छी तरह नहीं जानेगा, वह उस पर अट्टालिका का निर्माण कैसे करेगा?

अब हम संक्षेप में यह बतला दें कि अतीत के अध्ययन से हम किन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। जैसा कि हम बता चुके हैं, सब से पहला निष्कर्ष तो यह है कि अमीबा के जीवन से ले कर बीसवीं सदी तक कोई भी सोपान, विचार या स्था स्थायी नहीं रही। बराबर परिवर्तन होते रहे हैं।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि यद्यपि परिवर्तन होते रहे, पर निरंतर प्रगति होती रही है। यह प्रगति केवल बाह्य नहीं, बल्कि आभ्यंतरिक भी रही है। अमीबा के शरीर से उन्नति करतेकरते जैसे हमें बीसवीं सदी के मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार से अमीबा से उन्नति करतेकरते हमें नियांडरथाल के मनुष्य का और फिर उस से उन्नति करतेकरते आइंस्टाइन का मन प्राप्त हुआ।

इसी से तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रगति को सामने रखते हुए हमें किसी भी परिवर्तन से घबराने की जरूरत नहीं है।

इन्हीं क्रांतिकारी दृष्टिकोणों को ले कर हमें अतीत की तरफ दृष्टिपात करना चाहिए, और तीरक्षीरविवेक से काम ले कर प्रगति के पथ पर अकृंठित हो कर आगे बढ़ना चाहिए। हमें न तो बाबा वाक्य को प्रमाण मान कर ठिठकना चाहिए, न रूढ़ियों से घबराना चाहिए। रवींद्रनाथ की भाषा में हमें सड़गलों को कुचल कर उन्हें आघातों से जगा कर, अपने पथ का निर्माण करना चाहिए।

पुरोहितवाद

रतनलाल बंसल

प्रत्येक देश की उन्नति में बाधक

प्रत्येक देश की उन्नति और प्रगति की सबसे बड़ी बाधा उस देश का पुरोहित समाज रहा है। हमारे देश के सर्वतोमुखी पतन का मुख्य कारण भी यही है और आज की क्रांति एवं सुधार की प्रत्येक चेष्टा को विफल कर देने के जो प्रयास चल रहे हैं, उन में भी इसी पुरोहित समाज की प्रधानता दृष्टिगत होती है।

पुरोहित समाज उस युग की देन है, जब मानव प्राकृतिक शक्तियों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ था। तत्कालीन मानव देखता कि अभी तो कंसी भीषण गरमी पड़ रही थी और अब देखते ही देखते आकाश-मंडल पर ऐसे कालेकाले मेघों को कौन ले आया और किस ने ऐसी ठंडी एवं मनोहर वर्षा प्रारंभ कर दी। इन मानवों में जो अधिक कल्पनाशील थे, उन्होंने इन शक्तियों की स्तुति कर के उन को प्रसन्न रखने का प्रयास किया। फिर इस के लिए भांतिभांति की पद्धतियाँ भी बनीं और सूर्य से ले कर वृक्षों तक की पूजा प्रारंभ हो गई।

शनैःशनैः ऐसे व्यक्तियों का एक समाज बन गया, जो इस प्रकार के कार्य में अधिक रुचि रखते थे। वे लोग इस विषय के विशेषज्ञ माने जाने लगे और शेष व्यक्ति उन के ही बनाए हुए विधिविधानों से ऐसे कार्यों को संपन्न करने लगे।

इस के पश्चात् इन विशेषज्ञ समझे जाने वाले व्यक्तियों को दानदक्षिणा के रूप में कुछ पारिश्रमिक भी मिलने लगा और

बाद में यही कार्य उन की जीविका का एकमात्र आधार हो गया। हमारे देश में ऐसे लोगों को ब्राह्मण की संज्ञा मिली, इसी लिए हमारे यहां ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद समानार्थक शब्द हैं। यद्यपि सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं होते, लेकिन सभी पुरोहित ब्राह्मण अवश्य होते हैं।

आज हमारे ग्रामों में ओझा और सयानों की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है, लगभग ऐसे ही किसी समय हमारे समाज में पुरोहितों की उत्पत्ति हुई थी। सयाने और ओझा किसी बेर, पीपल या ऐसे ही वृक्ष विशेष पर पहले भूत आदि की कल्पना करते हैं और फिर उसे सिद्ध कर लेने का प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकार पुरोहितों ने भी प्राकृतिक आपत्तियों को बड़ी आपत्ति माना और मनवाया और उन को सिद्ध करने का प्रदर्शन किया।

आडंबर : प्रभुत्व के लिए

इस के पश्चात् ढोंग और मिथ्या आडंबर का जो जाल बुनना प्रारंभ किया, उस में नए नए फंदे लगाने का कार्य आज भी चल रहा है, यद्यपि बीचबीच में वह जाल काफी कटफट चुका है।

हमारे देश में पुरोहितवाद की मुख्य सहायिका जन्मजात वर्ण व्यवस्था है। इसे जन्म ही इस लिए बिया गया, जिस से ब्राह्मण वर्ग के विशेष अधिकार सुरक्षित

रहें. प्रारंभ में वे भी समाज में बंधन की ही प्रशिक्षण पाते, चाहे, इसी षड्यंत्र के फलस्वरूप जन्मजात वर्ण व्यवस्था की नींव पड़ी. इस के लिए आवश्यक था कि समाज के संगठन को ऐसा द्वेषपूर्ण बना दिया जाए, जिस से वे ब्राह्मणों के इस षड्यंत्र का विरोध न कर सकें. परिणाम-स्वरूप ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से एक समझौता किया. ब्राह्मणों ने कहा, 'राजपाट हमें नहीं चाहिए. इतना ही नहीं, राजपाट सदैव क्षत्रियों के ही पास रहे—इस के लिए हम सदैव प्रयत्नशील रहेंगे. हमें तो केवल इतना चाहिए कि धार्मिक विधि-विधान हमारे ही नियंत्रण में रहें.'

इस के पश्चात् जब खेती होनी प्रारंभ हुई तो इन बंदियों से कार्य लिया जाने लगा और इन को दास की संज्ञा मिली. इस काल में भी आर्य जाति में वर्ण व्यवस्था तो थी, पुरोहित भी थे, किंतु किसी विशेष जाति तक पुरोहित होने का अधिकार सीमित नहीं था. इस में कोई भी ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय हो सकता था.

हरिवंश पुराण के 32वें अध्याय में एक कथा आती है, जिस के अनुसार एक ही भार्गव वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों का जन्म हुआ था. ऐतरेय महिदास शूद्रों का पुत्र था, इसी अपराध में उस के पिता ने उसे विद्या पढ़ाने से मना कर दिया था. किंतु उस ने स्वतंत्र रूप से शिक्षा प्राप्त की और आगे चल कर वह प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण हुआ. 'ऐतरेय ब्राह्मण' ग्रंथ उस की प्रसिद्ध रचना है.

भागवत पुराण के नवम स्कंध में भी लिखा है कि राजा पृषधु क्षत्रिय से शूद्र हो गया था. क्षत्रिय राजा घृष्ट के वंशज ब्राह्मण हो गए थे, राजा दिष्ट का पुत्र नाभाग वैश्य हो गया था. इसी प्रकार दूसरे पुराणों में भी राजा ऋषभदेव के पुत्र और राजा भरत के इक्यासी सगे भाइयों के क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाने की तथा इसी प्रकार की दूसरी कथाएं मिलती हैं.

अधिकारों की बंदरबांट

किंतु जब ब्राह्मणों के हाथों में अधिक शक्ति आ गई, तो उन्होंने निश्चय किया कि जो विशेषाधिकार उन को मिले हुए हैं, उन्हें आने वाले वंशजों के लिए भी

प्रशिक्षण पाते, चाहे, इसी षड्यंत्र के फलस्वरूप जन्मजात वर्ण व्यवस्था की नींव पड़ी. इस के लिए आवश्यक था कि समाज के संगठन को ऐसा द्वेषपूर्ण बना दिया जाए, जिस से वे ब्राह्मणों के इस षड्यंत्र का विरोध न कर सकें. परिणाम-स्वरूप ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से एक समझौता किया. ब्राह्मणों ने कहा, 'राजपाट हमें नहीं चाहिए. इतना ही नहीं, राजपाट सदैव क्षत्रियों के ही पास रहे—इस के लिए हम सदैव प्रयत्नशील रहेंगे. हमें तो केवल इतना चाहिए कि धार्मिक विधि-विधान हमारे ही नियंत्रण में रहें.'

क्षत्रियों के लिए यह अच्छा सौदा था और उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया. उन को केवल ब्राह्मणों के सम्मुख झुकना था, किंतु दो वर्ण, वैश्य और शूद्र, अपनी सलामी बजाने के लिए उन को मिल रहे थे. जनता अधिकतर धर्मभीरु थी, अतः धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण भी इस युक्ति से उन के हाथों में आ गए.

वैश्यों ने संतोष कर लिया कि कम से कम एक वर्ग, शूद्रों से तो वे ऊंचे मान लिए गए हैं. उन्होंने भी यह व्यवस्था स्वीकार कर ली.

शूद्रों की सुनता ही कौन था! युगों से शोषित एवं पददलित जाति इस व्यवस्था का विरोध करती भी, तो उस के पास साधन ही क्या थे. फलतः यह व्यवस्था मान ली गई.

कूटनीतिज्ञता

हमारे पुराणादिकों में ऐसी घटनाएं भी मिलती हैं, जिन से सिद्ध होता है कि किसीकिसी महाप्राण क्षत्रिय ने इस ब्राह्मण सत्ता से विद्रोह भी किया था. विश्वामित्र किस प्रकार क्षत्रिय से ब्राह्मण बन कर रहे. इस का इतिहास सभी जानते हैं. राजा जनक भी क्षत्रिय ही थे. किंतु ब्राह्मण को भी ज्ञानदान देते थे. ऐसे मौके पर कहीं ब्राह्मण आंख बचा गए और कहीं युद्ध भी

ठान बैठे. क्षत्रियों को संतुष्ट करने का भी उन्होंने भरसक प्रयास किया। उदाहरणार्थ दस अवतारों में से केवल चार ही गभ से उत्पन्न माने गए हैं—राम, कृष्ण, बुद्ध और परशुराम। इन में से तीन क्षत्रिय कुलोत्पन्न हैं और चौथे क्षत्रियोचित ब्राह्मण हैं।

जबतब किसीकिसी शूद्र ने भी ब्राह्मण बनने का प्रयास किया। शंबूक की कथा तो सभी जानते हैं, जिस का इसी अपराध में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम ने सिर काट लिया था। पर ऐसी घटनाएं छुटपुट ही रहें।

जन्मजात वर्ण व्यवस्था स्वीकार कराने के पश्चात इस षड्यंत्र की दूसरी प्रगति यह हुई कि धर्मशास्त्रों के अध्ययन व मनन का अधिकार ब्राह्मणों तक ही सीमित कर दिया गया। यह इस लिए आवश्यक था, जिस से धर्म के नाम पर चाहे जो कुछ कहा जा सके और चाहे जो कुछ कराया जा सके क्षत्रिय तो ब्राह्मणों के साथ थे ही, अतः उन्होंने इस कार्य में ब्राह्मणों का साथ दिया और फिर संपूर्ण समाज ने इस व्यवस्था को भी स्वीकार कर लिया।

ब्राह्मणहित में व्यवस्थाएं

इतनी किलेबंदी कर लेने के पश्चात ब्राह्मणों ने अपना असली स्वरूप प्रकट किया। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति इसी काल की रचना है। ब्राह्मणों के प्रति अंधी श्रद्धा उत्पन्न करने और उन के विशेषाधिकारों को मान्यता देने के लिए मनुस्मृति के द्वारा कंसीकंसी व्यवस्थाएं दी गई इस के कुछ नमूने देखिए :

“मुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण सब से बड़े हैं और सृष्टि के प्रभु या स्वामी हैं”—मनु. 1.93.

“देवता लोग ब्राह्मणों के मुख द्वारा ही भोजन करते हैं, इस लिए संसार में ब्राह्मणों से बढ़कर कोई प्राणी नहीं है”—

मनु 1-95.

“संसार में जो कुछ है सब ब्राह्मणों का है, क्योंकि जन्म से ही वे सब से श्रेष्ठ हैं。”—मनु 1-100.

“ब्राह्मण यदि पराया अन्न लेता है या पराया वस्त्र पहनता है और किसी का धन ले कर किसी को दे देता है, तो यह सब उस की ही संपत्ति है, क्योंकि सब लोग ब्राह्मण की कृपा से ही भोजनादि पाते हैं。”—मनु. 1-101.

“दस वर्ष के ब्राह्मण को सौ वर्ष का क्षत्रिय पितातुल्य समझे”—मनु 2-135.

“जैसे अग्नि, चाहे संस्कारयुक्त हो या संस्कारहीन, एक महान देवता है, वैसे ही ब्राह्मण भी, चाहे मुख हो या विद्वान, एक महान देवता है。”—मनु. 9-317.

“जैसे तेजस्वी अग्नि मरघट में मुरदों को जला कर भी अपवित्र नहीं होती और यज्ञों में हवन किए जाने पर भी वृद्धि को प्राप्त होती है, वैसे ही ब्राह्मण निन्दनीय कर्म करने पर भी सब के पूज्य हैं, क्योंकि ब्राह्मण परम देवतास्वरूप है。”—मनु. 8-124.

“जिन ब्राह्मणों ने क्रुद्ध हो कर अग्नि को सर्वभक्षी किया, समुद्र का जल खारा कर के उसे पीने के योग्य नहीं रहने दिया। और चंद्रमा को क्षय का रोगी बना कर दया कर के पुनः निरोग कर दिया, उन ब्राह्मणों को कुपित कर के कौन ऐसा है जो नष्ट नहीं हो जाएगा。”—मनु. 9.314.

इसी प्रकार की व्यवस्थाओं से अन्य पुत्राणादि धर्मग्रंथ भी भरे पड़े हैं। परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों को शेष तीनों वर्ण अतिमानव मानने लगे और समाज में उन को इतने विशेषाधिकार प्राप्त हो गए कि वे बिना परिश्रम किए सभी सांसारिक सुखों का उपभोग कर सकते थे।

शूद्र शिकार बने

समाज पर निरंकुश सत्ता प्राप्त कर लेने के पश्चात पुरोहित समाज अबाध

गति से मनमानी करने लगा. इन के अत्याचारों के सब से अधिक शिकार शूद्र हुए. शूद्रों के लिए कैंसीकैंसी अमानुषिक व्यवस्थाएँ की गई, उन के भी कुछ नमूने देखिए :

“यदि अधम जाति का शूद्र ऊंची जाति के कर्मों को कर के धन कमाने लगे, तो राजा उस का धन छीन कर उसे देश से बाहर निकाल दे.”—मनु. 10-96.

शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और न होम से बचा हुआ भाग और न धर्म का उपदेश ही देना चाहिए. यदि कोई शूद्र को धर्मापदेश और व्रत का आदेश देता है, तो वह शूद्र के साथ असंवत् नामक अंधकारमय नरक में पड़ता है.”—मनु. 4.80-81.

“ब्राह्मण निःसंकोच हो कर शूद्र का धन ले ले, क्योंकि शूद्र का अपना कुछ भी नहीं उस का सब धन उस के स्वामी (ब्राह्मण) का ही है.”—मनु. 8-417.

“बिल्ली, नेवला, चिड़िया, मेढक, कुत्ता, गधा, उल्लू और कोए की हत्या में जितना पाप लगता है, उतना ही पाप शूद्र की हत्या में है.”—मनु. 11-131.

“ब्राह्मण दुश्चरित्र हो तब भी पूज्य है और शूद्र जितेंद्रिय होने पर भी पूज्य नहीं, क्योंकि कौन ऐसा मूर्ख है जो दुष्ट गो को छोड़ कर सुशिला गधों को दुहेगा.”

—पाराशर स्मृति, 8-33.

निम्नवर्ग में हीन भावना

इसी प्रकार यदि वैश्य स्वेच्छा से यज्ञादिक के लिए धन व्यय न करे तो उस से भी जबरदस्ती धन ले लेने का अधिकार दिया गया है. कहींकहीं वैश्य को पाप-योनि से उत्पन्न भी बताया गया है. इस प्रकार सभी वर्गों में तुच्छता की भावना भरने का प्रयास किया गया है.

कुछ भाई इन श्लोकों को देख कर कह देते हैं कि ये सब क्षेपक हैं, जो वाम-मार्गियों द्वारा हमारे धर्मशास्त्रों में मिला

दिए गए हैं. उन के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि भरत से केई संपूर्ण युग ऐसा बीता है, जिस में विद्वत्ता और श्लोकरचना की सामर्थ्य वाममार्गियों में ही शेष रही थी और अन्य सभी पंडितजन ऐसे निःशक्त हो गए थे कि अपने धर्मशास्त्रों की रक्षा नहीं कर सके.

दक्षिणमार्गी कहां सो रहे थे?

किंतु प्रश्न यह उठता है कि यदि वाममार्गियों ने ही यह सब मिलावट की थी, तो दक्षिणमार्गियों ने इन विधिविधानों को कैसे माना और अभी तक कैसे मान रहे हैं? यह तो अभी दोतीन वर्ष पहले की बात है, जब हमारे देश के प्रमुख शिक्षा-केंद्र हिंदू विश्वविद्यालय में एक कन्या को वेद पढ़ाने से इसलिए इनकार कर दिया गया था कि वह ब्राह्मण नहीं थी. महामना मालवीयजी उस समय जीवित थे, जो किसी भी प्रकार वाममार्गी नहीं थे. पर वह भी इस व्यवस्था से सहमत थे, क्योंकि उन्होंने इस के विरोध में एक शब्द भी न कहा, न लिखा.

मद्रास में ऐसी सड़कें थीं और अब भी हैं, जिन पर कुछ जातियों के व्यक्ति नहीं घूम सकते. कुछ ऐसे भी लोग थे जिन को देखने से भी पाप लगता था. ब्राह्मण से वे किसी ओट में खड़े हो कर ही वार्तालाप कर सकते थे. ऐसा व्यवहार करने वाले ब्राह्मण भी वाममार्गी नहीं थे.

कूरता की सीमा

मलाबार में लिखनापढ़ना तो दूर, अछूतों के लिए ब्राह्मणों की भाषा का उच्चारण करना भी अपराध है. ‘बंबई समाचार’ के 4 नवंबर, 1936 के अंक में प्रकाशित निम्न समाचार इस के प्रमाण में देना यथेष्ट होगा.

“मलाबार के उत्पलम् नामक गांव में इजवा जाति का शिवरामन नामक 17

वर्षीय लड़का एक सवर्ण हिंदू की दुकान पर नमक छोटोने मया उसने मलबार में भाषा में 'उप्पू' मांगा. मलाबार में प्रथा है कि केवल सवर्ण हिंदू ही नमक को 'उप्पू' कह सकते हैं. अछूत होने के कारण शिवरामन को 'पुलीचटुन' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था. इसलिए सवर्ण दुकानदार को बहुत क्रोध आया. उस ने लड़के को इतने जोर से पीटा कि वह मर गया."

कल्पना कीजिए कि जब ब्राह्मणी सत्ता स्थापित थी और शूद्र के वध का कोई दंड किसी व्यक्ति को नहीं मिल सकता था, तो बेचारे कितने शूद्रों को ब्राह्मणों की क्रोधाग्नि में अपने प्राणों को भस्म करना पड़ता होगा.

इस प्रकार वर्तमान भयंकर अस्पृश्यता की तमाम जिस्मेशरी केवल हमारे देश के पुरोहित समाज पर ही है. आज भी हरिजन मंदिर प्रवेश बिल जैसे नाममात्र के सुधारवादी कानूनों का विरोध भी इसी समाज की ओर से होता है, तो इस में आश्चर्य की क्या बात है?

निरंकुश कामलिप्सा

पुरोहित समाज ने अपनी निरंकुश सत्ता का उपयोग अपनी कामलिप्सा को पूर्ण करने के हेतु भी किया, जिस का फल आज तक हमारा समाज भुगत रहा है.

पुराणों को देखने से प्रतीत होता है कि हमारे देश के पुरोहितवर्ग में काम-जन्य दुर्बलताएं सदैव से रही हैं. इस वर्ग के प्रसिद्धतम व्यक्तियों के जीवन में प्रायः कामातुर हो कर विवेकहीन बन जाने, पुत्री के पीछे दौड़ने और गुरुपत्नी को छलकपट द्वारा भ्रष्ट कर देने की लज्जाजनक कथाएं घटित होती रही हैं. ये लोग वर्षों नगरों से दूर रह कर संयम, तप आदि का अभ्यास करते थे. किंतु पुराणों की साक्षी के अनुसार स्त्री को देखते ही विह्वल हो जाते थे.

अतः पूर्ण सत्ता प्राप्त होते ही उस का यह दुष्परिणाम होना स्वाभाविक ही था.

अपनी सुविधा के लिए ब्राह्मणों ने इस मर भी भर्त्स का रंग लदा दिया. विष्णुजी के मुख से कहलवाया गया कि "जो शूद्र अपने प्राण, धन और स्त्री को ब्राह्मण को अर्पित कर दे, उस शूद्र का भोजन करने योग्य है." (विष्णु 5-11) इस प्रकार शूद्रों को ललचाया गया कि वे ब्राह्मणों की अपनी स्त्रियां समर्पित कर दें.

कलंकपूर्ण प्रथाएं

संभव है इसे भी क्षेपक कह दिया जाए, इसलिए कुछ सजीव प्रमाण उपस्थित करने होंगे. अठारहवीं शताब्दी में लुडोविक डी वारथोमा नामक एक विदेशी पर्यटक भारत आया था. अपनी यात्रा के संस्मरणों में मलाबार का वर्णन करते हुए वह लिखता है :

"जब राजा विवाह करता है तो वह इन ब्राह्मणों में से योग्यतम और सब से प्रतिष्ठित मनुष्य को चुनता है और उसे पहली रात अपनी स्त्री के साथ सुलाता है, ताकि वह उस के साथ समागम करे. ब्राह्मण यह काम प्रसन्नतापूर्वक करता है, राजा को उसे चारपांच सौ डोकर देने पड़ते हैं." (वायाज आफ वारथोमा, जिल्द 1, पृष्ठ 14.)

इसी प्रकार एक दूसरे यात्री हैन्रिडन ने भी अपने संस्मरणों में लिखा है : "जब कालीकट का राजा जमोरिन विवाह करता है, तो उस के लिए आवश्यक है कि जब तक नंबूद्री ब्राह्मण उस की स्त्री का रसास्वादन न कर ले, तब तक वह उस के साथ समागम न करे. ब्राह्मण यदि चाहे तो स्त्री को तीन रात अपने पास रख सकता है, क्योंकि स्त्री के विवाह का प्रथम फल उस प्रभु को भेंट होना ही चाहिए, जिसे वह स्त्री पूजती रही है."

बूचानन नामक एक दूसरे विद्वान ने लिखा है : "तिमूर वंश की स्त्रियां प्रायः नंबूद्री ब्राह्मणों द्वारा ही गर्भवती होती हैं. ये तो सी वर्ष पहले की बातें हैं. आज

भी मलाबार की नायर जाति की स्त्रियां नंबूद्री ब्राह्मणों की रखेल बन कर रहती हैं। इस प्रथा को 'संबंधम्' कहते हैं। नंबूद्री अपनी रखेल को अपने घर नहीं लाता, बल्कि वह उसी के घर रात्रि को पहुंच जाता है। लड़की के मातापिता ब्राह्मण द्वारा लड़की के पवित्र किए जाने पर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं।

मलाबार की एक दूसरी जाति उन्निविरि में तब तक किसी कन्या का विवाह अपने सजातीय युवक से नहीं हो सकता जब तक वर पक्ष को यह विश्वास न दिला दिया जाए कि किसी नंबूद्री ब्राह्मण से कन्या का संबंध रह चुका है। कभीकभी इस में भी धोखा हो जाता था, इसलिए विवाह से पूर्व तिरुविप्पाड़ जाति के ब्राह्मण से कन्या का अस्थायी विवाह किया जाता है। पूरे चार दिन के लिए तिरुविप्पाड़ और कन्या को कोठरी में बंद कर दिया जाता है। कन्या को नग्न हो कर तिरुविप्पाड़ की मालिश करनी पड़ती है। इस के पश्चात् तिरुविप्पाड़ दानदक्षिणा ले कर चला जाता है और फिर कन्या का वास्तविक विवाह होता है।

कुत्सित व्यापार

पुरोहित समाज में इस प्रकार केवल शूद्र जाति की स्त्रियों पर ही हाथ साफ नहीं किया। सद्रास में देवदासी जैसी भीषण और व्यभिचार जन्य प्रथा का विधान भी तो इसी पुरोहित समाज की देन है, जिस में प्रायः उच्च वर्ण की लड़कियों को ही वेश्यावृत्ति का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया जाता है।

समाज में कामाचार फैलाने के लिए पुरोहित समाज ने क्या नहीं किया! प्रतीत होता है शिर्वालग की वीभत्स पूजा अनार्यों से इसी लिए अपनाई गई, जिस से अनाचार को प्रोत्साहन मिले। श्री जगन्नाथपुरी के मंदिर के द्वार पर चौरासी आसनों की जो अश्लील तस्वीरें हैं, वे भी पुरोहित

समाज की विकृत कामभावना की प्रतीक हैं। पुरोहित समाज पतिव्रतों के लिए जिम्मेदार ठहराने वाले व्यक्तियों से कोई पूछे कि आज तो वाममार्गी समाज शक्ति नहीं रखता, फिर क्यों पुरी के मंदिर पर वे चित्र दिखाई देते हैं?

पुरोहित समाज ने अपनी कामभावना के कारण ही समाज में बालविवाह का प्रचलन कराया और विधवाविवाह को अनधिकृत ठहरा दिया। समस्त हिंदू समाज आज तक इस का फल भुगत रहा है। इस से हमारे देश में जितना व्यभिचार फैला है और वेश्याओं की जितनी संख्या बढ़ी है, उस से सभी परिचित हैं। फिर भी पुरोहित समाज विधवाविवाह को मान्यता देने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

विडंबनाओं की शृंखलाएं

पुरोहितों द्वारा बनाई गई वैवाहिक व्यवस्थाओं ने बंगाल के पारिवारिक जीवन को कितना विशृंखल कर दिया, इस के प्रमाण आज भी बंगाल में मिल सकते हैं, वहां प्रायः एकएक व्यक्ति अस्सी-अस्सी सौसी विवाह कर लेता था। उस की ये समस्त पत्नियां अपने पिता के ही घर रहती थीं। पति महोदय कम से कम दोदो चारचार दिनों के लिए अपनी समुराल में पहुंच जाते थे और पति का उत्तरदायित्व निभा कर और विदाई ले कर दूसरी समुराल के लिए चल देते थे। पति महोदय की जीविका इसी से चलती थी। कभीकभी ऐसा भी होता था कि कोई प्रतिभाशाली सज्जन सभी समुरालों में पहुंचने में असमर्थ होने के कारण अपने नाम से किसी दूसरे को भेज देते थे और विदाई में आधा भाग बांट लेते थे। दसियों वर्ष पश्चात् आने वाले जमाई बाबू को कन्या के मातापिता भला कैसे पहचानते? बस, साझीदार महोदय का काम बन जाता था। प्रसिद्ध कथाकार शरत बाबू ने अपनी अनेक गाथाओं में इस स्थिति का रूला देने

वाला चित्रण किया है।

बंगाल की यह स्थिति सदियों तक रही, पर पुरोहित समाज ने कभी इस पर ध्यान नहीं दिया। ब्रह्म समाज आदि के रूप में जब वहाँ इस स्थिति के प्रति विद्रोह हुआ, तो पुरोहित समाज ने जम कर उस विद्रोह का मुकाबला किया। तात्पर्य यह कि पुरोहित समाज केवल अपना काम देखता है, उसे समाज के मरनेजोने की चिंता नहीं है।

व्यभिचार को प्रोत्साहन

इस प्रकार पुरोहित समाज में फैली हुई विकृत कामभावनाओं ने समाज के दांपत्य जीवन को नारकीय बना दिया। व्यभिचार को धार्मिक कृत्य की संज्ञा दे दी। वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया। लाखों स्त्रियों को वैधव्य की श्राग में जलते रहने के लिए विवश किया और इस सब का परिणाम यह हुआ कि समाज का अत्यंत भोषण रूप से शारीरिक एवं मानसिक पतन हुआ। पर क्या आज भी पुरोहित समाज की कामलिप्सा शांत हो सकी है? यह जो समयसमय पर कभी कलकत्ते में गोविंद भवन की रासलीलाओं में भंडाफोड़ सुनते हैं और कभी सिंध में श्रोम मंडली को स्थापित होते देखते हैं, इन के अस्तित्व के लिए कौन जिम्मेदार है?

पुरोहित समाज ने अपनी स्वार्थ रक्षा के निमित्त भारतवर्ष को इतने अंधकार में रखा है कि वह विज्ञान के विषय में आज समस्त संसार से पिछड़ा हुआ है। इस संबंध में हम को अंग्रेजों का कुतज्ञ होना चाहिए, अन्यथा आज शायद यहां रेल, हवाई जहाज आदि के भी दर्शन नहीं होते। कम से कम नल तो हरगिज भी नहीं लग सकते थे, जिन से सभी जातियों के व्यक्ति बिना छुआछूत के पानी ले सकते हैं। अनेक कट्टर ब्राह्मण तो आज भी नल के पानी का व्यवहार नहीं करते। कुछ ऐसे भी मिल सकते हैं, जो ट्रेन में सफर नहीं करते,

सुनते हैं पृथ्वी मालवीयजी ट्रेन के उस डिब्बे में भोजन नहीं करते थे, जिस में कोई ईसाई या मुसलमान बैठा होता था।

पिछड़ेपन के कारण: ब्राह्मण

पुरोहितों ने समुद्र यात्रा का निषेध कर के और विदेश जाने वालों को जाति बहिष्कार जैसी भांतिभांति की यंत्रणाएं दे कर समाज की न जाने कितनी प्रतिभाओं को प्रस्फुटित नहीं होने दिया। स्त्री शिक्षा का विरोध तो अभी कल तक रहा है। पुरोहित जानते थे कि स्त्रियां जब शिक्षित हो जाएंगी, तो फिर कौन चरणामृत की एक बूंद के लिए घंटों पुजारीजी के चरणों में बैठेगा और कौन उन को इतनी दान-दक्षिणा देगा।

पाकिस्तान का निर्माण न होता

इस प्रकार पुरोहित समाज ने हमारे देश को भयानक रूप से आर्थिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक हानि पहुंचाई है, यदि हम पाकिस्तान बनाने के मूल कारणों का विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि यदि हमारे यहां छुआछूत न होती, तो पाकिस्तान का निर्माण कदापि न होता।

छुटकारा अब भी नहीं

बुख तो यह है कि आज भी इस बीसवीं सदी में हमारा समाज पुरोहितों के इशारों पर चल रहा है। अभी कल ही की बात है—एक और बंगाल में पैंतीस लाख मानव संतानें भूख से पीड़ित हो कर दम तोड़ रही थीं और दूसरी ओर भारत के विभिन्न भागों में सैकड़ों हजारों मन अन्न व घी हनवकुंडों की अग्नि में भस्म किया जा रहा था।

प्रजातंत्र को समाप्त कर के एकतंत्र स्थापित करने के जो भयानक षड्यंत्र आज

हमारे देश में छिपेछिपे चल रहे हैं, उन का नायकत्व भी पुरोहितवीथी ही कर रहे हैं। और यह 'प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनःस्थापना' का नारा ही क्या अर्थ रखता है, सिवा इस के कि ब्राह्मणों को वैसे ही निरंकुश अधिकार पुनः दे दिए जाएं, जैसे भूतकाल में उन्हें मिले हुए थे।

व्यतिगत जीवन में भी आज हम में से प्रत्येक ने पुरोहित समाज को आत्मसमर्पण किया हुआ है। हम में से कौन ऐसा है जिस के पुत्रपुत्रियों की शादी बिना किसी पुरोहित के हो सके, चाहे पुरोहित महाराज के लिए काला अक्षर भेंस बराबर ही हो। अन्य रूढ़िग्रस्त संस्कारों और अनुष्ठानों में भी पुरोहित महाराज पधारते ही हैं।

वर्गभेद समाप्त हो
Presevation Foundation, Chandigarh

यह निश्चित है जब तक हम पुरोहित-वाद के मायाजाल से मुक्त नहीं होते, तब तक हमारी उन्नति की गति अवरुद्ध ही रहेगी। समय आ गया है कि रूस और तुर्की की भांति हमारे देश से भी इस वर्ग को बिलकुल समाप्त कर दिया जाए। पुरोहितगोरी को गैरकानूनी करार दे कर ऐसे लोगों को, जो इसी आधार पर जीविका उपार्जित करते हैं, किसी दूसरे कार्य में लगा देना चाहिए, जिस से वे सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सकें, जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक ये लोग प्रत्येक सुधार का धर्म के नाम पर विरोध ही करते रहेंगे।

आजकल का सब से बड़ा देशद्रोह

गौपूजा

रतनलाल बंसल

मानव समाज जब तक पाषाण और धातुओं के हथियार बना कर उन का प्रयोग नहीं जान पाया था, तब तक उस ने स्वभावतः अपने को पीड़ा देने में समर्थ पशुओं तथा अन्य मानवेंतर प्राणियों में किसी देवी शक्ति का आरोपण कर के उन को पूजा द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा की। संसार के सभी भूभागों में इस प्रकार की पूजा रही है और आज भी अनेक जंगली व पिछड़ी हुई जातियों में वह प्रचलित है।

हमारे देश में सर्पों और बंदरों इत्यादि की पूजा तथा कच्छ, मच्छ, वराह और नृसिंह आदि के रूप में भगवान के अवतरित होने की कल्पना उसी युग की देन है, जिसे हम अभी तक ढोए जा रहे हैं।

इस के पश्चात् मानव जब कुछ विकसित हुआ और उस में भावुकता का उद्रेक होना प्रारंभ हुआ, तो उस ने ऐसे पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों की पूजा

प्रारंभ कर दी, जिन से वह उपकृत होता था। मेघ, अग्नि, जल, नदियां, समुद्र, वृक्ष आदि की पूजा प्रचलित होने का आधार यही है।

गायबैलों की पूजा भी इसी प्रकार प्रारंभ हुई और न केवल भारतवर्ष में ही, बल्कि मेसोपोटामिया की अस्तुर सभ्यता युग की खुदाइयों से ले कर यहूदी, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सभी के धर्मग्रंथों में इस का विवरण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य सभी पशुओं की अपेक्षा गाय को पालतू बनाने और उस से लाभ उठाने में मानव को सब से शीघ्र सफलता मिल गई। प्रारंभ में तो गाय को केवल खाने के लिए ही पालतू बनाया गया, क्योंकि तब तक मानव ने स्थाई रूप से कहीं बस कर खेती करना नहीं सीखा था। उस समय गाय इसी प्रकार पाली जाती थी जिस प्रकार आज बकरे और भेड़ें पाले जाते हैं। उस की उपयोगिता केवल यही थी कि इस निरुपद्रवी पशु को चाहे जितने

दिन तक जीवित रख कर आवश्यकतानुसार उस का मांस खाया जा सकता है।

किंतु गाय के अमृततुल्य दूध और बछड़ों की कृषिकार्य में उपयोगिता के कारण गौमांस का भक्षण कम होता गया। वेदों में अनेक स्थानों पर लिखा मिलता है: “यजमान के पशुओं की रक्षा करो। भेड़ मत मारो, गाय मत मारो, एक खुर वाले पशु को मत मारो।” इस से स्पष्ट है कि गौ इत्यादि के वध का निषेध केवल इसलिए किया गया था कि इस से पूर्व गौवध प्रचलित था।

इस से भी अधिक पुष्ट प्रमाण ऋग्वेद का यह मंत्र उपस्थित करता है:

कहिस्वित् सा त इंद्र
चेत्यासदघस्य यदिभनदो रक्ष एषत्
मित्रक्रुवो यच्छशने न गावः
प्रथित्या आप्रगमुया शयंते।

“हे इंद्र, जिस अस्त्र व बाण को फेंक कर तुम ने पापी राक्षस को काटा था, वह कहां फेंकने योग्य है? जैसे गौहत्या के स्थान में गाएं काटी जाती हैं, वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्र से निहत हो कर मित्रद्वेषी राक्षस लोग पृथ्वी पर गिर कर सदा के लिए सो जाते हैं।”

स्पष्ट है कि इस मंत्र का रचना काल गौवध निषेध करने वाले मंत्रों से प्राचीन है। वास्तव में भारतवासियों में भी जब गाय मुद्रा के रूप में प्रचलित होने लगी, तो कहीं गाय के वध पर थोड़ा प्रतिबंध लगा। इस प्रतिबंध का कारण धार्मिक नहीं, विशुद्ध आर्थिक था। किंतु धार्मिक पुरोहितों की जिह्वा को गौमांस का स्वाद लग चुका था, अतः उन्होंने गौमेध यज्ञ की प्रथा चलाई और अतिथि सत्कार के लिए भी मधुपर्क निर्माण करने के हेतु गौहत्या को आवश्यक कर्त्तव्य घोषित कर दिया। परिणामस्वरूप आर्थिक दबाव के कारण गौवध अधार्मिक ठहरा दिए जाने पर भी दूसरी ओर गौवध धार्मिक भी बना रहा।

हमारे धर्मशास्त्रों में एक और गौवध को भयंकर पाप बताया जाना, और फिर भी शतपथ ब्राह्मण इत्यादि धर्मग्रंथों में गौमेध का वर्णन, महाभारत में राजा रंतिदेव द्वारा अतिथियों के हेतु सहस्त्रों गायों का नित्यप्रति वध करने की कथा और महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध नाटक रामचरित के चतुर्थ अंक में महर्षि वाल्मीकि द्वारा गुरु वसिष्ठ को गौवत्सरी का मांस भेंट करने के वर्णन में परस्पर जो विरोधाभास दिखाई देता है, उस का यही कारण है।

सुत्तनिपात इत्यादि बौद्ध ग्रंथों में भगवान बुद्ध द्वारा तत्कालीन ब्राह्मण समाज में गौमांस भक्षण प्रथा के प्रचलित होने की निंदा किया जाना यह सूचना देता है कि आज से केवल 2,500 वर्ष पूर्व भी ब्राह्मणों में गौमांस भक्षण प्रचलित था। वास्तव में बौद्ध धर्म के कारण अहिंसा का आंदोलन जब इस देश में चला, तभी गौहत्या के प्रति वर्तमान धारणाएं बनीं, जो आज देश के लिए और स्वयं गौवंश के लिए भयानक संकट का कारण बन गई हैं।

हमारे देश में गाय के प्रति ऐसी भयानक भक्ति भावना ने घर लिया है कि उसे आधार बना कर राष्ट्रविरोधी शक्तियां बड़े से बड़ा लाभ उठा लेती हैं। विदेशी आक्रांताओं द्वारा अपनी फौज के आगे गौ समूह ले कर चलने और फिर गायों के मारे जाने के भय से भारतीय राजाओं द्वारा उन का मुकाबला न करने और अपनी स्वतंत्रता को उन के हाथों में निरोह भाव से सौंप देने विषयक अनेकानेक लोक-कथाओं को यदि हम छोड़ भी दें, तो स्वतंत्र भारत के हाल में ही प्रथम चुनावों में अनेक प्रतिक्रियावादी तथा रूढ़िवादी दलों द्वारा गौवध रोकने के नाम पर वोटों की अपील करना और कहींकहीं उन को बलवान समर्थन मिल जाना यह प्रकट करता है कि इस भावुकता को उभार कर क्या कुछ किया जा सकता है।

अन्न का भारी अकाल होने पर भी

नीलगायों को (जो पशुशास्त्र के अनुसार गौवंश से दूर का भी संबंध नहीं रखती) केवल उन के नाम में गाय आ जाने के कारण मारे जाने का विरोध करने की मूढ़ता भी हमारी इसी गौभक्ति का परिणाम है, यद्यपि यह सभी पढ़ेलिखे व्यक्ति जानते हैं कि केवल नीलगायों द्वारा लाखों व्यक्तियों का पेट भर सकने योग्य अनाज नष्ट कर दिया जाता है। किंतु जिस देश में हजारों मनुष्यों का वध गाय के नाम पर हो चुका हो और होने की संभावना हो, वहां इतनी मूढ़ता होना आश्चर्य की बात नहीं है।

इस के अतिरिक्त हमारे देश में विदेशों से कई करोड़ रुपए का ऐसा सामान आता है, जो गाय और बैलों के चमड़े से बनाया जाता है। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों और गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में सोमलता गौचर्म पर ही रख कर कूटी जाती थी, और वधू जब पतिगृह में आती थी तो सर्वप्रथम उसे लाल बैल के चमड़े पर ही अपने पति के साथ बैठाया जाता था। आशय यही है कि गौचर्म और बैलों के चमड़े का न केवल प्रयोग होता था, बल्कि उन का प्रयोग शुभ माना जाता था, जो उस युग के रूढ़िवाद का प्रतीक है।

किंतु आज हमारी गौभक्ति प्राकृतिक मृत्यु से मरी हुई गायों के भी चमड़े, रक्त और हड्डियों का उपयोग करने की आज्ञा नहीं देती। न जाने ऐसी कितने लाख मरी हुई गाएं या तो जमीन में दबा दी जाती हैं या नदियों में बहा दी जाती हैं, जब कि उन के मृत शरीर के उपादानों का प्रयोग कर के हम उन करोड़ों रुपयों को बचा सकते हैं, जो हमें गौचर्म और हड्डियों से बने हुए माल को खरीदने के लिए विदेश भेजने पड़ते हैं। गांधीजी ने इस संबंध में कुछ कार्य प्रारंभ भी किया था, जो आज भी चल रहा है, किंतु गौपूजा की भावना के कारण वह व्याप्त नहीं हो सका।

गंगातट के तीर्थों में पंडोंपुरोहितों

को एक दुबलीपतली गाय को पानी में खड़ा किए, और पांच आने, दस आने या सवा रुपया ले कर निर्धन व मूढ़ गौभवतों को गौदान का पुण्य वांटते भी हम सभी ने देखा होगा। दिनरात पानी में खड़ी रहने से उस गाय को जो भयानक वेदना भोगनी पड़ती है, तथा कुछ विशेष त्योहारों पर गायों को जिस प्रकार अन्नकूट खिला-खिला कर रोगिणी बना दिया जाता है, यह सब भी हमारी गौभक्ति का ही परिणाम है।

खासखास पर्वों पर इतने उत्साह से गौदान किया जाता है कि एकएक पंडे के पास दसियों गाएं पहुंच जाती हैं। इतनी गायों को खिलानेपिलाने में असमर्थ वह पंडा कसाइयों के तिलकधारी हिंदू दलालों को वे गाएं बेच कर अर्थ और मोक्ष में जिस हास्यस्पद तरीके से सामंजस्य उपस्थित करता है, वह और भी भयानक है।

आज प्रत्येक छोटे बड़े नगर में पचासों चालाक गृहस्थ दूध दुह कर गाय को खुला छोड़ देते हैं, क्योंकि उन का अनुभव है कि उन को गाय चाहे जिस का जितना नुकसान कर दे, गौमाता को कोई कुछ नहीं कहेगा। ये गाएं भक्ष्यअभक्ष्य खाती फिरती हैं और अनेक भयानक रोगों के कीटाणुओं को अपने दूध में प्रश्रय दे कर राष्ट्र के स्वास्थ्य को नष्ट करती हैं। भुवाली सैनिटोरियम के भूतपूर्व अध्यक्ष डाक्टर शंकरलाल गुप्त ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत में क्षय रोग' में यह स्पष्ट लिखा है कि भारत में तपेदिक के भोषण प्रसार का एक मुख्य कारण अधिकांश गायों का क्षयप्रसित होना है। यह सब भी हमारी विशेष गौभक्ति का ही परिणाम है।

यह भी विचार योग्य है कि सदियों से चली आ रही गाय के प्रति हमारी इस मूढ़ श्रद्धा से गाय को क्या लाभ हुआ है? गाय का प्रश्न मानव समाज के स्वास्थ्य से अति निकट संबंध रखता है, अतः इस संबंध में प्रायः गवेषणाएं हुई हैं और उन की रिपोर्टों से हम इस प्रश्न का उत्तर पा

गौभक्षक देशों में

इस संबंध में विचार करते समय यह और भी उचित होगा कि हम गौभक्त जन गौभक्षक देशों की गायों के आंकड़े भी अपने सामने रख लें और फिर दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करें.

सन 1940 की पशुगणना रिपोर्ट बताती है कि सन 1935-40 के मध्य दक्षिणी अफ्रीका में 14 प्रतिशत, पोलैंड में 8 प्रतिशत, इंग्लैंड में 18 प्रतिशत, और जर्मनी में 5 प्रतिशत वृद्धि गायों की संख्या में हुई, किंतु हम गौरक्षकों के देश में इस काल में गायों की संख्या 13 प्रतिशत कम हो गई.

किंतु गाय के स्वास्थ्य संबंधी आंकड़े तो इस से भी भयानक हैं. इस के अनुसार डेनमार्क में प्रति गाय से वार्षिक रूप से औसतन 87 मन $22\frac{1}{2}$ सेर, स्विट्जरलैंड में 81 मन 9 सेर, बेलजियम में 76 मन $4\frac{1}{2}$ सेर, इंग्लैंड में 69 मन 18 सेर और जर्मनी में 66 मन $12\frac{1}{2}$ सेर दूध का उत्पादन होता है. किंतु भारतवर्ष में यह औसत केवल 6 मन $22\frac{1}{2}$ सेर ही है. अर्थात् हमारे गौपूजक देश की गायों से गौभक्षक देशों की गाएं दस गुने से चौदह गुने तक अधिक दूध देती हैं.

इस का परिणाम यह है कि विदेशों में आज दूध की नहरें बह रही हैं. वहां दूध का उत्पादन इतना अधिक है कि वे केवल उसे पीने के ही काम में नहीं लाते, बल्कि उस का दूसरा सामान भी बनाने लगे हैं. इस बारे में 'इंडियन फार्मिंग', जुलाई 1942, के अंक में छपा है: "फाउन्टेनपेनों का खोल और एवरशाप पेंसिल दूध से बनती हैं. लिखने के बढ़िया कागजों पर चमक दूध की पालिश से ही आती है. हवाई जहाज का प्लाईवुड दूध की सहायता से ही बनता है."

गौभक्षक देशों में जब कि प्रत्येक

सामान के पीछे हमारे यहां की अपेक्षा डेढ़ से ले कर नौ गुना तक अधिक दूध की खपत होती है. इसी का परिणाम है कि एक वर्ष से कम अवस्था के बालक यदि इंग्लैंड में 1000 में से 172, डेनमार्क में 136 और न्यूजीलैंड में केवल 2 मरते हैं, तो भारत में उन की संख्या 261 प्रति हजार है. और यदि इंग्लैंड में औसत उमर 53, न्यूजीलैंड में 58, डेनमार्क में 56, अमेरिका में 59 वर्ष है, तो भारत में केवल 23 वर्ष है. इस संबंध में किसी समय के संयुक्त प्रांत के आरोग्य विभाग के अधिकारी कर्नल मेकटेगर्ट ने कहा था, "सुशिक्षित दाइयों की फौज खड़ी करने की अपेक्षा गरीबों को दूध सुलभ हो; इस प्रकार दूध सस्ता कर देना ही बाल मृत्युओं की संख्या घटाने का सब से अच्छा तरीका है."

भारत में ऐसे सुझाव प्रति वर्ष दिए जाते हैं, किंतु इन पर अमल नहीं हो पाता. इस के विपरीत विदेशों में युद्ध काल में भी दूध सस्ता रखने की विशेष व्यवस्था की गई थी. इंग्लैंड में तो सीमित आय वाले एक विशेष वर्ग को केवल एक डेढ़ आने सेर दूध मिलता था.

कानूनों से कुछ नहीं होगा

उपरोक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि गाय के प्रश्न से सारे राष्ट्र के स्वास्थ्य और प्रकारांतर से उस की सर्वांगीण उन्नति का प्रश्न जुड़ा हुआ है, अतः हमें अत्यंत धैर्य-पूर्वक इस समस्या पर विचार करना है.

यह स्पष्ट है कि जब तक भारतीय गाय इतना अधिक दूध देने में समर्थ नहीं हो जाती कि उस का पालनपोषण आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो, तब तक केवल कानून बना देने से उस की रक्षा नहीं हो सकेगी. प्रमाणस्वरूप, भारत स्वाधीन हो जाने के पश्चात् संकड़ों म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने अपने निर्वाचन क्षेत्रों की जनता से वाहवाही लूटने के लिए गौवध पर प्रतिबंध लगा दिया है, अनेक रियासतों में

तो पांचपचसी वर्षों से भीवध नहीं हुआ। और कभीकभी हीनकरके हो जाता है। किंतु वहां भी गौवंश की उन्नति नहीं हो सकी, अवनति ही होती गई और अब भी हो रही है। इस के विपरीत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनेक ऐसे देशों में जहां गौमांस भक्षण पर्याप्त मात्रा में होता है, गौवंश की उन्नति आशातीत रूप में हुई है।

आर्थिक दृष्टि से गाय का पालन तभी लाभदायक होगा जब कि उस की नसल सुधरे, और नसल सुधारने के लिए सर्वाधिक आवश्यक दो बातें हैं:

1. रोगी और दुर्बल सांडों तथा गायों का विनाश.

2. भविष्य में भी केवल उन बछड़ों को ही सांड बनने देना, जो इस योग्य समझे जाएं.

हमारे गौपूजक समाज को ये दोनों ही उपाय संख्या की भांति जान पड़ेंगे, लेकिन उन को समझ लेना चाहिए कि यदि वे दूध देने वाली युवा गायों को बचाना चाहते हैं, गौवंश की वृद्धि चाहते हैं, अन्न के लिए भारत को स्वावलंबी देखना चाहते हैं और हजारों लाखों भारतीय मानव संतानों को अकाल मृत्यु से बचाना चाहते हैं, तो उन को इन मुझबों को अपना ही होगा. इस के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है.

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त भारतीय अर्थशास्त्री डाक्टर राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "फूड प्लानिंग फार फोर हंडरेड मिलियंस" ("40 करोड़ की आहार योजना") में लिखा है:

"अच्छे ढोरों के लिए कठिनाई से जितना चारा पूरा होता है, उतने में निकम्मे पशुओं को अधपेट खिला कर पाला जाता है, क्योंकि चारे और चरागाहों की कमी है. अधिक चराई के कारण घास के मैदान उजड़ते हैं, इस से बरसात में उन की सतह की मिट्टी बहती है. परिणाम-स्वरूप चारे के पोषक गुण में कमी आती है. इस के कारण चारे में फास्फोरस और ओक्सीमोन की कमी हो जाती है

इस के बाद डाक्टर मुखर्जी नसल सुधार की सब से मुख्य कठिनाई बताते हुए लिखते हैं:

"भारतवर्ष में पशुओं की संख्या जितनी बढ़ गई है, उन की शक्ति उतनी ही कम हो गई है. यह क्रम अब इतना बढ़ गया है कि अवनति को रोकने के लिए निकम्मे पशुओं का कम करना बहुत आवश्यक है. अति प्राचीन काल की धार्मिक एवं सामाजिक भावनाएं, जिन के रहने से आज-कल गड़बड़ी होती है, इस दिक्कत को और भी बढ़ाती हैं."

"गाय या बैल को मारना हिंदू धर्म में घोर पाप है. बहुत कठिन समय में भी कट्टर हिंदू प्रायः गौवंश को बेचने में हिचकता है, क्योंकि खरीदार प्रायः कसाई होते हैं... जब तक हिंदू अपनी भावना से पूरी तरह तोबा नहीं कर लेते और भारतीय खेतीहर पशुपालन की व्यावहारिक दृष्टि से नहीं देखते, तथा वे ऐसे ढोरों की रक्षा करते जाएंगे, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी काम के नहीं हैं—" डाक्टर मुखर्जी की सम्मति में तब तक इस समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता.

गायों के साथ अत्याचार

अब गौपूजक भाइयों की सोचना है कि वे संपूर्ण गौवंश को इसी प्रकार तिल-तिल कर के मारना चाहते हैं, अथवा थोड़ी सी गायों का मोह छोड़ कर शेष गायों, बैलों और असंख्य मानव संतानों की रक्षा कर लेना अधिक श्रेयस्कर समझेंगे. उन को जरा बंबई, कलकत्ता और मद्रास इत्यादि बड़े शहरों में जा कर देखना

चाहिए कि वहाँ गायाँ पर क्या बातें हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से मेरी बात स्पष्ट हो जाएगी।

कलकत्ता के जीव दया मंडल के सभा-सदस्य बाबू ने अपने एक लेख में लिखा था: "कलकत्ते के ग्वाले गाय को दुहते समय गाय की योनि में फुंक मारते हैं या खारा पानी डालते रहते हैं, अथवा उस में उस की पूंछ, आदमी का हाथ या चार सूत व्यास वाला अठारह सूत लंबा घास का पल्ला रखते हैं। इस से पशु इस तरह कराहते हैं कि पास खड़े आदमी को उन पर दया आए बिना नहीं रहेगी। पशु की पीठ झुक जाती है और आँखें फट जाती हैं। वह कांपता रहता है और किसी आदमी को अपनी पूंछ की तरफ आते देखते ही बिदकने लगता है।

"कलकत्ता नगर तथा उस के आस-पास लगभग दस हजार गाएँ हैं, जिन में से लगभग पांच हजार को नित्यप्रति यह वेदना भोगनी पड़ती है।"

डाक्टर मोरोबो ने कलकत्ता कारपोरेशन के सम्मुख गौरक्षा विषयक जो निबंध पढ़ा था, उस का एक अंश यह है: "म्यूरी नामक पीला रंग बनाने के लिए ग्वाले गाय को केवल आम के पत्ते खिला कर रखते हैं और इस के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु न खाने को देते हैं, न पीने को पानी ही देते हैं। उस गाय का पेशाब बाजार में अच्छे दामों में बेच लेते हैं, लेकिन बेचारी गाय भूख से तड़पतड़प कर मर जाती है।"

निश्चय ही गायाँ के साथ ऐसी घोर हृदयहीनता केवल इसलिए होती है कि उन में इतना अधिक दूध देने की शक्ति नहीं रही, जिस से कि वे दूध के व्यापार के लिए लाभदायक हो सकें। परिणामस्वरूप उन से कुछ ही दिनों में अधिक से अधिक दूध प्राप्त करने के लिए दुष्ट प्रयास किए जाते हैं। बड़े नगरों में यह तो आम रिवाज सा है कि वहाँ के ग्वाले बछड़ों को इस भय से नहीं पालते कि वे गाय के दूध में हिस्सा बंटाएंगे। अतः वे उन को सड़कों

पर भूखा मरने के लिए छोड़ देते हैं, जहाँ वे ट्रामों या मोटरों की लपेट में आ कर अथवा भूख से ही दम तोड़ देते हैं। इस प्रकार मरे हुए लगभग बीस हजार बछड़ों के शव अकेली बंबई कारपोरेशन की कूड़ा गाड़ियों द्वारा प्रतिवर्ष ढोए जाते हैं।

इसी प्रकार सांडों के संबंध में बीस-वादर (गुजरात) के एक सज्जन ने गांधीजी को लिखा था:

"बहुत समय से कुंवारी मृत्यु के पश्चात् 'लील' विवाह करने की प्रथा इधर प्रचलित है, जिस के अनुसार एक बछड़े और बछिया की शादी कर दी जाती है और बछड़े को लोहे की छड़ों से दाग दिया जाता है और फिर उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है।

"इस काम में कमजोर बछड़े लिए जाते हैं। वे बड़े हो कर आबारा फिरते रहते हैं और खड़ी फसल को नुकसान पहुंचाते हैं, फलस्वरूप मार खाते हैं। कभी इन्हें कांटे सुलगा कर जला दिया जाता है और कभी इन की आँखों में मिर्च भर कर इन को मृतप्राय कर दिया जाता है।

"ये आबारा सांड कमजोर और लाड पंदा करते हैं। इस कारण गौधन घटता जाता है। किसान ऐसे बछड़े पालना नहीं चाहते, क्योंकि उन को तो बेल चाहिए। ऐसी मान्यता है कि घर के पले बछड़े को खस्सी करने में पाप लगता है, अतः किसान गौपालन नहीं करते।"

वास्तव में यह अकेले किसी एक प्रदेश की कथा नहीं है, बल्कि संपूर्ण भारतवर्ष में थोड़े हेरफेर से गौपूजा के नाम पर यही होता रहा है और इस के कारण गाय तथा उस के साथ संपूर्ण राष्ट्र रसातल की ओर गिरता जा रहा है। निकम्मे और अपंग गाय, बेल या सांडों के वध का प्रस्ताव सुनते ही जिन की आँखों से अंगारे बरसने लगते हैं, उन को यह स्थिति भी देखनी चाहिए कि क्या गौवध इस से भी बड़ा पाप है।

आज सब से बड़ी आवश्यकता ऐसा कानून बनाने के लिए आंदोलन करने की है जिस के अनुसार :

1. स्वस्थ दुधारू जानवरों का वध, चाहे वह गाय हो या भैंस अथवा कोई अन्य दुग्धोपयोगी जीव, कठोर रूप से दंडनीय घोषित कर दिया जाए.

2. अस्वस्थ, बेकार, अप्रग, निठल्ले, वृद्ध और किसी अन्य दृष्टि से अनुपयोगी जानवरों का पालनपोषण भी कठोर दंडनीय घोषित कर दिया जाए.

3. बाजार में फिरने वाली गायों और आबारा सांडों को सरकारी पिंजरापोलों में ले जाया जाए और उन में से वही जीवित रखे जाएं जो पूर्णतः स्वस्थ हों. इन स्वस्थ जानवरों को भी केवल सरकारी पशुशालाओं में ही रखना चाहिए—उन को आबारा नहीं फिरने देना चाहिए.

4. सांड केवल सरकारी पशुशालाओं में ही तैयार किए जाएं. व्यक्तिगत रूप से सांड छोड़ना गैरकानूनी ठहरा दिया जाए.

5. धर्म के नाम पर चलने वाली संपूर्ण गौशालाओं को सरकारी प्रबंध में ले लिया जाए.

6. सरकारी पशुशालाओं में गौपालन की भी शिक्षा दी जाए, तथा दूध के

7. मृत गायबैलों के शरीरों को मिट्टी में दबाना या जल प्रवाह कराना गैरकानूनी ठहरा दिया जाए. सरकारी पशुशालाओं में उन के लिए भी व्यवस्था होनी चाहिए.

8. नवजात बछड़ों को लेने और पालन करने की व्यवस्था सरकारी तौर पर की जाए. ऐसा प्रबंध हो कि वहां किसान अपने बछड़ों को वैज्ञानिक रीति से खस्सी करा सकें या बछड़े और आवश्यक रकम दे कर बैल प्राप्त कर सकें. वृद्ध व अशक्त बैलों के विनिमय का प्रबंध भी ये पशुशालाएं करें.

9. जो लोग गायों पर फूँका आदि के दुष्ट प्रयोग करते पाए जाएं उन को कठोर दंड दिया जाए.

निश्चय ही उपरोक्त मसौदे में बहुत से संशोधन अपेक्षित होंगे, किंतु आशय यही है कि इस संबंध में हम अपनी भावुकता और धार्मिक रुढ़ियों को एक किनारे रख कर केवल मानव, राष्ट्र और गौ हित के आधार पर ही विचार करना चाहिए, और यह समझ लेना चाहिए कि जब तक हम लोग ऐसा नहीं करेंगे, तब तक गाय को नहीं बचा सकेंगे, और यदि गाय नहीं बचती तो हमारा राष्ट्र भी नहीं बच सकेगा. ●

गौपूजा

आलोचनाओं व आपत्तियों का उत्तर

रतनलाल बंसल

सितंबर '52 की सरिता में प्रकाशित मेरे लेख 'आजकल का सब से बड़ा देशद्रोह—गौपूजा' पर हिंदी उर्दू के कुछ पत्रों ने और कुछ संस्थाओं के अधिकारियों ने अत्यंत तीव्र रोष प्रकट करते हुए, लेख के विरुद्ध एक आंदोलन खड़ा कर देने की चेष्टा की है।

मुझे सब से अधिक आश्चर्य तो इस बात पर है कि इन आलोचकों और हिंदू धर्म व संस्कृति के स्वनिर्वाचित रक्षकों ने मेरे लेख के उस भाग को क्यों जानबूझ कर दृष्टि से ओझल कर दिया है, जिस में मैं ने कहा है कि केवल पूजा न कर के दूध देने वाली व उपयोगी गायों की पूरी तरह रक्षा करना हमारी सब से बड़ी आवश्यकता है, और यदि हम इन गायों को नहीं बचा सकेंगे, तो हमारा राष्ट्र भी नहीं बचेगा? मैं ने जो कुछ लिखा था, या सुझाव दिए थे, वे केवल गाय व अन्य दूध देने वाले सभी पशुओं की सही तरीके से रक्षा करने के लिए ही दिए थे। लगता है, इस असली बात को मेरे आलोचकों

और धर्माधिकारियों ने इसलिए पीछे फेंक दिया है कि वे प्राचीन हिंदुओं के गौमांस खाने न खाने के प्रश्न को ले कर, 'गौहत्या' का नारा लगा कर और हिंदुओं की भावना को उभार कर अपने राज-नीतिक व अन्य स्वार्थों के लिए एक आंदोलन खड़ा कर सकें।

लेख के विरुद्ध पहली व सब से बड़ी आपत्ति यह है कि उस में वेदकालीन आर्यों को गौमांस भक्षी सिद्ध किया गया है। इस के प्रमाण में, मैं ने जो वेदमंत्र दिया है, आलोचकों ने कहा है कि उस मंत्र का अर्थ मेरे दिए गए अर्थ से भिन्न है। कुछ आलोचकों ने यह भी कहा है कि वह केवल रूपक मात्र है और उस के आधार पर यह नहीं मानना चाहिए कि प्राचीन काल में सचमुच गौवध होता था।

सभी आलोचक सज्जनों ने प्रकारांतर से यह भी लिखा है कि गौमेध नामक यज्ञ में जो गौ नामक पशु की बलि दी जाती थी—वह केवल विदेशियों द्वारा फैलाया गया भ्रम है। एक सज्जन ने तो

इसी आधार पर तर्क करते हुए लिखा है कि यदि गौमेध का अर्थ यह लिया जाए कि प्राचीन आर्य गौ की बलि दे कर उस का भक्षण करते थे, तब अश्वमेध और नरमेध से क्या यह अर्थ लिया जाए कि प्राचीन आर्य यज्ञ में घोड़े और मनुष्य की आहुति देते थे और उन का मांस खाते थे?

‘गोपूजा’ लेख लिखते समय मुझे यह किंचित मात्र भी आशा नहीं थी कि लेख के इस भाग पर आपत्ति की जाएगी और आज कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति यह विचार प्रकट करने का साहस करेगा कि वैदिक यज्ञों में पशु हिंसा नहीं होती थी, बल्कि उन्हीं नामों से पुकारी जाने वाली वनस्पतियों की आहुति दी जाती थी.

कहा गया है कि विदेशी स्लेच्छों ने हमें हीन और बर्बर दिखाने के लिए इस प्रकार की धारणाओं का प्रचार किया है और मैं तथा सरिता संपादक हिंदुओं के हृदय को आघात पहुंचाने के लिए ही इन भ्रष्ट धारणाओं का प्रचार कर रहे हैं.

आलोचक मित्रों को यह सूचना पा कर शायद बड़ा आघात लगेगा कि वैदिक यज्ञों में पशु हिंसा होने का समर्थन हमारे देश के कुछ ऐसे बड़े बड़े विद्वानों ने किया है, जो विद्वत्ता और योग्यता के कारण भारत, विशेषतः हिंदू जाति के गौरव माने जाते हैं. इतिहास और वैदिक दर्शन तथा साहित्य संबंधी अपनी स्वतंत्र एवं मौलिक शोधों से उन्होंने विदेशियों द्वारा भारतीय इतिहास के संबंध में फैलाई गई अनेक गलत बातों का ऐसा खंडन किया है कि स्वयं विदेशियों को उन की बात स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा.

लोकमान्य तिलक के विचार

इस संबंध में मैं सब से पहले लोकमान्य तिलक के एक भाषण से कुछ शब्दों को उद्धृत करूंगा, जिन से विदित होता है कि लोकमान्य कितनी स्पष्टता के साथ

वैदिक यज्ञों में पशु हिंसा होने की बात स्वीकार करते थे. लोकमान्य ने कहा था: “अहिंसा परमो धर्मः—इस उदार सिद्धांत ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है. पूर्व काल में यज्ञ के लिए असंख्य पशु हिंसा होती थी, इस के प्रमाण ‘मेघदूत’ आदि अनेक ग्रंथों में मिलते हैं. परंतु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म के हिस्से में है.” (‘मुंबई समाचार’ के 10 दिसंबर 1904 क अंक से उद्धृत. यह संपूर्ण भाषण पुस्तिका रूप में भी प्राप्य है.)

वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवानदास ने अपने लेख ‘शास्त्रवाद बनाम बृद्धिवाद’ में लिखा है:

“यदि शास्त्र शब्द ही पकड़ा जाएगा, तो फिर अन्न और घी के ही यज्ञ से संतोष क्यों? अजमेध, महिषमेध, गौमेध, अश्वमेध, नरमेध भी क्यों नहीं? सभी तो शास्त्रविहित, वेदविहित हैं. और आज भी सनातन धर्म के, वेदशास्त्र के श्रद्धालु हिंदू लोग काशी जैसे मुख्य तीर्थ स्थान में दुर्गा मंदिर में अजमेध, और पास ही विध्याचल में महिषमेध आए दिन करते ही हैं, यद्यपि वेदविहित आडंबर के बिना.”

यह लेख उन्होंने उस समय लिखा था जब एक ओर देश में अकाल पड़ रहा था और दूसरी ओर दिल्ली, काशी, प्रयाग आदि स्थानों में शास्त्रों की आज्ञा के नाम पर अनेकों यज्ञ रचाए जा रहे थे और उन में हजारों मन अनाज और घी फूँका जा रहा था. डाक्टर भगवानदास ने उसी ओर संकेत करते हुए कहा है कि यदि शास्त्रों के आधार पर ही चलना है तो अन्न और घी से ही क्या, घोड़ा, गाय, बकरा, भैंसा और मनुष्य की आहुति दिए जाने का विधान जिन यज्ञों में है, वे यज्ञ भी क्यों नहीं करते?

श्री जयचंद्र विद्यालंकार की प्रसिद्ध पुस्तक ‘भारतीय इतिहास की रूपरेखा’ (प्रथम भाग) से कुछ शब्द देखिए. इस

सरिता के सितंबर* अंक में प्रकाशित 'गौपूजा' लेख पर हिंदी उर्दू के कुछ पत्रों व संस्थाओं ने "हिंदू धर्म व संस्कृति खतरे में" नारा लगाते हुए सरकार से मांग की है कि इस के लेखक व सरिता के संपादक पर मुकदमा चलाया जाए। हम भी इस मांग का पूरा समर्थन करते हैं, ताकि सारे हिंदू संसार को मालूम हो जाए कि उन की दलीलों में कितना दम है, और इस आंदोलन के पीछे कौन सी प्रवृत्तियां काम कर रही हैं।—संपादक, सरिता (1952)*

पुस्तक के पृष्ठ 251 (द्वितीय संस्करण) पर वेदकालीन आर्यों के आहारविहार की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है:

"आर्य लोग पूरे मांसाहारी थे। गाय को उस समय भी अर्ध्या अर्थात् न मारने लायक कहने लगे थे, तो भी विवाह के समय या अतिथि के आने पर बैल अथवा बेहूत (बाँभ गाय) को मारने की प्रथा थी।"

श्री जयचंद्र की संपूर्ण शिक्षादीक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई है। आर्यों और वैदिक साहित्य के प्रति गौरवमय भावना तथा अनंत श्रद्धा उन की पुस्तकों की विशेषता है। आजकल वह हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रधान हैं और विगत वर्षों में सम्मेलन द्वारा आयोजित अनेक इतिहास परिषदों का सभापतित्व कर चुके हैं। उन की यह पुस्तक, जिस से उपरोक्त अंश उद्धृत किया गया है, भारतीय इतिहास साहित्य में गर्व करने योग्य मानी जाती है, हिंदी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में स्वीकृत है। अपने इस कथन के प्रमाणस्वरूप अर्थात् वेदकालीन आर्यों को गौमांस भक्षी सिद्ध करने के लिए जयवंद्रजी ने वहीं फुटनोट में कुछ वेदमंत्रों और ब्राह्मण ग्रंथों के स्थलों की ओर संकेत किया है।

हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान लेखक श्री भगवतशरण उपाध्याय ने अपने

ग्रंथ 'भारत का प्राचीन इतिहास' के पृष्ठ 32 पर लिखा है:

"ऋग्वेदकालीन आर्यों के आहार अन्न और मांस दोनों ही थे . . . भेड़, बकरी का मांस अधिकता से खाया जाता था। मांस आर्य लोग अपने देवताओं की पूजा में भी व्यवहृत करते थे। यज्ञों में देवपूजन से अवशिष्ट मांस ऋत्विज और यजमान दोनों का ही भक्ष्य था। उत्सव में और अतिथियों के स्वागत के अवसर पर भोजन के निमित्त गाय का बछड़ा मारा जाता था। इसी कारण 'अतिथिग्व' उस की संज्ञा हो गई थी। परंतु अपनी उपादेयता के कारण शीघ्र ही गाय की संज्ञा अर्ध्या हो गई। ऋषियों ने उस की स्तुति में गीत गाए और उस का वध निषिद्ध हो गया।"

आचार्य काका कालेलकर ने भी अपने एक लेख 'गौरक्षा' में लिखा है:

"बहुत प्राचीन काल में हिंदुस्तान में एक समय था जब गौवध निषिद्ध नहीं था। सब पशुओं की हिंसा होती थी।" (यह लेख तबजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, से प्रकाशित पुस्तक 'गौसेवा' में संग्रहीत है। पुस्तक के लेखक महात्मा गांधी हैं।)

वेदवेदांगों के प्रसिद्ध ज्ञाता श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने, जो आजकल संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्यालय, प्राज्ञ पाठशाला, स्थानवाड़ी (सतारा), के मुख्य आचार्य हैं और संपूर्ण हिंदू धर्म शास्त्रों

को 'धर्म की' के रूप में सिद्ध करने का जो विराट प्रयास महाराष्ट्र में प्रारंभ हुआ है, उस के मुख्य संपादक हैं, गोमेध और प्राचीन आर्यों द्वारा गोमांस भक्षण के विषय पर लिखा है :

“उस समय की सामाजिक स्थिति ऐसी थी. समाज के निर्वाह के लिए उपयोगी गौ आदि पशुओं की हत्या धर्म के नाम पर भक्षण के लिए की जाती थी. यह यज्ञार्थ होती थी.” (‘हिंदू धर्म की समीक्षा,’ हिंदी संस्करण, पृष्ठ 136).

इसी पुस्तक के पृष्ठ 124 पर ‘वैदिक आर्यों का श्रौत-स्मार्त धर्म’ शीर्षक से शास्त्रीजी ने लिखा है :

“उन में गोमेध, अश्वमेध, अजमेध आदि पशु यज्ञों का धर्म था.”

ऋग्वेद काल में नरमेध

श्री कन्हैयालाल मुंशी (गवर्नर, उत्तर प्रदेश) ने अपने उपन्यास ‘भगवान परशुराम’ और ‘लोमहर्षिणी’ की भूमिका में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्राचीन काल में नरमेध यज्ञ होता था, जिस में मनुष्य की बलि दी जाती थी. वह ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेष के प्रकरण की रूपक नहीं मानते, बल्कि ऋग्वेद काल में घटित एक वास्तविक घटना मानते हैं. उन्होंने बड़ी ही गंभीरता के साथ चित्रित किया है कि अनेक ऋषि शुनःशेष नामक ऋषिपुत्र की बलि दे कर उस के मांस की आहुति देना चाहते थे, किंतु विश्वामित्र ने इस में बाधा डाल दी.

इस के अलावा मैं पाठकों से प्रार्थना करूंगा कि वे राहुलजी की ‘मानव समाज’ व ‘बोल्गा से गंगा,’ डाक्टर ग्रंथेडकर की ‘शुद्रों की खोज’ व ‘अछूत क्यों और कैसे,’ श्री रजनीकांत शास्त्री की ‘हिंदू जाति का उत्थान और पतन’ तथा ‘मानस गोमांस,’ श्री धर्मानंद कौसांबी की ‘भारतीय संस्कृति और अहिंसा’ तथा श्री डांगे की ‘भारत’ पुस्तकें पढ़ने की कृपा करें.

इतना तो समझ ही लेंगे कि गोपूजा लेख के प्रकाशन के विरुद्ध जो प्रचार किया जा रहा है, उस के भीतर अवश्य ही कोई दूसरी प्रेरणा है, अन्यथा उपरोक्त ग्रंथों में ऐसे-ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है, जिस से हमें अपने प्राचीन ऋषिमुनियों के संबंध में एक दूसरे ही दृष्टिकोण को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है. इन पुस्तकों में से अधिकांश के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, इसलिए ये पुस्तकें लेख के विरोध में आंदोलन करने वाले विद्वानों और संपादकों की दृष्टि में न आई हों, इस पर कौन विश्वास करेगा?

मुना है सरिता के विरुद्ध आंदोलती काररवाई होने जा रही है और इस के लिए कुछ मित्रों ने बड़े ही जोशखरोश के साथ चंदा भी इकट्ठा करना शुरू कर दिया है. यह बात इस प्रश्न का उत्तर भी है कि उन पुस्तकों के विरुद्ध कोई आंदोलन क्यों नहीं खड़ा किया गया और सरिता पर ही क्यों लोग कमर कसे हुए हैं. साफ बात यह है कि जिस प्रकार ‘अमृतपत्रिका’ के संबंध में धर्मांध मुसलमानों ने जो उच्छृंखलता दिखाई है और एक छोटी सी घटना पर मुस्लिम जनता को भड़का कर अनेक मुसलमान नेताओं ने अपनी जेबें भरी हैं, उसी तरह इस लेख के विरोधी महानुभाव भी अपनी जेबें भर लेने का अवसर खोज रहे हैं. कुछ लोगों ने तो साफसाफ इसी उदाहरण को उपस्थित कर के हिंदू जनता को भड़काने की चेष्टा की है.

अब मैं मूल ग्रंथों में से भी थोड़े से उद्धरण देना चाहूंगा. इन उद्धरणों से पाठक यह भी समझ सकेंगे कि प्राचीन आर्यों में गोमेध और गोमांस भक्षण प्रथा प्रचलित होने के तथ्य को स्वीकार करने पर उपरोक्त विद्वान क्यों विवश हुए. इस विषय में वेदों में अनेक मंत्र आते हैं, किंतु उन मंत्रों के अर्थ भिन्नभिन्न किए जाते हैं.

वेदों पर सायणाचार्य के भाष्य की प्रायः सनातनी जगत मानता है। सायणाचार्य ने मंत्रों के जो अर्थ दिए हैं वे बिना शक यह प्रमाणित करते हैं कि गौमेध में गाय नामक पशु की बलि दी जाती थी। आर्यों का देवता इंद्र बैलों को पकापका कर खाता था। सनातन धर्मी बंधुओं का कहना है कि सायणाचार्य का भाष्य तो ठीक है, किंतु उस समय हमारे यज्ञकर्त्ता ऐसी अलौकिक शक्ति रखते थे कि वे यज्ञ में होम किए गए पशुओं को पुनः जीवित कर देते थे।

महर्षि दयानंद का मत

महर्षि दयानंद को यह तर्क ठीक नहीं जान पड़ा, दूसरी ओर उन की श्रद्धा भी यह सहन नहीं कर सकती थी कि प्राचीन आर्य गाय, घोड़ा, मनुष्य की बलि देते थे। इसलिए उन्होंने और उन के परवर्त्ती कुछ आर्य समाजी विद्वानों ने वेद मंत्रों के अर्थ दूसरी ही पद्धति से करने प्रारंभ किए। किंतु अन्य धार्मिक ग्रंथ, यहां तक कि ब्राह्मण ग्रंथ भी, जिन में वैदिक कर्मकांडों का विस्तार है और इसी लिए जिन को वेदांग ही माना जाता है, महर्षि दयानंद की शैली से किए गए वेदार्थों के विरोध में पड़ते हैं।

‘वाल्मीकीय रामायण,’ ‘महाभारत’ इत्यादि ग्रंथ और ‘मेघदूत’ तथा ‘उत्तर-रामचरित’ जैसे काव्य और नाटक भी ऐसे तथ्यों को प्रकट करते हैं, जो सायणाचार्य के भाष्य से तो मेल खाते हैं, किंतु महर्षि दयानंद की शैली से किए गए भाष्य से नहीं।

तब आर्य समाजी बंधुओं ने यह कहना शुरू किया कि यह सब स्थल प्रक्षिप्त यानी बाद में मिला दिए गए हैं, अतः उन को हम प्रामाणिक नहीं मानते। किंतु निष्पक्ष विद्वानों को यह तर्क प्रभावित नहीं कर सका। यहां तक कि आर्य समाज के कठोर नियंत्रण में संचालित होने वाले

गुरुकुल के विद्यार्थियों के मन में भी यह तर्कहीन युक्ति नहीं बैठ सकी।

गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने इसी प्रकार की एक घटना का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक ‘राष्ट्र धर्म’ (प्रथम संस्करण, पृष्ठ 13-14) में लिखा है :

“गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी, के महाविद्यालय विभाग की तीसरी कक्षा की बात है। वैदिक साहित्य की पढ़ाई चल रही थी। गुरुजी शतपथ ब्राह्मण में से गौमेध यज्ञ का प्रकरण पढ़ा रहे थे। उन्होंने अपने विचार के अनुसार गौमेध यज्ञ की व्याख्या करते हुए बताया कि किस प्रकार गाय को स्तूप के साथ बांध कर यज्ञ में उस की बलि दी जाए। गौमेध यज्ञ की यह व्याख्या समाप्त होते न होते एक विद्यार्थी ने गुरुजी से कुछ शंका प्रकट करने की इच्छा प्रकट की। गुरुजी ने उस को प्रसन्नतापूर्वक शंका प्रकट करने के लिए कहा। विद्यार्थी ने विनीत भाव से पूछा कि यदि गौमेध यज्ञ की इस व्याख्या को ठीक मान लिया जाए, तो ईद को कुरबानी और इस गौमेध यज्ञ में क्या अंतर है? गुरुजी ने लगभग एक घंटे तक संस्कृत में व्याख्यान दिया और शंका का समाधान करने का प्रयत्न किया, पर शंका नहीं मिटी। विद्यार्थी ने जब फिर शंका प्रकट की, तो गुरुजी इतने आवेश में आ गए कि उन्होंने विद्यार्थी को नास्तिक और शास्त्र पढ़ने के लिए अनधिकारी इत्यादि कह कर उस शंका को दबा देना चाहा।”

उपरोक्त घटना उद्धृत करने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि पाठक समझ सकें कि श्री सत्यदेव विद्यालंकार जैसे गुरुकुल में पठित पाठित विद्वान भी क्यों यह मानने लगे कि वेदों में गौमांस भक्षण है और गौमेध में गाय नामक पशु की ही बलि दी जाती थी। वास्तव में आर्य समाज के अधिकांश विद्वान भी कदाचित इस संबंध में भीतर ही भीतर ऐसा ही विश्वास

रखते थे, और आचरण में भी इसी के अनुसार पठन पाठन होता था।

आर्यों को गोमांस भक्षी सिद्ध करने के लिए आचार्यजी ने और भी अक्राट्य प्रमाण दिए हैं।

गौ का अर्थ औषधि नहीं

वसिष्ठ स्मृति, अध्याय 4, में कहा गया है :

गौमेध यज्ञ में गाय नामक पशु नहीं, बल्कि इस नाम की कोई औषधि डाली जाती होगी और प्राचीन आर्य गोमांस नहीं खाते थे, इस पर यह विद्वान कैसे विश्वास कर लेते, जब कि गोपथ ब्राह्मण में यह भी बता दिया गया है कि बलि पशु के किस भाग को कौन पाने का अधिकारी है। इस बंटवारे के अनुसार जीभ, गला, कंधा, नितंब, टांग पुरोहित पाते थे। यजमान पीठ का भाग लेता था और उस की स्त्री को पेड़ के भाग से संतोष करना पड़ता था। मूल संस्कृत में इस प्रकार है।

“अथापि ब्राह्मणाय व राजन्याय वा अभ्यागताय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्-एवमस्यातिथ्यं कुर्वन्तीति।”

अर्थ : और अपने यहां यदि ब्राह्मण अथवा राजा अतिथि आए, तो उस के लिए एक बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकाना चाहिए। उस अतिथि का सत्कार इसी प्रकार करते हैं।

‘शब्दकल्पद्रुम’ में गौमेध की व्याख्या

‘शब्दकल्पद्रुम’ में गौमेध की यह व्याख्या दी गई है :

“अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं-व्याख्यास्यमः उद्धृत्यावदानि हनू सजिह्वे प्रस्तोतुः कंठः सककुदः प्रतिहर्तुः, श्येनपक्ष उद्गातुः दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः . . .” इत्यादि। गोपथ ब्राह्मणः (3.18.)

“यज्ञ विशेषः अत्र स्त्रीगोपशुः मंत्रेषु स्त्रीलिंग पाठात्. तस्य लक्षणम्-सप्तशफत्व नवशफत्व-भग्नशृंगत्व-काणत्व-छिन्नकर्णत्व-वादि दोषराहित्यम्. तस्य प्रयोगः सर्वोऽपिछागपशुवत्. यजमानस्य स्वर्गः फलम्, गोश्च गोलोकप्राप्तिः. तस्य च कलौनिषेधो यथा— ‘अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्. देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौपंच विवर्जयेत्’ इति आपस्तम्भ कल्पसूत्र पुराणे.”

एतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का विभाजन बताया गया है।

शतपथ ब्राह्मण (3.1.2.21) में एक विवाद दिया गया है कि पुरोहित को बैल का मांस खाना चाहिए या गाय का? अंत में परिणाम निकाला गया कि दोनों ही मांस न खाने चाहिए। परंतु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि वह मांस नरम हो तो खा सकते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद (6.4.18) में कहा गया है कि यदि कोई चाहता है कि उस का पुत्र विद्वान्, विजयी और सर्व वेदों का ज्ञाता हो, तो वह बैल का मांस चावल के साथ पका कर घी डाल कर खाए।

उपरोक्त तीनों उद्धरण में ने प्रसिद्ध लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक ‘धर्म के नाम पर’ में से लिए हैं। प्राचीन

अर्थ : यह एक यज्ञ विशेष है। यहां पर ‘गौ’ शब्द से स्त्री गो पशु अर्थात् गाय, न कि बैल, सांड या वाछा, अभिप्रेत है; क्योंकि मंत्रों में स्त्रीलिंग का पाठ है। उस गाय का यह लक्षण होना चाहिए कि वह सात खुरवाली, नौ खुरवाली, टूटे सींग वाली कानी या कनकटो न हो। उस में यह दोष न होने चाहिए। उस का संपूर्ण प्रयोग छाग (बकरा) की ही भांति होना चाहिए गौमेध का फल यजमान के लिए स्वर्ग और

गाय के लिए गोलोक की प्राप्ति है। गौमेध महाभारत, अध्याय 208, वन पर्व, श्लोक 8 तथा 9 इस प्रकार हैं :

“राज्ञो महानुसे पूर्व रंतिदेवस्य वै द्विज, अहन्यहीनवध्येते द्वेसहस्त्रेगवां तथा. समांसं ददतो ह्यन्नं रंतिदेवस्य नित्यशः, अनुलाकीर्त्तिरभवन्नृपस्य द्विजसत्तम.”

वृहन्नारदीय संहिता में भी कहा गया है :

“समुद्रयात्रा-स्वीकारः, कमंडलुविधारणम्, द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमः, तथा देवरेण सुतोत्पत्तिः, मधुपर्क पशोर्वधः मांसोदनं तथा श्राद्धे, वानप्रस्थाश्रमः, तथा दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्दानं परस्यच, दीर्घकालं ब्रह्मचर्यम्, नरमेधाश्वमेधकौ, महाप्रस्थानगमनम्, गौमेधं च मखं तथा, इमान् धर्म्मन् कलियुगेवर्ज्यानाहुः मतीषिणः.”

अर्थ : समुद्रयात्रा, संन्यास ग्रहण, द्विजातियों का असवर्ण कन्याओं से विवाह, देवर से सुतोत्पादन, मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में मांस का पिंड दान, वानप्रस्थाश्रम, जो कन्या एक बार दान कर दी गई पुनः उस का किसी अन्य वर को दान, दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना, नरमेध तथा अश्वमेध, महाप्रस्थान गमन (असाध्य रोग होने पर शास्त्रोक्त विधि से आत्महत्या), और गौमेध—इन धर्मों को कलियुग में वर्जित किया गया है।

स्पष्ट है कि उपरोक्त शास्त्रों की रचना होने के समय तक गौमेध तथा उपरोक्त कार्यों को निंदनीय माना जाने लगा था। यही मैंने अपने लेख में लिखा था कि गाय की उपयोगिता जैसे ही आर्थिक दृष्टि से बढ़ती गई, गौमेध का विरोध होने लगा। इस के पश्चात् तो यज्ञों में पशुहिंसा का ही विरोध हुआ। इसी लिए उपर्युक्त शास्त्रकार कलियुग में गौमेध की आज्ञा नहीं देते। किंतु उपरोक्त निषेध से इतना तो प्रमाणित होता ही है कि प्राचीन काल में गौमेध प्रचलित था और उस में गौ पशु की बलि दी जाती थी, अन्यथा उस का निषेध ही क्यों किया जाता?

अर्थ : राजा रंतिदेव की पाकशाला में प्रति दिन 2000 गाएँ कटती थीं। मांस के साथ अन्न का दान करतेकरते रंतिदेव की कीर्ति अद्वितीय हो गई।

इसी बात को फिर दोबारा द्रोण पर्व, अध्याय 67, श्लोक 16, में इस प्रकार कहा गया है :

“सांकृते रंतिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्, आलभ्यंत तदा गावः सहस्राण्येकविंशति.”

अर्थ : संकृति के पुत्र राजा रंतिदेव के घर पर जिस रात में अतिथियों ने निवास किया, उस रात इक्कीस हजार गाएँ मारी गईं।

‘महाभारत’ के इसी पर्व और अध्याय के 5वें श्लोक में बताया गया है कि राजा रंतिदेव ने गौमेध यज्ञ में इतनी गायों का वध किया कि उन के रक्त, मांस, मज्जा से एक चर्मण्वती नामक नदी ही बह निकली :

“नदी महानसाद्यस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः, तस्माच्चर्मण्वती पूर्वमग्निहोत्रेऽभवत्पुरा.”

महाकवि कालिदास ने अपने ‘मेघदूत’ काव्य, पूर्वार्द्ध, श्लोक 45, में भी इसी प्रकार चर्मण्वती नदी का वर्णन किया है और फिर मल्लीनाथ कृत ‘मेघदूत’ की टीका में भी राजा रंतिदेव द्वारा किए गए गौमेध से चर्मण्वती नदी के बह निकलने का वर्णन है।

लेख में लोकमान्य तिलक के भाषण से उद्धृत अंश (पृष्ठ 18) में यज्ञों में पशु-

हिंसा सिद्ध करने वाले को स्वीकार करते समय 'मेघदूत' का इसी लिए उल्लेख किया है कि वह भी इसे प्रामाणिक मानते थे।

भिन्नभिन्न काल में रचे गए भिन्नभिन्न काव्य ग्रंथों में जब एक प्रकार से ही वर्णन मिलता है, तब कोई विद्वान कैसे कह दें कि यह तो बाद में लगा दिए गए हैं?

‘उत्तरे रामचरिते भवभूतिविशिष्यते’ अर्थात् ‘उत्तर रामचरित लिखने में भवभूति ने विशेष योग्यता दिखाई है’—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार महाकवि भवभूति की सर्वोत्कृष्ट कृति ‘उत्तर रामचरित’ के चतुर्थ अंक में महर्षि वसिष्ठ की वाल्मीकि आश्रम में महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रदत्त गौवत्सरी (गाय की बछिया) के मांस से युक्त मधुपर्क को ग्रहण करते हुए दिखाया गया है। इस ग्रंथ का उल्लेख मैं ने अपने लेख ‘गौपूजा’ में भी किया है, जिस पर दिल्ली के एक उर्दू दैनिक ने मुझे निहायत लजीज गालियां देते हुए पूछा है कि जब मैं यह लिख चुका हूं कि बौद्धकाल में गौमेध बंद हो गया था, तब भवभूति, जो बुद्ध के कई सौ वर्ष बाद हुआ, अपने नाटक में यह कैसे लिख जाता कि वसिष्ठ ने गौवत्सरी का मांस ग्रहण किया था?

यह सवाल ठीक ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि जब ब्रिटिश सरकार सन 1845 के एक्ट 21 द्वारा नरमेध यज्ञ को दंडनीय घोषित कर चुकी थी, तब 1948 में प्रकाशित अपने उपन्यास ‘लोमहर्षिणी’ में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने यह कैसे लिख दिया कि ऋग्वेदकालीन आर्य नरमेध करते थे!

वसिष्ठ का कथन

वसिष्ठ ने एक स्थान पर कहा है :

“शवाविच्छल्लक शशकच्छप गोधाः पंचनखा नाभक्ष्याः अनुष्टाः पशूनामन्यतो-दन्तश्च मत्स्यानां वा वहगवयः शिशुमार नक्र कुलीराः अविभूतरूपाः सर्पशीर्षाश्च गौर गवयः शलभाश्चानुदिष्टास्तथा धेन्वनड्वा-

होमेधोवाजसनेयते खड्गेतुविवदन्तिग्रास्य-शूकर च इत्यादि.

अर्थ : साही, सेई, खरगोश, कछुआ और गोह, ये पांच नख वाले जीव अभक्ष्य नहीं हैं। ऊंट के अतिरिक्त अन्य पशु भी जो एक तरफ दांत वाले हैं, अभक्ष्य नहीं हैं। मत्स्यों में दरियाई नीलगाय, संगमाही, नक्र केकड़ा तथा वे जिन का आकार बुरा नहीं है और वे जिन का सिर सांप के समान नहीं है, अभक्ष्य नहीं हैं। वाजसनेय मत में गाय और बेल भी पवित्र अर्थात् भक्ष्य हैं। गंडे और ग्रामशूकर के संबंध में ऋषिगण विवाद करते हैं अर्थात् कोई उन्हें भक्ष्य और कोई उन्हें अभक्ष्य बताता है।

इसी प्रकार के और भी सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। आश्वालायन गृह्यसूत्र, अध्याय 4, खंड 10, में शूलगव नामक यज्ञ का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

“शूलगव शरत काल अथवा वसंत काल में करना चाहिए। वह आर्द्रा नक्षत्र में करना चाहिए। अपनी गौशाला का सब से अच्छा बेल छांट लेना चाहिए। वह पृषद् वर्ण होना चाहिए। कोई चित्र वर्ण वाला भी कहते हैं। ऊंचे स्कंध वाला काला बेल हो तो उत्तम ही है। उस का चावल या जौ के पानी से अभिषेक करना चाहिए। वह इस प्रकार : ‘रुद्राय महादेवाय जुष्टो वर्धस्व.’ अन्तर उसे मार कर आहुतियां दे। वह इस प्रकार : ‘हराय कृपाय शर्वाय शिवाय भवाय महादेवायोऽग्राय पशुपतये रुद्राय शंकराय शानायाऽशनये स्वाहा.’ उस की पूंछ और चमड़ा, सिर और पैर अग्नि में डाले। किंतु शांबव्य आचार्य कहते हैं कि चमड़े का उपभोग करे।”

वंवाहिक पद्धति में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जिन से गौवध प्रमाणित होता है। ग्रंथ के ग्रंथ ऐसे उद्धरणों से तैयार किए जा सकते हैं, किंतु मैं इस प्रकार के और

बहुत से उद्धरण दे कर पाठकों के धैर्य की परीक्षा नहीं लेना चाहता।

एक उर्दू दैनिक के संपादक महोदय ने मांग की है कि ऐसी तमाम किताबें जवत कर ली जाएं, जो साबित करती हैं कि प्राचीन आर्य गौमांस भक्षी थे। लेकिन वह यह तो सोचें कि इस तरह की तमाम किताबों की जवती के अर्थ क्या होते हैं? सायणाचार्य तथा उसी पद्धति पर किए गए अनेक वेद भाष्य, अनेक ब्राह्मण ग्रंथ, अनेक संहिताएं, अनेक उपनिषद, महाभारत, मेघदूत, उत्तर रामचरित नाटक, अनेक आचार सूत्र और फिर लोकमान्य तिलक, डाक्टर भगवानदास, श्री जयचंद्र विद्यालंकार, श्री कन्हैयालाल मुंशी की रचनाओं को जवत करना ही तो। पाठकगण इस मांग के आधार पर ही 'गौपूजा' लेख के विरोधियों की मानसिक स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।

जानवर और इनसान बराबर नहीं हैं

लेख का वह अंश भी आपत्तिजनक माना गया है, जिस में यह सुझाव है कि गौवंश की अभिवृद्धि के लिए दुर्बल, अपांग, निठल्ली व बेकार गायों को नष्ट कर दिया जाए।

इस सुझाव के विरोध में प्रायः सभी ने तर्क उपस्थित किया है कि फिर बेकार, अपांग, दुर्बल और रोगी मनुष्यों को भी समाप्त कर दिया जाए? वृद्ध मातापिता को भी क्यों न कसाईखाने भेज दिया जाए?

मैं अपने इन मित्रों से पूछना चाहता हूं कि क्या उन्होंने किसी भी ऐसे व्यक्ति को आज तक देखा है, जो अपने माता-पिता के गले में रस्सा डाल कर उन्हें खंटे से बांध कर रखता हो, ताकि वे किसी दूसरे के घर में न घुस जाएं, उन्हें बाजार में खरीदता बेचता हो, और उनका दूध निकाल कर स्वयं पी जाता हो या बाजार में बेच कर मुनाफा कमाता हो, और उन

के नर बच्चों को हल व ठेलों में बेरहमी से जोतता हो या गरम लोहे से दाग कर बाजारों में खुला छोड़ देता हो ताकि उन्हें जो मादा मिले, उस पर बलात्कार करने लगे? स्पष्ट है कि उन्होंने एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा होगा, लेकिन गाय के साथ यही बरताव वे खुद भी करते होंगे। क्यों? इसलिए कि गाय और आदमी में अंतर है।

गाय के बछड़े को हम इस तरह से बांधते हैं कि वह गाय तक न पहुंच सके और वह गाय का दूध न पी जाए, जो उस का जन्मसिद्ध अधिकार है। गाय कभीकभी इस पर नाराज हो कर दूध चढ़ा जाती है, तो हम तरहतरह से उसे डराते धमकाते हैं। क्या ऐसा ही बरताव हम किसी इनसान के साथ करते हैं? यदि नहीं, तो जानवर और इनसान की बराबरी का तर्क उपस्थित करने में क्या तत्व है।

फिर यह सवाल गाय के लिए ही क्यों उठता है, दूसरे प्राणियों के लिए क्यों नहीं? आज सरकार अन्न की कमी को पूरा करने के लिए मछलियों की पैदावार बढ़ा रही है। अन्न की कमी की वजह से इनसान दूसरे इनसान को तो नहीं खा सकता, फिर मछलियों को कैसे खा सकता है? इस तर्क के सहारे इन आलोचकों को चाहिए कि वे मछली पालन के विरुद्ध भी सत्याग्रह करें।

पूजा के लिए और खाने के लिए आज भी असंख्य बकरे, बकरी, भैंस, भैंसे, मुरगे इत्यादि काटे जाते हैं। अगर दूध देने की ही दलील हो, तो इन में से अनेकों दूध भी देते हैं। लेकिन उन की हत्या के विरुद्ध तो कोई आंदोलन नहीं किया गया। फिर गाय के नाम पर ही मनुष्य और पशु को एक स्तर पर लाने की, उस के साथ एक सा व्यवहार करने की उदारता और महानता क्यों उमड़ने लगती है?

केवल इसलिए कि गौपूजा और गौ रक्षा के नाम पर एक पूरा वर्ग अंधश्रद्धालुओं को ठग कर अपना पेट पालता है।

अन्यथा अपनी इस गौमाता के साथ वे स्वयं कैसा व्यवहार करते हैं, इस का बोधत्स रूप तीर्थों में देखिए, जहां एक मृतप्राय बछिया को गंगाजल में खड़ा किए पूज्य पंडितजी पांच आने, दस आने, सवा रुपया ले कर गौदान का फल बेचते हैं. वह बछिया कुछ ही दिनों में बीमार रह कर मर जाती है.

मैं इन तथाकथित गौभक्तों से पूछता हूं कि आज तक इस के विरुद्ध कोई आंदोलन क्यों नहीं किया गया? फूँका प्रथा के विरुद्ध किसी ने प्रदर्शन या सत्याग्रह क्यों नहीं किया? गायों की क्रूरतापूर्ण हत्या के जो और रूप और तरीके मैं ने अपने पहले लेख में गिनाए हैं, उन को दूर करने का कोई उपाय क्यों नहीं किया गया? जो लोग अपनी पालतू गायों का दूध निकाल कर उन को दिन भर इधरउधर मुंह मारने, जहांतहां पिटने तथा भक्ष्यभक्ष्य खाने के लिए छोड़ देते हैं, उस के बारे में कुछ क्यों नहीं किया गया?

हिंदू धर्म खतरे में ?

दलील दी जाती है कि हिंदू जाति सदियों से गाय को पूज्य मानती आई है, इसलिए ऐसे सुझाव नहीं दिए जाने चाहिए क्योंकि इस से हिंदू जाति के हृदय को आघात लगता है, उस की भावनाओं को ठेस पहुंचती है.

मैं पूछता हूं कि जब स्त्री शिक्षा का प्रश्न पहलेपहल उठाया गया था, तब हिंदू जाति के हृदय को क्या कुछ कम आघात लगा था? बंबई प्रांत में पहली कन्या पाठशाला खोलने वाले महात्मा जोतिबा फुले को उन के इस 'धर्मविरोधी कार्य' के अपराध में उन के पिता ने भी घर से निकाल दिया था. उन की पत्नी पार्वती-बाई जब लड़कियों को पढ़ाने पाठशाला में जाती थीं, तो आतेजाते समय उन्हें धर्मप्रेमी जनता के हाथों पत्थर खाने पड़ते थे.

सती प्रथा बंद किए जाने के विरोध में तो एक नूतन ही बंधनकार दिया गया था. और आज भी ऐसे लोग हैं जो सती प्रथा को बंद कराने वाले स्वर्गीय राजा राममोहन राय को इसी अपराध के कारण हिंदू मानने के लिए तैयार नहीं.

शारदा बिल उपस्थित कर के जब बालविवाह रोका गया था, तब क्या बेचारे हिंदू धर्म के प्राण गले तक आ गए थे? गांधीजी के अछूतोद्धार आंदोलन के विरोध में जो बड़ेबड़े प्रदर्शन किए गए थे और उन पर लाठियों की वर्षा की गई थी, तथा उन पर प्राणघातक बम फेंका गया था, यह सब भी तो एक भोषण संकट से हिंदू जाति को बचाने के लिए ही किया गया था.

अंतर्जातीय विवाह, मंदिर प्रवेश, एक पत्नी के रहते दूसरे विवाह का निषेध, विधवाविवाह आदि तो आज भी हिंदू के लिए विनाशकारी माने जाते हैं. तब क्या हमारा अपना भी यही दृष्टिकोण हो जाना चाहिए?

कहा जाएगा कि छुआछूत, बाल-विवाह आदि के विरोध में फिर भी एक लोकमत तैयार हो चुका है, किंतु गायों के संबंध में ऐसा सुभाव सुनने के लिए तो कोई भी तैयार नहीं है.

मेरा उत्तर है कि क्या छुआछूत, बालविवाह इत्यादि के विरोधियों को संख्या प्रारंभ में उंगलियों पर गिने जाने लायक नहीं थी? और क्या उन को स्लेच्छ, धर्मभ्रष्ट, हिंदू जाति का शत्रु इत्यादि की उपाधियां नहीं दी गई थीं?

इस के अतिरिक्त यह भी एक भ्रम है कि गायों के संबंध में ऐसा सुभाव सुनने के लिए कोई तैयार नहीं है. मैं ने जो बूढ़ी, अपंग, दुर्बल गायों को नष्ट करने का सुभाव दिया है, वह मेरा मौलिक सुभाव नहीं है. यही सुभाव अब तक अनेक प्रसिद्ध हिंदू अर्थशास्त्री दे चुके हैं. श्री राधाकमल मुखर्जी के लेखांश को तो, जिस में स्पष्टतः उन्होंने यही सुभाव

दिया है, मैं ने अपने लेख 'गौपूजा' में उद्धृत ही किया है। पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि श्री मुखर्जी की 'फूड प्लानिंग फार फोर हंडरेड मिलियंस' पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।

बेकार गायों का नाश

बेकार गायों को नष्ट करने के सुभाव पर उत्तेजित होने वाले महानुभावों को तो ज्ञात है ही कि वृक्ष भी हमारे धर्म शास्त्रों के अनुसार पूज्य हैं और उन को नष्ट करना, उखाड़ना पाप है। किंतु हम अपने बाग के निर्बल बेकार वृक्षों को इसलिए नष्ट कर देते हैं कि उपयोगी वृक्ष जीवित रह सकें। यदि माली निराई करना बंद कर दे, यानी घास की अथवा रोगी, फलहीन वृक्षों की कांटछांट न करे, तो क्या उस बाग के शेष वृक्ष जीवित रह सकेंगे? गाय के संबंध में भी हमें इसी दृष्टिकोण को अपनाना होगा।

प्रश्न हो सकता है कि यदि वृद्ध, अपांग, दुर्बल, गायों की रक्षा करते हुए भी गौवंश की अभिवृद्धि की जा सके, तो बेकार गायों को नष्ट करने पर ही क्यों जोर दिया जाए ?

इस का उत्तर यही है कि क्या ऐसा होना संभव है? हमारे पास क्या इतना चारा और गल्ला है कि हम अपने स्वस्थ पशुओं का भी पेट भर सकें? हम करोड़ों रुपए का अन्न बाहर से मंगते हैं, फिर भी देश के अनेक भागों में अकाल रहता है और भुखमरी से मृत्यु होती रहती है। ऐसी स्थिति में क्या बेकार पशुओं को हम खिला सकते हैं? कहा जाएगा कि गाएं हमारे लिए पूज्य हैं, अतः हम भूखों मर लेंगे, किंतु अपने हिस्से का खाद्य पदार्थ गाय को खिला कर उस की प्राण रक्षा करेंगे।

किंतु हाल में ही जब हिसार में, जो हमारे देश में गौवंश की उत्तम नस्ल के लिए प्रसिद्ध है, चारे की कमी के

कारण हजारों गाएँ भूखों मर गईं, तब वहां कितने गौभक्त अपने हिस्से का खाद्य पदार्थ ले कर गायों को खिलाने पहुंचे थे?

हमारा देश आज अन्नोत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। अन्न के स्थान पर यदि हम चारे का उत्पादन बढ़ाने लेंगे, तो हमारे देश की कितनी भयंकर स्थिति हो जाएगी, इस का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। आज तो प्रश्न यह है कि हमें बेकार पशु जीवित रखने हैं या मनुष्य?

गांधीजी के विचार

बेकार गायों की रक्षा करते हुए भी गौवंश की अभिवृद्धि करने के गांधीजी के प्रयास में सब से बड़ी बाधा यह आज की अंधी गौभक्ति ही थी। गांधीजी कहते थे कि जो गाय निठल्ली है, दूध नहीं देती, उस से काम लेना चाहिए। उसे हल या गाड़ी में जोतना चाहिए, उस पर बोझ डोना चाहिए। मृत गाय के मांस, मज्जा, हड्डी, चमड़े इत्यादि का पूरापूरा उपयोग होना चाहिए। तभी गाय बचेगी।

गौभक्तों की ओर से इस का विरोध होता था। हमारी मां बूढ़ी हो जाए, बांझ हो जाए, तो क्या हम उसे हल में जोतेंगे? हमारे मांबाप मर जाएं तो क्या उन के शव को चौरफाड़ कर हम उन की कुगति करेंगे—यह इन गौभक्तों के तर्क थे। अभी कुछ दिन पूर्व स्वर्गीय किशोरलाल-जी मश्रुवाला ने बेकार गायों से काम लेने का सुभाव दिया था, तो इस पर भी गौभक्तों ने काफी होहल्ला मचाया था।

अतः गाय को मां या देवता समझने का अंधविश्वास जब तक समाप्त नहीं हो जाता, तब तक तो गौवंश की अभिवृद्धि असंभव ही है।

अपने लेख 'गौपूजा' में मैं ने पूछा था कि संसार में एक मात्र गौपूजक हम हैं और संसार में सब से अधिक गाएं हमारे यहां हैं फिर दूधघी की इतनी तंगी क्यों होती जा

रही है? मुझे वेद है कि मेरे इस प्रश्न का उत्तर मेरे आलोचकों में से किसी ने नहीं दिया। किसी ने यह भी नहीं बताया कि गाय की रक्षा किस प्रकार की जानी चाहिए और बेकार गायों को जीवित रखते हुए हम भी गौवंश को किस प्रकार पुष्ट बना सकते हैं? मेरे लेख के उत्तर में केवल गालियाँ ही दी गई हैं, और उन से निश्चय ही मेरा मत परिवर्तन नहीं हो सका।

कहा गया है कि 'गोपूजा' लेख इस लिए लिखा और प्रकाशित किया गया है जिस से केंद्रीय सरकार का शिक्षा विभाग और मौलाना आजाद प्रसन्न हों, तथा ऐसे ही लेखों को प्रकाशित किए जाने के लिए 'सरिता' सरकार द्वारा पुस्तकालयों और शिक्षालयों के लिए स्वीकृत है।

लेख के विरोधियों का यह कथन भी साबित करता है कि उन की असली नीयत क्या है। यह बात तो साधारण समझदार व्यक्ति भी जानता है कि पुस्तकालयों में तथा शिक्षालयों के लिए प्रांतीय सरकारें किसी पत्र को स्वीकृत करती हैं और केंद्रीय सरकार का इस से कोई संबंध नहीं है। फिर भी यह तो सोचना चाहिए कि क्या उपरोक्त सभी विद्वानों ने वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा होने या प्राचीन आर्यों द्वारा गौमांस भक्षण को केवल इसी लिए ऐतिहासिक सत्य मान लिया था, क्योंकि उन को इलहाम हो गया था कि वर्षों बाद मौलाना आजाद भारत के शिक्षा मंत्री बनेंगे और उन को प्रसन्न कर के वे कुछ अर्थलाभ कर सकेंगे?

विरोध तो मुसलमानों को करना चाहिए था

इस के अलावा लेख के आलोचकों को यह भी सोचना चाहिए था कि लेख में गौवंश की अभिवृद्धि के लिए पहला सुझाव यह है कि 'स्वस्थ और दुधारू जानवरों का वध, चाहे वह गाय हो या भैंस अथवा कोई अन्य दुग्धोपयोगी जीव, दंडनीय ठहरा दिया जाए,' मुसलमान जो साल में एक

बार पशु की कुरबानी करना अपना धर्म समझते हैं, वे इस लेख से क्यों प्रसन्न होंगे यह समझ में नहीं आता।

'गोपूजा' लेख पर एक आंदोलन शुरू कर देने का प्रयास करने वाले लोगों की वास्तविक स्थिति क्या है, इस पर और अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वीकार करता हूँ कि उन लोगों को जिन्होंने इस विषय में अधिक अध्ययन नहीं किया है, मेरे लेख में यह तथ्य पढ़ कर ठीक उसी प्रकार आघात लगा होगा जिस प्रकार मुझे पहलेपहल लोकमान्य तिलक, डाक्टर भगवानदास, श्री जयचंद्र विद्यालंकार इत्यादि की कृतियों को पढ़ कर लगा था। ऐसे लोगों को ज्ञात होना चाहिए कि इतिहास हमारी भावनाओं के प्रति न कोई निष्ठा रखता है और न कोई समत्व।

लोकमान्य तिलक ने जब यह घोषित किया था कि अथर्ववेद के मंत्रों में कुछ प्राचीन खाल्दी (अरबी) शब्द मिलते हैं, तो उन को भी कुछ कम आघात नहीं लगा होगा, क्योंकि हम पीढ़ियों से वेदों को पृथ्वी पर आया हुआ प्रथम ईश्वरीय ज्ञान मानते रहे हैं। किंतु लोकमान्य तिलक इतिहास के वैज्ञानिक शोधक थे, अतः उन्होंने 'सर आर. जी. भंडारकर कमेमोरेशन वाल्यूम' में 'दी कल्डियन एंड इंडियन वेदाज' शीर्षक एक लेख लिख कर इस विषय पर प्रकाश डाला है।

प्राचीन काल में आर्य जन क्या करते थे, इस से हमें कुछ विशेष लेनादेना नहीं है, इसी लिए अपने पहले लेख में मैं ने इस संबंध में केवल थोड़ी सी ही पंक्तियाँ लिखी थीं। उन को लिखने की भी आवश्यकता केवल इसलिए अनुभव होती है, क्योंकि प्राचीन ग्रंथों के नाम पर हमारी उन्नति के प्रत्येक प्रयास में बाधा उपस्थित की जाती है। शास्त्रों से ज्ञात होता है कि यज्ञ में गाय तथा अन्य प्राणियों की बलि जब कुछ महर्षियों को अखरने लगी, और जब उन्होंने उसे बंद कराने का प्रयास किया, तब

उन का विरोध प्राचीन धर्मशास्त्रों की आज्ञा के आधार पर ही किया गया था। कोई आश्चर्य नहीं, यदि आज बेकार गायों को जीवित रख कर पुष्ट, सुदृढ़ गायों को इंचइंच कर के भूखा मार डालने के लिए भी प्राचीन धर्मशास्त्रों का सहारा लिया जा रहा है।

यह गाय के साथसाथ राष्ट्र को भी मार डालने की तैयारी है। जिन सज्जनों के कोमल हृदय को बेकार गाय की हत्या कर देने की कल्पना मात्र से आघात लगता है, उन के हृदय को हमारे राष्ट्र की भयानक बालमृत्युओं की संख्या क्या किंचित भी ठेस नहीं पहुंचाती? या उन्हें यह नहीं मालूम कि जब तक गाय का शुद्ध दूध अधिक मात्रा में हमें नहीं मिलेगा, तब तक बालमृत्युओं की संख्या बढ़ती ही जाएगी?

गाय की हर तरह दुर्दशा करने के साथ गौपूजा का जो दम भरते हैं, और इस के लिए आंदोलन चला रहे हैं, वे एक बार इतिहास को भी तो देखें कि इस अंधी, बेकार पूजा से भारत, विशेषतः हिंदुओं की, कितनी हानि हुई है। जब भी बाहर से कोई आक्रमणकारी भारत में घुसा केवल गाय को अपनी सेना के आगे कर देने से वह विजयी हो जाता था, और हिंदू न केवल उन गायों को ही नहीं बचा पाते थे बल्कि अपना सर्वस्व, अपनी स्त्रियां व बच्चे, व देश का गौरव भी गंवा बैठते थे।

1857 की आजादी की लड़ाई का भी इस सिलसिले में उल्लेख किया जा रहा है। इन आलोचकों का कहना है कि हिंदू सेना ने इसलिए बगावत कर दी थी कि कारतूस में गाय की चरबी लगती थी। आजादी के सिपाहियों पर यह कितना बड़ा लांछन

है! उन्हें देश का खयाल नहीं था, कारतूसों का खयाल था! यदि यही बात थी, तो उन्होंने मुसलमान मुगल बादशाह के झंडे के नीचे रह कर लड़ना क्यों स्वीकार किया था? मुसलमान तो साफ तौर से गौभक्षक थे।

इन धर्म के ठेकेदारों से कोई यह भी पूछे कि उन्होंने अंग्रेजों को भारत से भगाने में कितनी मदद दी—जब कि अंग्रेज सब से अधिक गौभक्षक थे। जो आज ऊपर से गाय की अंधी पूजा कर के उसे वास्तव में तिलतिल कर के भूखा मारने के समर्थक हैं, उन्होंने हिंदुओं को गौभक्षकों से आजादी दिलाने में कितना हाथ बंटाया था? उस समय तो उन्हें शायद 'वार एफर्ट' (युद्ध सहायता) कर के हर नाजायज तरीके से धन कमा कर अपने सफेद प्रभुओं को प्रसन्न करने से ही फुरसत नहीं थी।

"गौपूजा" और "गौरक्षा" में कोई किसी प्रकार का संबंध नहीं है, आज तक हम गौपूजा करते रहे हैं। पर इतनी लंबी अवधि तक भी गौपूजा कर के हम गौरक्षा नहीं कर पाए हैं। गौरक्षा गाय की पूजा किए बिना ही हो सकती है, और हो रही है—जैसे सारे संसार में हो रही है, और जहां दूध की नदियां बह रही हैं। जब तक गौपूजा को गौरक्षा से अलग नहीं किया जाएगा, गौपूजा के असली माने गौहत्या ही रहेंगे।

मैं अपने पाठकों एवं आलोचकों से विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूं कि गौरक्षा-संबंधी मेरे सुझावों को व एक बार फिर ध्यान से पढ़ें, और बेकार की भावनाओं को हटा कर इस समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करें। ●●

हमारी धार्मिक सहिष्णुता

रतनलाल बंसल

बारबार हम कहते हैं कि हमारा धर्म सहिष्णु है और इस को ले कर दूसरे धर्मों की आलोचना भी करते हैं...

हिंदू धर्म के सिद्धांतों को तर्कपूर्ण, आकर्षक एवं अन्य धर्मों के सिद्धांतों से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए और हिंदू धर्म के प्रणेताओं या मुख्य पुरुषों की महत्ता, शालीनता आदि प्रकट करने के लिए प्रायः हम हिंदू बड़े गर्व के साथ यह घोषणा किया करते हैं कि हिंदू धर्म प्रारंभ से ही अत्यंत विकसित व बुद्धिगम्य होने के कारण बड़ा ही सहिष्णु धर्म रहा है. धार्मिक एवं दार्शनिक मतभेदों को हम ने कभी तलवार से हल नहीं किया और न अन्य धर्मावलंबियों को तलवार के जोर पर अपने आप में दीक्षित करने की बर्बरता हम ने दिखाई है. हमारा इतिहास ईसाई और मुसलमान जाति के इतिहासों की भांति धर्म के नाम पर लड़े गए युद्धों और मतपरिवर्तन के लिए की गई हत्याओं का इतिहास नहीं है. हमारे इतिहास में न तो क्रूसेड हैं और न जिहाद, बल्कि हमारे दर्शन और सिद्धांतों से मतभेद रखने वाले प्रतिपक्षियों के प्रति हम ने सदैव सीजन्य, आदर और सहज उदारता का व्यवहार किया है.

कभीकभी यह बात ऐसे स्वर में भी कही जाती है मानो अपनी इस विशेषता के कारण ही हिंदू धर्म ईसाई और इसलाम मत की भांति जगद्व्यापी नहीं हो सका और केवल भारत की ही परिधि में सीमित रहा. आशय यह है कि अपनी इस उदारता के कारण हमें यह इतनी

बड़ी हानि सहन करनी पड़ी है, या इतनी हानि सहन कर के भी हम ने अपनी उदारता को निभाया है.

हम हिंदुओं का यह दावा कहां तक सच है, इस पर विचार करने के पूर्व यह तथ्य हृदयंगम कर लेना चाहिए कि मानव समाज के बौद्धिक जागरण ने जब से धर्म के नाम पर होने वाले रक्तपात को बर्बरता को संज्ञा दी है, तब से प्रायः ऐसे सभी लोग, जो सत्य की अपेक्षा अपने संप्रदाय या धर्म को अधिक महत्त्व देते हैं, उपरोक्त प्रकार का दावा करने लगे हैं. उन के धर्म के इतिहास की जो घटनाएं इस बर्बरता को प्रकट तथा प्रमाणित करती हैं, उन के दूसरे अर्थ या कारण बताने का प्रयास किया जाता है. ईसाई और मुसलमान सभी अपने उन सूत्रमात्रों को, जिन्होंने धर्मासाद के कारण अमानक रक्तपात किया था, परम उदार तथा परम सहिष्णु सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं. ठीक यही हालत हम हिंदुओं की भी है.

इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक ऐसे धर्म के हाथ निरपराध स्वतंत्र विचारकों और मतभेद रखने वालों के रक्त से रंगे हुए हैं जिस ने अपने को ईश्वरीय, चिरकालिक तथा शब्दप्रमाण पर आधारित घोषित किया है. मानवता के न्यायालय में आज ये धर्म इस अपराध में उपस्थित हैं और वे झूठ बोल कर अपने इस पाप के दंड से बच जाना चाहते हैं. किंतु

5365

सत्य के प्रखर प्रकाश में अंधकार का अन्त हो जाता है। संस्कृत भाषा के शब्दों में असुर-मिथ्यादान ठहर नहीं सकता। इसी लिए उन के इस मिथ्याभाषण का परदाफाश हो जाना अत्यंत आवश्यक है।

इंद्र युद्ध का देवता

हम हिंदुओं के सर्वाधिक प्राचीन, पवित्र और जैसा कि दावा किया जाता है, ईश्वरप्रणीत वेदों में प्राचीनतम ऋग्वेद में भी ऐसी अनेक ऋचाएं हैं, जिन में तत्कालीन आर्यों ने अपने देवता इंद्र से 'अग्निद्राः' (जो इंद्र को आराध्य नहीं मानते थे) 'अयज्ञा' (जो यज्ञ नहीं करते थे) तथा 'अन्यव्रत' (दूसरे व्रत या धर्म में दीक्षित) जनसमूहों को नष्ट कर देने, जला देने, उन के नगरों को मिट्टी में मिला देने की प्रार्थना की है। वास्तव में इंद्र मुख्यतः युद्ध का ही देवता है और वेदों में उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह तथ्य हमारी 'शांतिप्रियता' व 'सहिष्णुता' के ढोल की पोल भली प्रकार प्रकट कर देता है।

अब लगभग सभी विद्वान्, ऐसे विद्वान् भी जो वैदिक धर्म के पक्षपाती हैं, इस विषय में एकमत हैं कि आर्य जब पहले-पहल भारत में आए, उस समय यहां दस्यु, असुर, नाग आदि जातियां, जो आर्यों की अपेक्षा बहुत अधिक सुसंस्कृत थीं, निवास करती थीं। इन में से नाग असुर आदि जातियों के कुछ भाग लगभग वैसे ही धार्मिक सिद्धांतों या आचारों का अनुगमन करते थे जिन की छाप या छाया हमें बौद्ध तथा जैन दर्शनों में दिखाई देती है। इन में से कुछ लिंग के उपासक भी थे, इसी लिए वेदों में शिशनपूजकों को गालियां दी गई हैं, उन का उपहास किया गया है।

असुरों के संबंध में डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है: "भारतीय सभ्यता" की परंपरा में देवों का असुरों के पूर्ववर्ती होना अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध किया जा

सकता है। संस्कृत भाषा के शब्दों में असुर-वाची 'पूर्वदेवाः' शब्द से यही सिद्ध होता है। शतपथब्राह्मण में मांस को श्रेष्ठ अन्नाद्य तो बताया ही गया है, पर हमारी स्मृति में कदाचित् यह भी कहा है कि जहां देवता मांस को पसंद करते हैं, वहां असुरों को उस से घृणा होती है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में, जो लोग सुरापान नहीं करते थे उन को ही भीषण सुरापायी आर्य असुर कह कर पुकारते थे। अतः अपने यज्ञों तथा उपासना विधियों में घोर हिंसा तथा सुरापान का आश्रय लेने वाले आर्यों का मद्य व मांस से घृणा करने वाले असुर विरोध करते हों, तो इस में क्या आश्चर्य है? इसी अपराध में देवों (आर्यों) ने असुरों को जो सबक सिखाया, उस की कल्पना वेद और पुराणों में बिखरी पड़ी देवासुर संग्राम की गाथाओं से भली प्रकार की जा सकती है।

नाग स्पष्टतः श्रमण संस्कृति के मानने वाले थे। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि जैनो के तेईसवें तीर्थाकर पार्श्वनाथ संभवतः नागजाति में ही उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर एक नाग को अपने फन से छाया करते हुए दिखाया जाता है। जैनशास्त्रों में नाग राजाओं द्वारा जैन-मतियों की अहिंसा विरोधी संप्रदायों के अत्याचारों से रक्षा करने के अनेक विवरण मिलते हैं। वैदिक आर्यों से इसी लिए नागों का निरंतर संघर्ष होता रहा, जिस का अंत संभवतः आर्य राजा जन्मेजय द्वारा किए गए भीषण नागयज्ञ में हुआ। महान नाग जाति को स्त्री बच्चों सहित इस यज्ञ में जीवित जला डाला गया।

निस्संदेह उपरोक्त विवरण अभी बहुत कुछ अन्वेषण और शोध की अपेक्षा रखते हैं। नागों और असुरों के विरुद्ध आर्यों ने जो भीषण युद्ध लड़े, उन की जड़ में सैद्धांतिक मतभेदों का कारण कितने अंश में था और राजनीतिक सत्ता का प्रश्न कितने अंश में, यह अभी निश्चित रूप से

नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद में
जिस दासराज युद्ध का विवरण है, वह
तो निसंदेह सैद्धांतिक मतभेदों के कारण
लड़ा गया और उस में दोनों पक्षों का
नेतृत्व दो प्रसिद्ध आर्य ऋषि कर रहे थे।

श्री के. एम. मुंशी ने लिखा है :

“एक बार आर्यों के इतिहास में
मुख्य प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि विजित
दस्युओं का क्या किया जाए? यदि उन्हें
मार डाला जाए तो सेवाचाकरी कौन
करेगा और जिंदा रखा जाए तो समाज
में उन का क्या पद होगा और दासीपुत्र
का कुटुंब में क्या स्थान होगा?

“इन प्रश्नों पर भयंकर लड़ाइयां
हुई, सिर कटे, विरोध ने उग्रतर रूप
धारण किया। कई विद्वान मानते हैं कि
वशिष्ठ और विश्वामित्र में जो विरोध
भाव बढ़ा वह इसी समस्या को ले कर.
वशिष्ठ स्वतःशुद्धि के प्रतिनिधि थे और
विश्वामित्र दस्युओं को आर्य बनाने का
रसायन तैयार कर रहे थे।”

यज्ञ में बलि देने का विरोध

असुरों, दस्युओं और नागों पर पिछले
युगों में आर्यों ने विजय प्राप्त कर ली
और उन को दास बना डाला। आर्यों के
कुछ वर्ग अपने इन विजितों की संस्कृति
तथा उच्च सिद्धांतों से प्रभावित हुए और
उन्होंने यज्ञ में बलि देने आदि का विरोध
किया। जिस प्रकार दासों को आर्यों में
मिलाए न मिलाए जाने के प्रश्न पर
वशिष्ठ और विश्वामित्र में संघर्ष हुआ
था, उसी प्रकार इस प्रश्न पर भी सशस्त्र
संघर्ष हुए। इस प्रकार के एक संघर्ष की
कथा अधिक स्पष्ट रूप में प्राप्त है, जो
कृष्ण और इंद्र में हुआ था। कृष्ण बलि देने
के विरोधी थे, इसी लिए उन्होंने इंद्र की
पूजा का विरोध किया। ऋग्वेद और
अथर्ववेद में भी कृष्ण और इंद्र के इस
संघर्ष का विवरण है। इन में से एक ऋचा
(ऋग्वेद में 1-101-1) में कृष्ण के देश

को कुछ वर्णन है। निम्नलिखित इंद्र द्वारा मारे
जाने का उल्लेख है।

कृष्ण अनार्य था

यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेद
का कृष्ण महाभारत का ही कृष्ण है,
किंतु हरिवंशपुराण में कृष्ण तथा इंद्र के
संघर्ष का जो वर्णन है, वह तो निश्चय
ही ऋग्वेद के कृष्ण संबंधी वर्णन की ही
छाया है। अंतर केवल यह है कि ऋग्वेद
में कृष्ण को अनार्य बताया गया है, किंतु
हरिवंश में वह पूजनीय है। स्पष्टतः इस
प्रकार का कोई संघर्ष एवं ऐतिहासिक
सत्य है।

आर्यों द्वारा वेदों तथा यज्ञ के नाम
पर होने वाली भयानक हिंसा के प्रति
एक और विद्रोह हुआ, जिस का नेतृत्व
महावीर तथा बुद्ध कर रहे थे। इस विद्रोह
में एक विशेष बात यह थी कि महावीर
और बुद्ध ने वेद तथा वेद के देवताओं को
ही अमान्य घोषित कर दिया। जनसाधारण
ब्राह्मण के अत्याचारों से इतने दुखी थे कि
उन्होंने इस विद्रोह में पूरी तरह साथ
दिया और भारत में बौद्ध तथा जैनो की
प्रतिष्ठा हो गई।

आगे चल कर जैन तथा बौद्ध भी
रूढ़िवादी हो गए। शास्त्रवाद उन में भी
घुस पड़ा और क्रांतिकारिता नष्ट हो गई।
इस से लाभ उठा कर ब्राह्मण फिर उठे
इस बार उन्होंने तलवार के सहारे जैनो
और बौद्धों को निर्मूल करने का निश्चय
किया।

दक्षिण में ऐसे सैकड़ों जैन मंदिर
मिलते हैं जो आज शैवों के मंदिर हैं। ये
मंदिर तत्कालीन शैवमती वाले राजाओं
ने जबरदस्ती रूपांतरित किए थे।

संभवतः कहा जाएगा कि जैन जनता
ने स्वयं ही विचार परिवर्तन हो जाने के
कारण इन मंदिरों का रूपांतर कर दिया
था। अतः कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित किए
जाते हैं, जिन से सिद्ध होता है कि

अमानुषिक अत्याचारों द्वारा मृत्यु प्राप्त करने की स्थिति में ही किया गया था।

तंजोर (मद्रास) नगर के एक शैव मंदिर में दो चित्र बने हुए हैं, जिन में जैनियों को सूली पर चढ़ाते हुए दिखाया गया है। कथा यह है कि जब राजा बीमार था तो उस ने पहले अपने जैन मतानुयाई राजवैद्य से चिकित्सा कराई, किंतु लाभ नहीं हुआ। इस के पश्चात ब्राह्मण वैद्य की चिकित्सा से उसे लाभ हो गया।

धर्म के नाम पर हत्याएं

राजा ने ब्राह्मण वैद्य से इस उपलक्ष्य में कुछ मांगने को कहा, तो उस ने राजा से शैवमत ग्रहण करने तथा राज्य भर के जनों को शैवमत में दीक्षित करने का वचन मांगा। राजा ने यह स्वीकार कर लिया और इस के पश्चात ही उन जनों को जो शैवमत स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए, लोहे की नोकदार सलाखों पर बैठा कर मरवा डाला गया। उन दिनों धर्म के लिए रक्त बहाना तथा इस प्रकार की हत्याएं करना निंदनीय नहीं, श्लाघनीय माना जाता था। अतः अपने इस पौरुष को स्थायी बनाने के लिए राजा ने मंदिर की दीवारों पर इस हत्याकांड को चित्र रूप में अंकित करा दिया।

मद्रास के तिरुवेल्ली जिले में कुलु-वेत्तल नामक एक उत्सव अभी तक मनाया जाता है, जिस में एक मनुष्य का कृत्रिम सिर कोल पर लगा कर उसे जुलूस के रूप में निकाला जाता है। यह सिर समणाल (तमिल में जैन को समणाल कहते हैं) का बताया जाता है। 7वीं शताब्दी के प्रारंभ में शैवमती वाले साधु अप्पर, तिरुजान संबंदर तथा तिरुतोंड नयनार हो गए हैं, जिन्होंने जैनों के विरुद्ध जिहाद का नेतृत्व किया था। उस युग में जैनों पर कैसेकैसे भयानक अत्याचार किए गए, इस की गाथाएं तमिल के पेरिया प्रराणम नामक धर्मग्रंथ में मिलती हैं। यह

उत्सव इन साधुओं की स्मृति में ही अब तक मनाया जाता है।

शैव साधु अप्पर ने ही अपने सम-कालीन राजा महेंद्र वर्मन को शैव मत में दीक्षित किया था और इस के पश्चात महेंद्र वर्मन द्वारा जैनों पर भयानक अत्याचार कराए थे। महेंद्र वर्मन ने पाटलीपुर (इस समय यह नगर तिरुपावलुघर कहलाता है) में जैन मंदिर को नष्ट कर के उस के स्थान पर शिव मंदिर की स्थापना की थी। पेरिया प्रराणम में इस की गाथा भी उपलब्ध है।

जान संबंदर नामक शैव साधु के प्रभाव में आ कर 7-वीं शताब्दी के मध्य भाग में सुंदर नामक पांड्य राजा ने 8 हजार जैनाचार्यों का बड़ी क्रूरता से वध कराया था। यह भीषण कहानी भी मद्रास के इतिहास में अभी तक सुरक्षित है। अर्काट के तिरुवत्तूर मंदिर की दीवारों पर यह कहानी चित्र रूप में देखी जा सकती है।

जैनों को तेल की घानी में पिलवाया

11वीं शताब्दी में मैसूर के राजा विहदेव (विष्णुवर्धन) ने रामानुजाचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर सहस्रों जैनों को तेल की घानी में पिलवा कर मरवा डाला था। रामानुज के अनुयायी आज भी बड़ी शान के साथ अपने इस कृत्य का बखान करते हैं।

मदुरा के प्रसिद्ध मीनाक्षी मंदिर में भी शैवों और वैष्णवों द्वारा जैनों पर किए गए भीषण अत्याचारों के चित्र अंकित हैं। ये चित्र और इन के संबंध में प्रचलित पुरानी कविताएं सदैव हिंदू धर्म की सहिष्णुता के दावे को चुनौती देती रहेंगी।

जैनों की भांति ही बौद्धों को भी हिंदुओं के हाथों भयानक कष्ट भुगतने पड़े हैं। इतिहास के अनेक अध्याय इस प्रकार की रोमांचक अत्याचारपूर्ण कथाओं से भरे पड़े हैं।

7वीं शताब्दी में ब्राह्मण राजा शशांक ने बौद्धों पर भयानक अत्याचार किए थे। प्रसिद्ध यात्री ह्यूएनसांग ने अपने यात्रा विवरण में शशांक के अत्याचारों की जो कथा लिखी है उस से ज्ञात होता है कि शशांक ने बुद्धगया के विहारों को भूमि-सात कर दिया था और बोधिवृक्ष को उखाड़ कर जला डाला था। उस समय अनेकों स्थानों पर बौद्ध मतानुयायी जनता का कत्लेआम किया गया था।

बौद्धों पर अत्याचार

महावंश पुराण के 93वें परिच्छेद में, तथा सिंहली कथाओं में उल्लेख मिलता है कि 16वीं शताब्दी में सिंहलद्वीप के राजा जयसिंह ने अपने पिता की हत्या कर के गद्दी पर अधिकार कर लिया। इस के पश्चात् उस ने बौद्ध संघ को भ्रामित कर के पितृवध का प्रायश्चित्त करने की इच्छा प्रकट की। भिक्षु संघ ने इस भयंकर पाप का प्रायश्चित्त कराने में असमर्थता प्रकट की। इस पर उस ने शैवमत स्वीकार कर लिया। इस के पश्चात् उस ने बौद्धों पर इतने भयानक अत्याचार किए कि 4-5 वर्षों के अंदर अंदर समस्त सिंहलद्वीप में एक भी बौद्ध शेष नहीं रहा। बौद्धों के बड़े-बड़े ग्रंथागार उस ने अपने हाथों जला डाले।

डोंग मारी जाती है कि जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने प्रबल तर्कों से बौद्धों का उच्छेदन कर दिया। किंतु इस तर्कबल का वास्तविक स्वरूप शंकराचार्य की स्तुति में लिखा गया प्रामाणिक ग्रंथ माधव कृत शंकरदिग्विजय ही प्रदर्शित कर देता है। शंकरदिग्विजय के कुछ श्लोकों का अर्थ है :

“सुधन्वा राजा की सेना शंकराचार्य के साथ चलती थी, उस के मारू बाजे की ध्वनि से ही लोकायत मत वाले भागे। सेना की धूल से ही कणाद (कणाद के अनुयायी) काने हो गए। सांख्य (युद्ध)

की बद्धि छोड़ दी और योग वाले भी उन के साथ ही भागे। कैलैया वादी का वच्चा था जो इस (शंकर) के आगे ठहरता। बौद्ध भी एक क्षण के लिए (बाग) युद्ध में खड़ा रह कर भागा। जो वादी अपने को वैदिकमत के अनुचर बताते थे, वे तो हाथों से ही मारपीट कर अलग कर दिए जाते थे। कोई-कोई उन के साथी राजा बहुत दिनों तक बंदी व दास बना कर कारावास में बंद कर दिए जाते थे। पीछे काभी हाथपैर जोड़ने पर क्षमा कर के अपने राज्य को वापस कर दिए जाते थे और उन (सुधन्वा तथा शंकर) की सेवा करते रहते थे। यतियों के धरणीधर शंकर की शूरता भी, और दया भी, दोनों विचित्र थीं। स्कंदगुप्त सम्राट ने जैसा किया था उसी का अनुसरण करते हुए सुधन्वा राजा ने भी (शंकर की इच्छा से) अपने भृत्यों को यह आज्ञा दी कि रामेश्वर के सेतु से हिमालय पर्यंत बौद्धों को मार डालो। उन के बूढ़ों व बच्चों तक को न छोड़ो और जो उन को मारने से हिचके उस को भी मार डालो।”

प्रति मस्तक सौ सोने के सिक्के

डाक्टर भगवानदास ने उपरोक्त श्लोक तथा उन का उपरोक्त अर्थ उद्धृत करते हुए लिखा है : “मुद्रितः बौद्ध धर्म...शंकर के शास्त्र से उतना परास्त नहीं हुआ, जितना सुधन्वा के शास्त्र से।” कैसी अभूतपूर्व सहिष्णुता तथा उदारता थी!

दिव्यावदान नामक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ में तथा तिब्बती लामा तारानाथ के इतिहास में उल्लेख मिलता है कि पुण्यमित्र गुंग ने पाटलिपुत्र और जलंधर के समस्त बौद्ध विहारों को जला डाला और शाकल में उस ने घोषणा की थी कि जो व्यक्ति जितने बौद्ध भ्रमणों के मस्तक काट कर लाएगा उसे प्रति मस्तक सौ सोने के सिक्के पारितोषिक स्वरूप मिलेंगे।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक

जान पड़ता है कि 1090 ई. के बीच विशिष्टतः संप्रदाय के प्रवक्ता रामानुजाचार्य का केवल इसी लिए अपना नगर श्रीरंगम् छोड़ कर मैसूर भाग जाना पड़ा कि वहां के कुलोत्तुंग नामक चोल राजा जो शैव था, रामानुज के सिद्धांतों को नहीं मानता था, रामानुज के इस प्रकार भाग जाने से क्रुद्ध हो कर राजा ने रामानुज के प्रति कुहनालवार की आंखें निकाल लीं तथा रामानुज के अन्य अनुयायियों को भी बहुत कष्ट दिए. इस चोल राजा के मरने के बाद ही रामानुज श्रीरंगम् लौट सके.

तुलसीदास भी न बच सके

व्याकरण महाभाष्य में पाणिनि ने 'धेषांच विरोध शाश्वतिकः' (2-4-9) — अर्थात् जिन में परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उन के वाचक शब्दों का द्वंद्व समास एकवचन में रहता है—सूत्र का एक उदाहरण श्रमण-ब्राह्मणम् दिया है.

वैदिक मतानुयायियों के इस पारस्परिक संघर्ष की छाप तुलसीदास की जीवनकथा में भी मिलती है. उन की जातिपाति को ले कर तथा विचारों के कारण और मुख्यतः विष्णु के अवतार राम के भक्त होने के कारण तत्कालीन कट्टर-पंथी ब्राह्मणों और शिवभक्त पुजारियों ने तुलसीदास को कितने कष्ट दिए थे तथा उन के जीवन को भी समाप्त करने की किसी प्रकार चेष्टा की थी, इस और संकेत करने वाले अनेक पद दोहावली, कविता-वली, विनयपत्रिका आदि उन की कृतियों में मिलते हैं. स्पष्टतः तुलसीदास यदि किसी स्वतंत्र शैव राजा या अपने से भिन्न मत रखने वाले किसी हिंदू राजा के राज में होते, तो उन का साहित्य अग्नि की भेंट कर दिया गया होता और वह सूली पर चढ़ा दिए गए होते.

जैन-बौद्धों के प्रति द्वेष

1065 ई. में कृष्ण मिश्र नामक दंडी परिव्राजक का लिखा हुआ प्रबंध चंद्रोदय नाटक आज भी उपलब्ध है, जिस में एक कापालिक श्रमण भिक्षु को तलवार का भय दिखा कर तथा स्त्री और मदिरा का लालच दे कर सत्पथ—कापालिक मत में आरुढ़ करता है. विष्णु पुराण, मनुस्मृति इत्यादि में अनेक ऐसे श्लोक मिलते हैं जिन में जैनों व बौद्धों के प्रति घोर तिरस्कार तथा द्वेष की भावनाएं हैं.

महर्षि दयानंद सरस्वती के जीवन पर भी उन से भिन्न मत रखने वाले वैदिक धर्मानुयायियों ने बारबार आक्रमण किए—किसी जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान ने नहीं, यद्यपि महर्षि इन धर्मों का भी समान रूप से विरोध करते थे. इस के पश्चात् न जाने कितने स्थानों पर केवल धार्मिक मतभेदों के कारण आर्यसमाजी और सनातनधर्मियों में फौजदारियां हुई हैं,

इस से प्रकट है कि तत्कालीन वैदिक मतानुयाई राजा ही नहीं विद्वान भी कितने धर्मान्वादी और, अन्य धर्मावलंबियों के रक्तपात को उत्तेजना देने वाले थे.

जिन दिनों जैनों और बौद्धों पर ऐसे अत्याचार किए जा रहे थे, उन दिनों वैदिक मतानुयायी परस्पर न लड़ रहे हों, ऐसी बात नहीं थी. 1080 ई. और

मुकदमे चले हैं तथा सजाए मिली हैं,
हरिजन आंदोलन के लिए भ्रमण

करते समय सन 1932 में महात्मा गांधी पर पूना में जो भयानक बम फेंका गया था, उसे फेंकने वाले भी धर्मप्राण हिंदू ही थे। अंत में बापू की हत्या का वातावरण तयार करने में तथा उस के षडयंत्र में भी इन धर्मवीरों का पूरा हाथ था।

यह कितनी बड़ी आत्मप्रवंचना की बात है कि धर्म के नाम पर रक्त बहाने का प्रमाण देने वाले इतने जीतेजागते उदाहरण होते हुए भी हम अपने को संसार में सर्वाधिक परधर्म सहिष्णु कहते हैं!

हिंदू कितना सहिष्णु

जो लोग हिंदू धर्म की सहिष्णुता का बखान करते हैं वे प्रायः अपने मतव्य के प्रमाण में सब से बड़ी दलील यह देते हैं कि हिंदुओं ने उन महापुरुषों तथा देवताओं की भी पूजा की है, उन्हें अपना लिया है जिन्होंने उन पर भयानक प्रहार किए हैं। शिव अनायाँ के देवता हैं, और अनायाँ तथा आयाँ के बीच भयानक युद्ध हुए। किंतु अनायाँ के देवता शिव आज लाखों करोड़ों हिंदुओं के इष्टदेव हैं। बौद्धों से वैदिक मतानुयायियों का निरंतर संघर्ष रहा है। किंतु बुद्ध हिंदू धर्म में अवतार मान कर पूजनीय ठहराए गए हैं। इसी प्रकार न जाने कितने देवता, कितने आचार हिंदू धर्म ने अन्य धर्मों से ग्रहण किए हैं। यह उस की सहिष्णुता नहीं तो क्या है।

इस के अतिरिक्त हिंदू धर्म में विचित्र विचारधाराएं साथ ही साथ बिना विरोध के प्रवाहित होती देखी जाती हैं। द्वैत-वादी, द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अनिश्वर-वादी, पुनर्जन्म को मानने वाले, और न मानने वाले, वेदों को पौरुषेय मानने वाले, अपौरुषेय मानने वाले, पुराणों को महान धार्मिक शास्त्र मानने वाले और उन को केवल काल्पनिक मानने वाले आदि विभिन्न परस्पर प्रतिकूल विचारों

का हिंदू धर्म में साथसाथ बिना किसी द्वंद्व के निवाह हो रहा है। नागपूजा, वक्ष-पूजा, पशुपूजा के आचार सिद्ध करते हैं कि हिंदुओं ने अत्यंत जंगली लोगों की उपासना विधि को भी अपना कर सुरक्षित रखा है। हिंदू धर्म सभी धर्मों को अंशतः सत्य मानता है। ऐसा बुद्धिस्वातंत्र्य और व्यक्तिस्वातंत्र्य भला किसी और धर्म में है?

उपरोक्त तर्क में, यदि हम बुद्धिपूर्वक विचार करें तो कोई भी सार दिखाई नहीं देता। तथ्यों की दृष्टि से तो उपरोक्त कथन पूरी तरह सत्य है, किंतु उस का जो परिणाम निकाला गया है, वह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। निकृष्ट और मिथ्या उपासना विधियों को स्वीकार कर लेना किसी धर्म की उदारता नहीं, दुर्बलता ही प्रकट करता है।

हिंदू धर्म कल्पनाओं से परिपूर्ण

हिंदू धर्म इतना अवेज्ञानिक, चमत्कारिक मान्यताओं पर आधारित और व्यर्थ की कल्पनाओं से पूर्ण रहा है कि साधारण हिंदू जनता के हृदय ने पूर्णरूपेण, दृढ़ता के साथ उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। मनुष्य की सहज बुद्धि उस के प्रति अवश्य ही किसी न किसी अंश में शंकाशील रही।

परिणामस्वरूप अन्य धर्मों की अपेक्षा-कृत उच्च भावनाओं को स्वीकार करने में उस को हिचक नहीं हुई। जनता अग्नि में पशुओं और मनुष्यों को जला देने की क्रूरता नहीं सहन कर सकी, इसलिए वह बौद्धों और जैनों की ओर झुकी। कुमारिल आदि शास्त्रवादी चौखटेचिल्लाते ही रहे और अपने धर्म की दुहाइयाँ देते रहे, किंतु जनता ने इसे स्वीकार नहीं किया। अतः हिंदू पुरोहितों ने बुद्ध को अवतार घोषित कर के उस के नाम पर भी दुकानदारी शुरू कर दी।

दूसरे धर्मों की हीन, असंभव, कुत्सित

बातें इसलिए हिंदू ने स्वीकार कर लीं कि उस से भी अधिक होन, असंभव, कुत्सित मान्यताएं उस के धर्मशास्त्र में पहले से ही मौजूद थीं। धर्म के नाम पर हिंसा, व्यभिचार कुछ भी बुरा नहीं है, पर्वत, नदी, पशु, सभी की पूजाउपासना मुक्ति का द्वार खोल सकती है—यह विषाक्त विचार अपने धर्मशास्त्रों से हिंदू को मिल चुके थे। फिर उस ने अन्य जातियों की होन कल्पनाओं पर विश्वास कर लिया तो इस में आश्चर्य क्या?

हिंदू धर्म चूंचू का मुरब्बा

इन आचारविचारों का विरोध न होने का कारण यह था कि यजमान जो कुछ करना चाहते थे, पुरोहित उसे ही धर्मसम्मत बता कर, केवल उस में अपनी दक्षिणा की बात और सम्मिलित कर के, उस के समर्थन में संस्कृत के 2-4 श्लोक या कोई ग्रंथ रच कर उस को मान्य ठहरा देते थे। हिंदू ने अपना धार्मिक नेतृत्व पुरोहित को सौंप रखा था, अतः वह उन पर विश्वास कर के उसे जहां से जो मिला, स्वीकार करता चला गया।

परिणामस्वरूप हिंदू धर्म हीन आचार-विचारों का एक चूंचू का मुरब्बा बन गया। इसी को हम आज सहिष्णुता का शानदार नाम दे कर उस पर गर्व प्रकट करते हैं।

वैदिक वांगमय के विद्वान लक्ष्मण-शास्त्री जोशी ने नागपुर यूनिवर्सिटी में 'हिंदू धर्म की समीक्षा' विषय पर भाषण देते हुए हिंदू धर्म की उदारता और सहिष्णुता के प्रश्न पर कहा था : "हिंदू धर्म उदार नहीं, कृपण है। उपासना संप्रदायों को ले कर हमारे यहां जो छूट है, उसे ही उदारता का नाम दिया जाता है। यदि उदारता होती तो शूद्रदासता, अस्पृश्यता, जातियों की जन्म से ही उच्चतानीचता आदि हजारों वर्षों से चले आ रहे अनु-दार और अत्याचारपूर्ण नियम हिंदू धर्म

के मध्य भाग न बने रहते और वैदिक धर्म का परिपालन करने में शुद्रादि को रोकने तथा उस को (भीषण यातनाएं दे कर) मार डालने जैसे कायदे स्मृतियों में न दिखाई देते। छोटेबड़े निकृष्ट धर्म हिंदू धर्म में टिके रह सके, इस का कारण यह है कि उच्च धर्म कल्पनाओं को प्रभाव-शाली स्वरूप देने वाली संघटित लोकशक्ति उस में निर्माण ही नहीं हुई है।"

वास्तव में हिंदू धर्म या किसी भी धर्म की सहिष्णुता का दावा करना एक नितांत मिथ्या एवं असंभव बात का प्रचार करना है। मनुष्य की बुद्धि और विश्वासों का नियंत्रण जब तक सदियों पूर्व मर चुके महापुरुषों के प्रेतों द्वारा किया जाता रहेगा, जब तक बुद्धि और तर्क के लिए कुछ बातें अग्रगण्य समझी जाती रहेंगी। जब तक स्वर्ग और नरक के दलालों—पुरोहितों—का अस्तित्व रहेगा, जब तक मनुष्य इस लोक की अपेक्षा काल्पनिक परलोक की चिंता रहेगी, जब तक मनुष्य को इतना नीच समझा जाता रहेगा कि वह केवल नरक की भयंकर यातनाओं के भय और स्वर्ग के सुखों के लालच से ही अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है, तब तक धर्म और ईश्वर के नाम पर मान्यताओं और आचार-भेद के कारण पवित्र मानव रक्त बहाता ही रहेगा।

पिछले दिनों के सांप्रदायिक दंगों ने एक बार फिर यह प्रमाणित कर दिया है कि जब तक मनुष्य किसी विशेष ईश्वर, पीर, पैगंबर, गुरु या धर्मशास्त्रों को मानने वाले के रूप में पहचाना जाता रहेगा, तब तक क्रूरता, अमानुषिकता, रक्तपिपासा तथा अन्य भयंकर विकृतियों से वह मुक्त नहीं हो सकता।

मनुष्य को केवल मनुष्य होने के कारण ही सर्वोच्च पद दे कर हम मानव में धर्म के माध्यम से आई हुई इस कालिमा असहिष्णुता—को धो सकते हैं। इस में संदेह नहीं कि यह स्वर्णिम युग निकट ही है।

कृष्ण नीति :

हमारा नैतिक पतन

• रामेश्वराचार्य शास्त्री

यदि श्रीकृष्ण की नीति ही राजनीति थी तो स्वार्थ क्या था?

“मैं जरा स्वच आन कर दूं” श्रीमती कृष्णात्रेय ने कुरसी छोड़ते हुए कहा, और एक सदगृहिणी की तरह उत्तरदायित्वपूर्ण भाव से उठ कर ड्रेसिंग टेबल के पास लगे हुए बिजली के बटन को दबाते हुए बोली, “बुद्धिमान आदमी को अंधेरा होने से पहले ही प्रकाश व्यवस्था कर लेनी चाहिए।”

“लेकिन जो अंधेरा हो जाने के बाद भी उजाले का इंतजाम न करे, बल्कि उलटे उजाला करने वालों को खरीखोटी सुनाने पर उतारू हों उन्हें क्या कहा जाए?” चंचल सुमित्रा के इस ध्वन्य का निशाना ठीक ही बैठे और प्रोफेसर नागार्जुन अपने सोफे पर अंगड़ाई लेतेलेते अचानक रुक गए।

थोथा बुद्धिवाद

“सुनती हो, सुमित्रा! हमारे घर में आग लगा कर उजाला करने का ढोंग रचने वालों और हमारी सांस्कृतिक परंपराओं का विनाश कर के बौद्धिक जागरण की बातें बनाने वालों से हमें सावधान रहना ही पड़ेगा, फिर चाहे हमें कोई पोंगापंथी कहे या दकियानूसी,” नागार्जुन बोले। “तुम्हारे कहने मात्र से अपने परम आराध्य श्रीकृष्ण को भारत के राष्ट्रीय जीवन का विध्वंसक मान लेने पर ही यदि हम बुद्धिमान समझे जा सकते हैं, तो हमें ऐसा बुद्धिमान नहीं बनना है। हम पागल ही अच्छे हैं, यह थोथा बुद्धिवाद तुम्हें ही मुबारक हो।”

“अपने ऊपर बिल्ली को झपटता देख कर कबूतर के आंख बंद कर लेने मात्र से यदि बिल्ली का अंत हो सकता है, तो निश्चय ही यह आप के और हम सब के लिए सौभाग्य की बात होती, प्रोफेसर साहब। लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। श्रीकृष्ण के जीवनदर्शन से समाज को जो कुछ मिल रहा है, वह निश्चय ही हमारे राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में बाधक है। जीवन के लिए अनिवार्यतः उपयोगी प्रकाश के लिए कुछ न कुछ तो हमें जलाना ही पड़ेगा—घी, तेल, रुई, रद्दी कागज या और कुछ भी जिसे आप बेकार समझें। हां, अगर बेकार चीजों को ही आप अत्यंत मूल्यवान वस्तु और सांस्कृतिक निधि मानने लगें, तब तो फिर बात ही दूसरी है। एक पागल भी किवाड़ को अपनी प्रियसी समझता है।”

“तो श्रीकृष्ण के जीवन को घासफूस और रद्दी चीजों की तरह बेकार समझती हैं आप?”

“अन्याय इसी को कहते हैं, प्रोफेसर साहब,” सुमित्रा ने नम्र स्वर में उत्तर दिया। “मैं ने श्रीकृष्ण के जीवन को बेकार नहीं बताया बल्कि मेरा मतलब है कि उन के जीवन से प्राप्त होने वाली प्रेरणा न केवल बेकार है, बल्कि राष्ट्रीय नवनिर्माण के लिए घातक भी है।”

“कैसे?”

“इसलिए कि उन के उत्तराधिकार के रूप में राष्ट्र को धोखा, धूर्तता और

झूठ प्राप्त हो रहा है."

रसीले कृष्ण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Project

"किस पचड़े में पड़ गई आप!" शकुंतला विषयक अपनी हार की झोंप मिटाने के उद्देश्य से एक लंबा सा लेक्चर देते हुए नागार्जुन बोले, "भागवत के श्रीकृष्ण की ओर ध्यान चला गया होगा आप का. तभी तो आप को कुछ मनमानी कल्पित क्रीड़ाओं की आलोचना करने का मौका मिल गया. आप को महाभारत वाले, गीता के गायक, महावीर श्रीकृष्ण का चरित्र देखना चाहिए था, न कि छछिया भर छाछ पर नाचनेठुमकने वाले रसीले कल्पित कृष्ण का."

"आप जिसे कल्पित कहते हैं, प्रोफेसर साहब, वह वास्तव में गुण दोषों का समन्वय होने के कारण बचपन के अधिक निकट है, पर महाभारत के जिन श्रीकृष्ण की चर्चा आप करते हैं, उन के पास दंभ, कपट, प्रवंचना और राजनीति के नाम पर मानव-चरित्र के विध्वंस के अतिरिक्त और क्या है? मानवता की निर्मम हत्या के अतिरिक्त राष्ट्र को देने के लिए उन के पास था ही क्या?" संतप्त स्वर में सुमित्रा ने कहा.

"शिक्षा और वक्तृत्व शक्ति का यह तात्पर्य कभी नहीं है, सुमित्रा, कि इन का दुरुपयोग किया जाए," उपदेशात्मक स्वर में नागार्जुन कहते गए. "याद रखिए, श्रीकृष्ण की सार्वजनिक और उच्छृंखलता-पूर्ण आलोचना करना एक ऐसी ही कुचेष्टा है जिसे कभी भी सहन नहीं किया जा सकता."

नागार्जुन जैसे बुद्धिवादी होने का दंभ भरने वाले व्यक्ति से ऐसे संकुचित विचार सुन कर सुमित्रा तिलमिला उठी और ध्यंगपूर्ण सहमति प्रकट करती हुई बोली, "हां, यह तो है ही. ऐसी बातें विशेषकर इसलिए भी बरदाश्त नहीं की जा सकती कि इन से ग्रंथविश्वास और आंत धारणाओं का दुर्गम दुर्ग ढह कर राष्ट्र के नव-निर्माण में सहयोग जो मिलता है!"

"कैसे?" आंतरिक क्षोभ से तयारी

बदलते हुए नागार्जुन ने पूछा.

प्रतिपक्ष के प्रसिद्ध विद्वान् यह धारणा बनी हुई है, प्रोफेसर साहब, कि सत्य और ईमानदारी के बल पर दुनियादारी और विशेषकर दुकानदारी चल ही नहीं सकती. इसलिए बेईमानी और झूठ मनुष्य जीवन के अनिवार्य अंग हैं. वैसे कुछ सिरफिरे लोग इसे चाहे भ्रष्टाचार बताएं या चोर-बाजारी, किंतु है यह श्रीकृष्ण की श्रमूल्य देन," अपना सारा साहस बटोर कर सुमित्रा ने आखिर कह ही दिया.

"श्रीकृष्ण की देन झूठ और बेईमानी?" आश्चर्य के साथ आंखें फाड़ते हुए नागार्जुन ने पूछा.

"हां."

"आप कोई उदाहरण दे सकेंगी?"

"एक नहीं पचास," सुमित्रा ने कहा. "अधिक ढूंढने की आवश्यकता नहीं. महाभारत के श्रीकृष्ण से संबद्ध कोई सी घटना ले लीजिए. आचार्य द्रोण को ही देखिए. उन का जीवन स्वाभिमानपूर्ण, अध्यवसायी और पवित्र था या नहीं?"

"अवश्य था. मैं भी उन का आदर करता हूं."

"ज्ञान और बल दोनों में ही अद्वितीय द्रोणाचार्य जैसा आदर्श वीर व्यक्ति इतिहास के पन्नों में सरलता से मिल सकता है? उन में केवल एक ही दोष था और वह यह कि वह कोरे ब्राह्मण बन कर दूसरों की दयावृष्टि, दानदक्षिणा या भिक्षावृत्ति पर ही अवलंबित नहीं थे. उन की खुली चुनौती थी :

"अग्रतः चतुरोः वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः. इदं ब्राह्म इदं क्षात्रं शापादपि शरादपि."

(हमारे आगे अर्थात् मुख में चारों वेद हैं, पीठ पर धनुष और तरकस लटक रहे हैं. ये वेद हमारे ब्राह्मणत्व (ज्ञान) के चिन्ह हैं और धनुष बाण हमारे क्षत्रियत्व (योद्धा वृत्ति) के. याद रखो, हम संन्यासियों की तरह कोरे शास्त्र ज्ञान के भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने वाले ब्राह्मण ही नहीं हैं. यदि आवश्यकता पड़ी तो हम अत्याचारियों की शस्त्रों से खबर

लेने में कोई कोरकसर न उठा रखेंगे।)

मृत्यु की झूठी घोषणा

“आप ही बताइए प्रोफेसर साहब, ऐसी आत्मविश्वास पूर्ण गंभीर गर्जना उस बूढ़े सिंह के सिवा क्या और कोई कर सका है?”

“शायद नहीं,” नागार्जुन ने लापरवाही से उत्तर दिया।

“चलिए, शायद ही सही। किंतु श्रीकृष्ण ने उस महावीर को मरवाने के लिए जो षड्यंत्र रचा, क्या वह न्यायसंगत था? एक हाथी को मरवा कर युधिष्ठिर जैसे धर्म-भीरु से कपटपूर्वक द्रोणाचार्य के प्राणप्रिय पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु की झूठी घोषणा करा देना कहां तक उचित था?” सुमित्रा कहती गई, “और पुत्रशोक में विह्वल हो कर, हथियार फेंक कर, आंखें बंद कर के बैठे हुए निहत्थे द्रोणाचार्य का सिर कटवा लेना क्या सचमुच मानवतापूर्ण है?”

“उस समय ऐसा करना ही आवश्यक था,” नागार्जुन बोले। “सत्य और न्याय की रक्षा के लिए यदि थोड़े झूठ और अन्याय का भी सहारा लेना पड़े तो कोई बुराई नहीं। आप जानती हैं, पांडवों का पक्ष न्याय पर आधारित था। द्रोणाचार्य अन्यायी दुर्योधन का पक्ष ले रहे थे। उन्हें मारना आसान नहीं था और यदि उन्हें न मारा जाता तो वह कुछ ही दिनों में सारी पांडव सेना को समाप्त कर डालते। इस प्रकार न्याय की हत्या हो जाती।”

“और अब न्याय बच गया?” व्यंग्य-वाणी में सुमित्रा ने कहा। “न्याय की रक्षा के लिए अन्याय करने का अर्थ है अन्याय की वृद्धि करना। एक व्यक्ति पहले से अन्याय कर रहा है, उसे मिटाने के लिए आप ने भी अन्याय किया, तो पहले एक अन्यायी था, अब आप समेत दो अन्यायी हो गए। ठीक है न?”

“कुछकुछ ठीक ही समझिए। लेकिन यह अन्याय अन्याय नहीं है। कुछ समय के लिए तो ऐसा ही करना पड़ेगा।”

“सो तो जरूरी नहीं है। आप मुझे

बताइए कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने रावण को राखस वृत्ति का सहारा

कर ही?”

“मैं आप का मतलब नहीं समझा।”

“मतलब बिल्कुल साफ है। रावण अत्याचारी था, दुष्ट था, नीच था, राक्षस था, था न?”

“अवश्य!” नागार्जुन ने कहा।

“और श्रीराम को आप सज्जन, उदार तथा सच्चरित्र भी मानते ही होंगे।”

“निश्चित।”

“रावण को मारने के लिए क्या श्रीराम ने भी अत्याचार, दुष्टता, नीचता या राक्षस वृत्ति का सहारा लिया था?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। उन्होंने तो अपनी सज्जनता पर अटल रहते हुए ही...”

“दूसरे शब्दों में राम रहते हुए ही,” बीच में ही जोड़ते हुए सुमित्रा ने कहा।

“हां, राम रहते हुए ही रावण को मारा,” वाक्य पूरा करतेकरते प्रोफेसर नागार्जुन का स्वर गंभीर हो उठा।

“तो फिर श्रीकृष्ण ने ही सत्य की रक्षा के लिए असत्य क्यों बुलवाया? न्याय की रक्षा के लिए अन्याय क्यों कराया? क्या वह श्रीराम की तरह मनुष्यता, सत्य और न्याय के साथ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते थे? और क्या इसी लिए श्रीराम केवल बारह कलाश्यों के अवतार रह गए, क्योंकि उन्हें सोलह कलापूर्ण श्रीकृष्ण की तरह कपट, दंभ, झूठ और स्वार्थपरायणता आदि कलाश्यों का अभ्यास नहीं था? और भीष्म का वध? वह भी तो कुछ कम क्रूरतापूर्ण नहीं है,” कहतेकहते सुमित्रा के चेहरे पर करुणा और खेद के भाव उभर आए।

भीष्म का कपटपूर्वक वध

सुमित्रा ने आगे कहा, “अपने पिता को सुख पहुंचाने के लिए अपने सुखी गृहस्थ जीवन की कल्पना को सदा के लिए तिलांजलि दे कर दूसरे के लिए अपने प्रचंड

गीता के महान उपदेशक श्रीकृष्ण आज कोटिकोटि हिंदुओं के आराध्य देव बने हुए हैं, उन्हें भगवान मान कर पूजा जाता है। किंतु आज जीवन के हर क्षेत्र में हमारा जो नैतिक पतन हुआ है, उस का महाभारत के कृष्ण से कितना गहरा संबंध है, नीतिज्ञ कृष्ण की कूटनीति से सत्य और धर्म को कितना आघात पहुंचा है—इस लेख में इसी प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है।

स्वार्थ को बलिदान कर देने वाले धर्मात्मा का, एक विशाल साम्राज्य के समस्त भोग-ऐश्वर्य को तिनके से भी अधिक तुच्छ जान कर त्याग देने वाले आदर्श त्यागी बालब्रह्मचारी भीष्म का कपटपूर्वक वध करते हुए श्रीकृष्ण को जरा भी संकोच नहीं हुआ।

“बस, बस, रहने दो, सुमित्रा।” वार्तालाप के प्रारंभ से बिलकुल चुप्पी साधे बैठे हुए प्रोफेसर कृष्णात्रेय सहसा कड़क उठे। “हम कुछ बोलते नहीं हैं, तो इस का यह अर्थ कवापि न समझो कि तुम हमारी सुकुमार भावनाओं को जो भर कर कुचलने में स्वतंत्र हो। मेरे और सारे राष्ट्र के उपास्यदेव श्रीकृष्ण की मनमानी आलोचना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।”

“आवश में न आइए, प्रोफेसर कृष्णात्रेय,” सुमित्रा ने विनम्र स्वर में कहा। “मेरे हृदय में भी श्रीकृष्ण के प्रति कुछ कम श्रद्धा नहीं है। किंतु अपने आदरणीय व्यक्तियों की भी उचित आलोचना का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार देना भारतीय परंपरा का प्रमुख अंग है।

शत्रुः अपि गुणाः वाच्याः दोषाः वाच्याः गुरोः अपि।

(शत्रुओं में भी अगर कोई गुण है तो उस की सराहना करो और यदि अपने गुरुजनों में भी कोई दोष हो तो उसे उचित सिद्ध करने के दुराग्रह में न पड़ो।)

“भारतीय संस्कृति का यह परंपरागत आदर्श रहा है। तब राष्ट्र के हित के लिए सर्वथा उचित और सद्भावनापूर्ण आलोचना से इतना उद्दिग्ध हो उठने की क्या

आवश्यकता है?”

अपनी ही छात्रा की नम्रता से प्रोफेसर कृष्णात्रेय का मुंह उतर गया। उन्हें स्वप्न में भी यह आशा न थी कि उन की कड़ी फटकार का इतना स्नेहिल उत्तर भी कोई दे सकता है। उन्होंने अनुभव किया कि यदि किसी वस्तु को कठोर समझ कर जोर से ठुकराया जाए किंतु वह वस्तु वास्तव में कोमल हो, तो स्वयं ठुकराने वाले व्यक्ति की ही अंतरात्मा तक ठेस पहुंचती है।

श्रीकृष्ण द्वारा कुकर्म का सुझाव

“आलोचना तुम शौक से करो, सुमित्रा, किंतु भाषा कठोर नहीं होनी चाहिए,” अपने कड़े शब्दों पर आंखों ही आंखों में पश्चात्ताप सा प्रकट करते हुए कृष्णात्रेय ने कहा।

“तो कृपा कर के यह बताइए कि महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिए जो षडयंत्र रचा गया, स्त्री पर हाथ न उठाने वाले धर्मात्मा भीष्म को मारने के लिए शिखंडी के पीछे छिप कर महापराक्रमी अर्जुन ने जो घातक तीर चलाए, यह सारा आयोजन क्या वास्तव में उचित था? और श्रीकृष्ण द्वारा इस घोर कुकर्म का सुझाव और समर्थन क्या न्यायसंगत समझा जाना चाहिए?”

“राजनीति में सब कुछ न्यायसंगत हुआ करता है,” प्रोफेसर कृष्णात्रेय ने जैसे सुमित्रा को समझाते हुए कहा।

“इस सब कुछ से आप का मतलब न्याय, झूठ, कपट, विश्वासघात आदि से ही है न?” निश्चयात्मक स्वर में सुमित्रा

ने पूछा।

“हां,” दोनों प्रोफेसर एक-साथ बोले।
“राजनीति में इन सब की छूट है। शर्त केवल यह है कि हमारा लक्ष्य पवित्र होना चाहिए। उत्तम लक्ष्य को पूरा करने के लिए यदि बुरे साधनों का भी सहारा लेना पड़े तो कुछ बुराई नहीं है।”

“यही वह विषय है, प्रोफेसर साहब, जो श्रीकृष्ण के जीवन दर्शन की व्याख्या और प्रचार करने वाले हमारे राष्ट्र को दे रहे हैं। इसी कारण आज एक व्यापारी ब्लैक मार्केट में पांच लाख रुपये कमा कर, बनावटी हिसाब द्वारा इनकम टैक्स से बच कर, बीसपचीस हजार की लागत से मंदिर, धर्मशाला या ध्याऊ बनवा कर अथवा दो-चार सौ ब्राह्मणों को भोजन करा कर स्वयं को कृतकृत्य मानता है। उस की धारणा है कि अगर उस ने गरीबों का खून चूस कर बेईमानी से पैसा पैदा किया है तो क्या हुआ—वह उस का उपयोग पुण्य के कार्यों में भी तो करता है। हजारों लोगों के हृदय को चकनाचूर कर के साथसाथ वह दूसरे हजारों लोगों और धर्म की सेवा भी तो करता है। इस पर भी तुरी यह है कि धर्म और परलोक के ठेकेदार उस के इन सभी कार्यों का समर्थन भी श्रीकृष्ण के चरित्र की आड़ में ही करते हैं।”

नागार्जुन और कृष्णात्रेय को कुछ उत्तर न देते देख सुमित्रा ने श्रीमती कृष्णात्रेय को संबोधित करते हुए कहा, “क्यों भाभीजी, आप ही बताइए। मान लीजिए एक क्लर्क को इतना थोड़ा वेतन मिलता है कि उस के परिवार का अच्छी तरह गुजारा नहीं हो पाता। वेतन में तरक्की होने पर ही उस की कठिनाइयां दूर हो सकती हैं। लेकिन तरक्की करना न करना तो उस के अपने हाथ में नहीं, अफसर के हाथ में है। इसलिए अफसर को प्रसन्न करना बहुत जरूरी है। अब अगर वह अपनी बहन अथवा पत्नी को अपने अफसर की भेंट कर देता है, तो क्या बुराई है?”

“इन्हीं दोनों से पूछिए,” श्रीमती कृष्णात्रेय साड़ी की किनारी दांतों में दबा

कर हंसी रोकते हुए बोलीं।

“बुराई तो मुझ से बुराई है आप!”
नागार्जुन ने तपाक से कहा, “आप ही बताइए, क्या आप ऐसे व्यक्ति की बहन या, क्षमा कीजिए, पत्नी बनना पसंद करेंगी?”

“मैं क्या पसंद करूंगी, मैं जानती हूँ। किंतु आप के इस प्रश्न से ही स्पष्ट है कि कम से कम आप इसे पसंद नहीं करते।”

“हरगिज नहीं,” कृष्णात्रेय बोले।

“बिल्कुल नहीं,” नागार्जुन ने भी सिर हिलाते हुए कहा।

“अच्छा, तो किसी ऐसे मिनिस्टर या अफसर को आप क्या कहेंगे जो इसलिए रिश्वत लेता है कि उस के ऊपर मां, बाप, पत्नी, आधे दर्जन बच्चों तथा सगेसंबंधियों के भरणपोषण की जिम्मेदारी है? उन के पेट के गड़ढे को भरना उस का पहला सामाजिक कर्तव्य है।”

“आप गलत उदाहरण पेश कर रही हैं,” नागार्जुन ने कुछ खीजते हुए कहा।

“इस में गलत कौन सी बात हो गई? भूख को अन्न और तंगे को कपड़ा देना तो सबसे बड़ा पुण्य कहा जाता है। इस ऊंचे उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि वह रिश्वत ले ही ले तो क्या बुराई है? भले ही साधन उस के अच्छे न हों, लेकिन उद्देश्य को अच्छाई से तो इनकार नहीं किया जा सकता।”

“नहीं, नहीं, और चाहे कुछ भी हो लेकिन यह अवश्य बुरा है,” कहतेकहते नागार्जुन कुछ विचलित से हो उठे।

“यदि यह बुरा है तो फिर निंदनीय साधनों द्वारा कराया गया भीष्म और द्रोण का वध क्यों बुरा नहीं है, प्रोफेसर साहब? वास्तव में श्रीकृष्ण की राजनीति का यही दूषित प्रभाव हमारी नसनस में प्रवाहित है, और जब तक यह बना रहेगा हमारा राष्ट्रीय चरित्र कभी ऊंचा नहीं उठ सकता।”

जयचंद देशद्रोही क्यों?

सुमित्रा ने रुक कर कहा, “अपने राज्य को स्थिर रखने के लिए जयचंद और मान-

सिंह को ही फिर क्यों देशद्रोही कहा जाता है? उन्होंने भी तो जैसासे अपने लक्ष्य की पूर्ति ही की थी। मेरी तुच्छ सम्मति में तो अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए बुरे साधनों का उपयोग कर लेने की अनुमति देना ही मानवता का गला घोट देना है, प्रोफेसर साहब।”

“कैसे?” नागार्जुन ने वादविवाद को नए ढंग से सुलझाने के लिए संभल कर बैठते हुए प्रश्न किया।

“आप ही बताइए कि यदि अपने राष्ट्र को समृद्ध करने के उद्देश्य से एक राष्ट्र अपने पड़ोसी राष्ट्र पर आक्रमण कर देता है, और आक्रांता देश के शांतिप्रिय नागरिक इस का विरोध करते हैं, ऐसी अवस्था में यदि आक्रांता देश के सैनिक उन नागरिकों की सामूहिक हत्या कर डालें तो क्या यह उचित होगा?”

“कदापि नहीं।”

“क्यों? जब आज सामूहिक हत्या से एक राष्ट्र की बहुत सी समस्याएं सुलझती हैं, एक बुरे साधन से अच्छे उद्देश्य की पूर्ति होती है, तो आप को क्या आपत्ति है? गांधी-वाद और साम्यवाद में यही तो मौलिक अंतर है। साम्यवाद बुरे साधनों को अपने नाने में हिचकता तक नहीं, जब कि गांधी-वाद साधनों की पवित्रता पर भी उतना ही ध्यान देता है जितना साध्य की, लक्ष्य की, ध्येय की पवित्रता पर।”

“छोड़िए भी इन वादों के चक्र को। आप यह बताइए कि किसी राष्ट्र के निरपराध नागरिकों की तुलना आप ने धूर्तों और दुर्जनों का साथ देने वाले भीष्म और द्रोणाचार्य से कैसे कर डाली?” नागार्जुन ने चुटकी ली।

साम्ने की पत्नी

“आप की इस बात से मैं सोलह आने सहमत हूँ कि दुर्योधन दुष्ट था और पांडव पूरे संत। महाषि वेद व्यास द्वारा विचित्र-वीर्य की विधवा रानियों और दासी से पैदा हुए पुत्रों में प्रमुख पांडु की पत्नियों ने अपने पति से नहीं, इंद्र, धर्म, वायु आदि से

पुत्र उत्पन्न किए। यधिष्ठिर आदि इन पांच पुत्रों ने एक द्रापदी की सौझ की पत्नी के रूप में रख कर आतृप्रेम का अद्भुत और आप लोगों के लिए शायद अनुकरणीय भी, आदर्श स्थापित किया। धर्मपुत्र यधिष्ठिर तो ठहरे महान त्यागी—उन्होंने उस साम्ने की पत्नी को जुए जैसे पुण्य कर्म में दांव पर लगा दिया। ऐसे बहुत से सद्गुणों के कारण वह धर्मराज कहलाए और दुर्योधन वास्तव में निरा दुष्ट ही था—उस नीच ने धर्मराज के चरण चिन्हों का अनुसरण कर के अपनी पत्नी को दांव पर जो नहीं लगाया!” अंतिम शब्द कहतेकहते सुमित्रा की कृत्रिम गंभीरता मुसकराहट में परिवर्तित होतेहोते रह गई। उस ने उसे छिपाने की चेष्टा करते हुए श्रीमती कृष्णात्रेय की ओर मुंह फेर कर कहा, “क्यों ठीक है न भाभीजी?”

“विषय को हम बहुत दूर छोड़ आए, सुमित्रा,” बातचीत का रुख बदलने की इच्छा से नागार्जुन बोले, “हमारे आलोच्य पांडव नहीं, श्रीकृष्ण थे।”

“आप ने अच्छी याद दिलाई। युद्ध के नियमों के विरुद्ध दुर्योधन की जांच तुड़वाते हुए श्रीकृष्ण कुटिलता की अंतिम सीमा से कितनी दूर रह गए थे?”

“इस संबंध में तो मैं भी कभी सोचता हूँ, दोस्त नागार्जुन!” प्रोफेसर कृष्णात्रेय ने उस के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, “आखिर बेचारे दुर्योधन का ही ऐसा क्या अपराध था? जो दुर्गुण उस में थे वे सभी लगभग थोड़ीबहुत मात्रा में पांडवों में भी विद्यमान थे। फिर दुर्योधन की हत्या कृष्ण ने इस प्रकार क्यों करवाई? कर्ण जैसा महापराक्रमी दानवीर तो मुझे इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देता। मरतेमरते भी जिस ने अपने द्वार से भिखारियों को निराश नहीं जाने दिया, इंद्र और कुंती के कपट को पहचान कर भी जिस ने अपने जीवन के प्रतीक कवच और कुंडल तक दे डाले, संसार के सारे महावीरों, यहां तक कि अर्जुन को भी ‘देवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्’ कह कर ललकारा, और

कृष्ण समेत अर्जुन को नाकों चने चबवा दिए—उस सप्पट आगमिन्गम डिजिटल एसेवेशन फाउंडेशन, चेन्नई, भारत

“और कर्ण ने जो अभिमन्यु को कपट-पूर्वक मरवाया था?” तोखे स्वर में नागार्जुन ने कहा।

कपट की चरम सीमा

“वह कपट नहीं नीति थी, प्रोफेसर साहब।” सुमित्रा के ये शब्द सुनते ही नागार्जुन तिलमिला उठे। “यही तो हमारा अनुचित पक्षपात और बुद्धि का दिवालियापन है। एक काम श्रीकृष्ण करें तो पुण्य, वही यदि दुर्योधन या कर्ण करें तो पाप—क्या यही न्याय है? ‘दुर्जन तोष न्याय’ से यदि हम आप ही की बात मान लें तो भी श्रीकृष्ण, कर्ण और दुर्योधन चोरचोर मौसेरे भाई ही ठहरते हैं। हमारे लिए तो जैसे नागनाथ वैसे सांपनाथ। दोष चाहे किसी के भी हों दोष ही रहेंगे। उस बेचारे जरासंध के साथ भी तो कुछ आप न्याय कीजिए जिसे श्रीकृष्ण की कुटिलता का बुरी तरह शिकार होना पड़ा था, जिसे मरवाने में श्रीकृष्ण कपट की चरम सीमा तक पहुंच गए थे।”

“कैसा कपट?”

“इस से स्पष्ट कपट और क्या हो सकता है? श्रीकृष्ण ने कंस को मारा। उस की दोनों पत्नियां, जो मगध नरेश जरासंध की पुत्रियां थीं, विधवा हो गईं। युद्ध हुआ। जरासंध कई बार हारा और अंत में उस ने कृष्ण को हराया भी—यहां तक कि कृष्ण को मथुरा छोड़ कर भागना पड़ा और वह द्वारिका में जा बसे। बात आईगई हो गई। पांडवों के राजसूय यज्ञ का निमंत्रण पा कर श्रीकृष्ण ने कपट का जाल बिछाना शुरू कर दिया और पांडवों को जरासंध का शत्रु बना कर भीम और अर्जुन के साथ ब्राह्मण के बेश में युद्ध की भिक्षा मांगी। सुन रहे हैं, प्रोफेसर साहब,” नागार्जुन की आंख बंद किए देख कर सुमित्रा ने टोका।

“आप कहे जाइए—मैं सब सुन रहा

हूँ,” नागार्जुन बोले।

“हां तो, उस महापराक्रमी जरासंध ने कहा, ‘सुनो रे, ब्राह्मण वेशधारियों, मैं तुम्हें खूब जानता हूँ। लेकिन याद रखो, यह कृष्ण लड़ाई में मेरे सामने से भाग चुका है, इसलिए इस के साथ लड़ना मेरी शान के खिलाफ है। अर्जुन मुझ से छोटा, और दुबलापतला है, इसलिए इस से भी मेरा लड़ना उचित नहीं है। हां, यह महापराक्रमी भीम मेरे सामने है, इस से मैं अवश्य लड़ लूंगा।’ इन शब्दों के साथ उस ने ठीक अपने जैसी वज्रघटित गदा भीम को दी और लगातार कई दिन तक भीम के दांत खट्टे किए। लेकिन लड़ाई के दिनों में भी वे एक साथ खाते और सोते रहे।”

“आप इस लंबी कथा से क्या दक्षिणा बटोरना चाहती हैं?” हंस कर व्यंग्य करते हुए नागार्जुन ने कहा।

“कया का चढ़ावा और दक्षिणा तो आप ही को मुबारिक हो, मेरा श्रम तो केवल इतने मात्र से सफल हो जाएगा यदि आप यह स्वीकार कर लें कि कृष्ण ने भीम को यह सलाह दी कि वह जरासंध को युद्ध के नियमों के विरुद्ध टांगे चीर कर मार डाले और श्रीकृष्ण के हाथ की कठपुतली महापराक्रमी भीम ने आखिर यही धोखा किया।”

आदर्श योगीश्वर

दोनों को चुप देख कर सुमित्रा ने कहा, “गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण ने गीता में स्थितप्रज्ञ योग का जो रूप बताया है, क्या योगिराज का वह रूप उन योगिराज का भी था?”

“था क्यों नहीं? श्रीकृष्ण तो आदर्श योगीश्वर थे।”

“रहे होंगे। पर रागद्वेष तो उन से दूर हो नहीं पाए थे। शिशुपाल की कटू-वक्तियों से उन की शांति का सागर क्या स्थिर रह सका था?”

“लेकिन शिशुपाल की गालियों की चर्चा तो आप ऐसे पी गईं जैसे दूध में घुली हुई मिश्री। जरा उन का भी तो विवरण आप ने दे दिया होता। यदि आप ही को

शिशुपाल की वे गालियां पेश की जाएं तो आप क्या करेंगे? नागार्जुन ने पूछा।

“मैं तो सब से पहले चांटा रसीद करूंगी, क्योंकि मैं स्थितप्रज्ञ योगी नहीं हूँ, लेकिन श्रीकृष्ण तो योगीश्वर थे, योगिराज थे, ‘विकार हेतौ सति विक्रियंते येषां न चेतांसि त एव धीराः’ (क्रोध का कारण मौजूद होते हुए भी जिन के मन में विकार पैदा न हो, वही तो धीर हैं, उन्हें ही तो योगी कहा जाता है।) अनमिली के तो सभी त्यागी होते हैं, प्रोफेसर साहब, बिना किसी कारण के तो केवल पागल ही क्रोध करता है, हाँ, शक्ति और कारण दोनों के रहते हुए भी कोई क्रोध न करे तो वह अवश्य ही महान है, वही योगी है, थोड़ी सी गालियां सुननी पड़ें और विचलित हो गए, और एक सम्मानित अतिथि को, जिसे स्वयं निमंत्रण दे कर बुलाया गया हो, उसे मार डाला! यह कैसे योगी की निशानी है? या स्थितप्रज्ञ बनने का उपदेश केवल दूसरों के लिए ही था? इस प्रकार के उपदेश तो मैं भी बड़े सुंदर दे सकती हूँ, पर सवाल यह है कि क्या केवल उपदेश देने से ही मनुष्य योगिराज बन जाता है, चाहे वह स्वयं अपने जीवन में उन सभी बातों की हत्या कर रहा हो?”

घोर कलियुग

“घोर कलियुग आ गया प्रतीत होता है मुझे तो,” नागार्जुन खीज उठे।

“हृद हो गई नास्तिकता की? पाप का पलड़ा दिनोंदिन भारी होता जा रहा है, पता नहीं शिशुपाल, जरासंध, दुर्योधन, कर्ण, द्रोण और भीष्म से क्या रिश्तेदारी है आप की, जो आप उन का इतना पक्ष ले रही हैं?”

“रिश्तेदारी तो हमारी इन से वही है जो आप की श्रीकृष्ण से है,” सुमित्रा ने कहा, “हां, भारतीय इतिहास लेखकों द्वारा हजारों वर्षों से शापित दुर्योधन आदि के प्रति सहानुभूति रखना भी अगर पाप है तो आप पहले महात्मा बलराम को दोष दीजिए जो कृष्ण के बड़े भाई होते

हुए भी दुर्योधन के शस्त्र गुरु थे, जिन्होंने दुर्योधन के पक्ष में कुछ भी नहीं किया, उन श्रीकृष्ण को दोष दीजिए जिन्होंने अपनी सारी सेना पापी दुर्योधन के हवाले कर दी और स्वयं अपनी सेना के विरुद्ध पांडवों के पक्ष में जा मिले, अरे, हाँ, यह तो बताइए प्रोफेसर साहब, श्रीकृष्ण ने स्वयं अपनी सेना दुर्योधन को क्यों दी थी? इसी लिए न कि श्रीकृष्ण अपने दोनों हाथों में लड़्डू रखने के लिए एक पक्ष में अपनी सेना छोड़ कर स्वयं दूसरे पक्ष में रहना उचित समझते थे ताकि जीत चाहे किसी भी पक्ष की हो, अपनी कौड़ी सदा ही सीधी रहे?”

“मैं अपने आराध्य देव की निंदा सुनना पसंद नहीं करता,” बुरी तरह खीजे हुए नागार्जुन आखिर झुंझला कर उठे और कुछ आवेश के साथ बाहर जाने लगे।

सुमित्रा ने गंभीर हो कर कहा, “मैं आप के आराध्य देव की निंदा नहीं करना चाहती, पर आप ने कभी सोचा है कि बुद्धि और बल में किसी से कम न होते भी हम हिंदू क्यों हमेशा से विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पराजित होते चले आए हैं? इसी लिए कि हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को राष्ट्र व समाज के हित से अधिक महत्व देते रहे हैं, बताइए, हमारी स्वार्थपरायणता और अनैतिकता को बल कहां से मिलता है? अपने छोटे से छोटे स्वार्थ के लिए भी असत्य और अधर्म का सहारा लेने के लिए हमें कौन प्रेरणा देता है? आप अपने आराध्य देव कृष्ण की पूजा अवश्य कीजिए, पर उन की कूटनीति का समर्थन कर के राष्ट्र के अहित में भागीदार न बनिएं।”

सुमित्रा के स्वर में निःस्वार्थ वेदना छलक उठी और उस की राष्ट्र गौरव की भावना से प्रोफेसर नागार्जुन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, कुछ गंभीर चेहरा लिए वह बाहर सड़क पर निकल आए और कृष्ण की नीति व अपने राष्ट्र के नैतिक स्तर के संबंध में सोचते हुए मार्ग के अंधेरे में खो गए। ●

परलोकवाद

मन्मथनाथ गुप्त

भ्रामक धारणाओं से लाभ किस को?

जिस रूप में हिंदुओं में परलोकवाद प्रचलित है, वह बहुत प्राचीन है। वैदिक काल में परलोक के संबंध में कल्पनाएं प्रचलित नहीं थी। वैदिक सभ्यता बलिष्ठ विजेता लोगों की सभ्यता थी, जिस में लोग अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट थे। जमीन बहुत अधिक थी, नए-नए प्रदेश कब्जे में आते जा रहे थे, उन का यह लोक काफी सुखी था, इस कारण इहलोक के दुखों की क्षतिपूर्ति के रूप में परलोकवाद के लंबेचौड़े दर्शनशास्त्र अथवा मुक्ति या निर्वाण की उन्हें आवश्यकता नहीं थी।

बढ़ते हुए साम्राज्य के कारण आपसी वर्गसंघर्ष बहुत कुछ छिपा हुआ था, इस लिए उस युग के लोगों का धर्म, कम से कम उस का प्रथम स्तर, बहुत सरल था। उन का धर्म, यानी देवताओं के साथ उन का संबंध, साधारण लेनदेन का था। इंद्र, वरुण, अर्यमा, भग, यम आदि उन के जो थोड़े से देवता थे, वे आर्या के ही पूर्व पुरुष तथा उन्हीं के वीर थे। उन के धर्म में कुछ तो पितृपूजा का उपादान था और कुछ प्राकृतिक शक्तियों के विषय में बहुत कम ज्ञान या अज्ञान होने के कारण तिलस्म में विश्वास था। मनुष्य की तुलना में इंद्र आदि देवताओं की श्रेष्ठता अभी तक उसी प्रकार की थी, जैसे पुत्र के सामने पिता या माता की होती है, कदाचित इस से अधिक नहीं। कालक्रम से यही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठानों से युक्त हो गया

और उस की वह आदिम सरलता जाती रही।

क्रमशः अनुष्ठानमूलक बन जाने के कारण पहले के सरल धर्म में पुरोहितों की प्रधानता हो गई। पुरोहित अब अपने विशेष ज्ञान की बदौलत समाज में उच्च स्थान का दावा करने लगे। धर्म का रूप सोलहों आने शासक वर्ग का स्वार्थसाधन हो गया। इस के जरिए अन्य लोगों का शोषण होने लगा। स्वाभाविक रूप से इस के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह विद्रोह, या सच कहा जाए तो आंशिक विद्रोह, कई रूपों में सामने आया। इन विद्रोहों का परिचय कहीं-कहीं उपनिषदों में मिलता है, इन्हीं विद्रोहों के फलस्वरूप चार्वाक, वैशेषिक, सांख्य, न्याय, बौद्ध और जैन मतमतांतरों का उदय हुआ। हमें यहां भारत में धर्म का कोई धारावाहिक इतिहास नहीं पेश करना है। उस के लिए यह प्रसंग भी नहीं है, हमें तो केवल यही दिखाना है कि परलोक के संबंध में जो बहुत बड़ा शास्त्र बना, वह, तथा जन्मांतरवाद बाद के युग की उपज है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक मंत्रों में आत्मन् शब्द आता है। पर इस का कहीं-कहीं अर्थ केवल सांस है। भाषाशास्त्रियों का यह विचार है कि आदिम मनुष्य ने अपनी सरल बुद्धि से यही देखा कि जिंदा और मरे हुए व्यक्ति में यही फर्क है कि जीवित व्यक्ति सांस

लेता है और मरा हुआ व्यक्ति नहीं लेता। इसलिए दोनों में जो फर्क है, उस सांस का रूप मिला। सर एडवर्ड वी. टाइलर ने बहुत सुंदर ढंग से कहा है :

“श्वासों के रूप में आत्मा की धारणा का हम सेमेटिक तथा आर्य शब्दशास्त्र के जरिए अनुसरण कर जगत के दर्शनशास्त्रों की मुख्य धाराओं तक पहुंच सकते हैं। इब्रानी में श्वास के अर्थ में जीवन, आत्मा, मन, प्राणी सभी आ जाते हैं। संस्कृत आत्मन् तथा प्राण, ग्रीक साइके तथा न्यूसा, लैटिन ऐनीमस, ऐनीमा, स्पिरिट्स का यही इतिहास है। स्लाव भाषाओं के डूक शब्द में भी श्वास से आत्मा अर्थ की उत्पत्ति हुई है। जर्मियों की बोलचाल में यही शब्द डूक के रूप में श्वास, आत्मा तथा प्रेतवाचक है। जर्मन गाइस्ट शब्द और अंगरेजी घोस्ट शब्द मौलिक अर्थ में शायद एक ही हैं।”

आत्मा क्या है?

इस प्रकार यहां यह साफ है कि जिस आत्मा शब्द पर धर्मव्यवस्थितों को इतना नाज है, वह अल्प ज्ञान वाले आदिम मानव द्वारा रचित एक कठिन शब्द का सरल रूप है। आदिम मानव ने ऊपरी तौर पर देख कर यही नतीजा निकाला कि मरे हुए व्यक्ति की सांस चली जाती है, आदिम मानव के लिए इस से अधिक गहराई में जा कर यह देखना या जानना संभव नहीं था कि शरीर के अंदर की अन्य बहुत सी क्रियाएं, जैसे रक्त का प्रवाह आदि, भी साथसाथ बंद हो जाती हैं। हम यहां पर इस जटिल तथ्य में नहीं जाना चाहते कि जीवन क्या है? केवल इतना ही कह कर हम आगे बढ़ जाएंगे कि जीवन संबंधी बहुत से तथ्य विज्ञान की सतत शोध के सामने खुल गए हैं, हम करीबकरीब इस परिस्थिति में हो गए हैं कि जीव वैज्ञानिक तथा रासायनिक शब्दों से उस की परिभाषा करें। कदाचित बहुत शीघ्र ही हम कृत्रिम रूप से जीवन उत्पन्न

करने में भी समर्थ हो जाएंगे।

इस प्रसंग में यह भी एक पुरानी बात है कि ऋग्वेद में कहींकहीं आत्मा को मनस भी कहा गया है। यह मनस, जैसा कि एडवर्ड जे. टामस ने अपनी पुस्तक ‘बौद्ध विचार का इतिहास’ में दिखाया है, शरीर से चला जाता है और आता है। आत्मा का रूप क्या है, इस बारे में पहले भौतिक धारणाएं थीं—ऐसा मालूम देता है। आत्मा को एक शास्त्रीय उल्लेख में सूक्ष्म शरीर, मात्र अंगुष्ठप्रमाण, यानी अंगूठे भर का बताया गया है। ऐसे और उल्लेख मिलते हैं। फ्रेजर ने बहुत सी जंगली जातियों में इस प्रकार की धारणा प्रचलित पाई। आदिम आस्ट्रेलियावासी यह समझते थे कि हृदय में एक छोटा सा मनुष्य बसता है, जो मरने के बाद चल देता है। पूछा गया कि वह कहां जाता है, तो किसी ने कहा कि वह झाड़ियों में जाता है, किसी ने कहा समुद्र में, किसी ने कहा पता नहीं। हुरनों का कहना था कि आत्मा के सिर, धड़, हाथ और पैर हैं। ऐस्किमो लोगों का विश्वास है कि आत्मा का रूप हबहू व्यक्ति के शरीर की भांति होता है, पर वह बहुत ही छोटा है। नुटका लोगों के अनुसार भी आत्मा एक नन्हा सा मनुष्य है, इस का निवास खोपड़ी में है। फ्रेजर ने ऐसे ही दिखाया है कि मलय में लोग आत्मा को अंगुष्ठप्रमाण, पर मुख्यतः अदृश्य, मानते हैं। ऐसी ही धारणा फिजी के आदिवासियों में पाई गई। बहुत सी आदिम जातियों में सोने वाले को जगाना निषिद्ध माना जाता है, क्योंकि यह समझा जाता था कि सोते समय आत्मा घूमनेफिरने जाती है।

बाद को इसी जड़, स्थूल आत्मा का सूक्ष्मीकरण कर के कैसे उस पर एक बहुत जटिल धर्मशास्त्र का तानाबाना तैयार किया गया है, उस से हम सभी परिचित हैं। मानव जाति का यह दुर्भाग्य है कि मनुष्य के विरुद्ध यह षड्यंत्र सारी मानव जाति में हुआ है। जिस बात को वैज्ञानिक रूप में समझाने की चेष्टा होनी चाहिए थी,

उसे ऐसा न कर उस पर कल्पनाओं की इमारत बनाई गई क्या यह केवल एक आकस्मिक बात है? नहीं।

शुरू में वैज्ञानिक जिज्ञासा थी, पर उस के संबंध में तृप्ति के साधन नहीं थे। इसलिए एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि अज्ञान को स्वीकार न कर के कुछ लोगों ने मनुष्य के कुतूहल के साथ मन-मानी की। इस प्रकार कुतूहल तथा ज्ञान की प्यास से एक ओर विज्ञान और दूसरी ओर जादूटोने तथा धर्म का उदय हुआ। विज्ञान की उन्नति होने से जितनी तेजी से जादूटोने तथा अधकचरे मतमतांतरों को रोका जा सकता था, वे उतनी तेजी से रोके नहीं गए। इस कारण अन्य पक्ष की ही अधिक उन्नति हुई, यहां तक कि धर्म के विरुद्ध जो मतमतांतर पैदा हुए उन में से ज्यादातर बाद में उसी दलदल में ही फंस गए।

मृत्यु अपरिहार्य है

यह मानना गलत होगा कि केवल कुछ लोगों की स्वार्थ बुद्धि अथवा चालाकी के कारण ही यह विश्वव्यापी षड्यंत्र सफल हुआ। असल में मनुष्यमात्र अमर होने की अभिलाषा रखता है, यानी वह मरना नहीं चाहता। यदि वह अपने सामने अपने प्रिय-जन को मरते देखता है तो उसे बुरा लगता है। वह मृत्यु को रोक तो नहीं सकता, पर यह कल्पना तो कर सकता है कि यदि उस का प्रियजन इस शरीर में नहीं, तो और किसी रूप में रहता है या रह जाता है और बाद में उस से उस का मिलन हो सकता है।

मनोविज्ञान में इच्छापूर्ति या 'विश फुलफिलमेंट' का बड़ा महत्त्व है। जब हम वास्तविक जीवन में किसी इच्छा की पूर्ति नहीं कर पाते, तो हम कल्पना या स्वप्न में उस की पूर्ति करते हैं। ऐसे कई सपने हमें दिखाई देते हैं, जिन में हमारी कोई इच्छा पूरी हो जाती है। हम अपने प्रिय-जनों से हजारों मील दूर हैं, यहां तक कि

वे मर चुके हैं और हम जीवित हैं, पर स्वप्न में हम कई बार उन से मिल लेते हैं। परलोक की कल्पना में इस उपादान ने भी बहुत काम किया होगा, इस में संदेह नहीं।

इच्छापूर्तिमूलक धारणा को विज्ञान का रूप देने तथा जहां अज्ञान है, वहां कल्पनामूलक शब्दजाल का विस्तार करने में वर्गस्वार्थ, यानी शासक वर्ग के स्वार्थ, ने बड़ा काम किया। उन के भाड़े के टट्टुओं ने बड़े परिश्रम से इन कल्पनाओं को ऐसा रूप दिया कि वे शासक वर्ग के लिए लाभ-जनक हों।

मिस्र की आख्यायिकाओं से पता चलता है कि जब आइसिस को अपने पति ओसाइरिस की लाश मिली, तो वह उस के पास बैठ कर रोने लगी। उस की बहन नेपथिस ने भी उस का साथ दिया। दोनों बहनों के रोनेधोने से सूर्य देवता रा ने ऐन्युबिस देवता को भेजा, जिस ने आ कर आइसिस, नेपथिस तथा अन्य लोगों की सहायता से ओसाइरिस को ठीकठाक किया। ओसाइरिस फिर से जी उठा और तब से वह परलोक में मृतकों का राजा बन गया था। दूसरे शब्दों में वह मिस्र देश वालों का यमराज बन गया।

इस घटना का वर्णन करने के बाद फ्रेजर कहते हैं, "ओसाइरिस के पुनरुज्जीवन में मिस्रवासियों ने कब्र के उस पार चिर-जीवन की प्रतिष्ठा सी देखी। उन का यह विश्वास था कि यदि मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के रिश्तेदार वे सब अनुष्ठान तथा कृत्य करें, जो आइसिस ने किए, तो प्रत्येक व्यक्ति परलोक में चिरंतन जीवन प्राप्त कर सकता है।"

मिस्र देश वालों की यह धारणा किस हद तक तथा किस दिशा में बढ़ी, इस का विवरण ममियों (विशेष प्रकार के मसाले लगा कर सुरक्षित रखे गए शव, जो हजारों वर्ष तक नष्ट नहीं होते) के साथ प्राप्त वस्तुओं से ज्ञात है। राजाओं की ममियों के साथ उन की कम से कम

एक रानी तथा कुछ नौकर-चाकरों को भी मार कर साथ कर दिया जाता था। एक बार एक मृत राजा को कोई खबर देने से पहले एक दास को वह खबर बता कर फिर उसे मार डाला गया। इस प्रकार यह माना जाता था कि जो यहां दास है, वह परलोक में भी दास रहेगा। यह दासों के लिए उस कल्पना से कहीं अधिक निर्दय है, जिस में यहां का धनी वहां दरिद्र और यहां का दरिद्र वहां का धनी होगा। पर इस में प्रवंचना और प्रतारण का उपादान नहीं था। हमारे श्राद्ध और तर्पण में भी मृतकों को खाना आदि पहुंचाने का उपादान है।

परलोकवाद की व्याख्या

कहीं यह न समझा जाए कि परलोकवाद के संबंध में मार्क्स तथा उन के शिष्यों ने ही इस प्रकार की व्याख्या की प्रथा चला दी। इस कारण मैं मार्क्स से पहले उत्पन्न नेपोलियन के एक वचन को उद्धृत करूंगा। उस ने कहा था “बिना धर्म के भला किसी राष्ट्र में सुव्यवस्था कैसे कायम रह सकती है! समाज व्यक्तियों के भाग्यों की विषमताओं के बिना चल नहीं सकता और धर्म के बिना ये विषमताएं टिक नहीं सकतीं। जिस समय एक व्यक्ति भूखों मर रहा है, और उस के बगल में दूसरा व्यक्ति अति भोजन के कारण बीमार है, उस समय पहला व्यक्ति तब तक किसी हालत में भी अपनी परिस्थिति को सहन करने के लिए तैयार न होगा, जब तक कोई अधिकारी व्यक्ति उस के सामने आ कर जोरों के साथ यह न कहे कि यही हरि इच्छा है। जगत में अमीर और गरीब दोनों का होना अनिवार्य है, किंतु इस जगत के बाद परलोक में इस समय बंटवारे का जो तरीका है, वह हमेशा के लिए बदल जाएगा।”

इस प्रसंग में ईसा का यह वचन भी स्मरणीय है: “ऊंट सुई के छेद में से निकल सकता है, पर धनी व्यक्ति स्वर्ग

में नहीं जा सकता।” इस कथन का यह अर्थ हुआ कि स्वर्ग गरीबों के लिए अपरिहार्य है। क्या इस से यह स्पष्ट भनक नहीं मिलती कि गरीबों को अपनी परिस्थिति से प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि इस जगत में वे चाहे कितने दुखी रहें, परलोक में उन के लिए सुख ही सुख है? इस प्रकार के कथनों का एक और अर्थ होता है कि लोग संतोष किए रहें, विद्रोह न करें, किसी भी प्रकार धनियों के सुखभोग में बाधा उत्पन्न न करें।

इसी कारण मार्क्स ने धर्म को जनता के लिए अफीम करार दिया है। पर इस से भी बहुत पहले कवि लुकेसियस ने लिखा था कि जनता को पुरोहितों की भयानक वाणियों से दबाया जाता है डेविड ह्यूम ने “मानवीय बुद्धि संबंधी एक शोध” नामक रचना में लिखा था: “पुरोहितों के कट्टर सिद्धांत मनुष्य की विद्रोही बुद्धि को दबाने तथा पालतू बनाने के लिए प्रस्तुत किए गए हैं।”

इस के अलावा इस प्रसंग में यह भी देखने की बात है कि प्राचीन से ले कर नवीन तक सभी धर्मों में मंदिर के पुजारी तथा मठधारी लोग चैन की बांसुरी बजाते थे, उन के पास बड़ीबड़ी जायदादें थीं। पुरोहित वर्ग और शासक वर्ग में बराबर मित्रता और सहयोग रहता था।

हम इस लेख में धर्म पर न लिख कर अपने को परलोकवाद तक ही सीमित रखना चाहते हैं, नहीं तो इस के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं कि धर्म ने किस प्रकार शासक वर्ग का साथ दिया और पगपग पर विज्ञान तथा बुद्धि का विरोध किया। जिस ने भी जरा नई बात कही, उस का गला फौरन घोंट दिया गया। विरोधियों के दर्शनशास्त्र लुप्त कर दिए गए। इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि चार्वाक के दर्शनशास्त्र का जो थोड़ाबहुत विवरण मिलता है, वह उन के विरोधियों की पुस्तकों में खंडनार्थ उद्धृत अंशों में ही प्राप्त होता है। प्राचीन यूनान में सुक्रात को जहर का

प्याला पिलाया गया था, बेचारे अरस्तू को एथेंस से भाम कुर अपेक्षाकृत कम समय में सिडोनियों की शरण में जाना पड़ा। स्मरण रहे यह अरस्तू वही युग प्रवर्तक विद्वान है, जिन के संबंध में एक लेखक ने कहा है कि वह ज्ञान की एक ऐसी खान है, जिसे लगभग सौ पुस्त से लोग चोरियां कर रहे हैं, पर अब भी उस से कोई फर्क नहीं आया। कोष्ठक के अंदर इन्हीं महा-पंडित अरस्तू के विषय में कान में यह बता दिया जाए कि वह बड़े भारी तत्वान्वेषी और एक हृद तक विद्रोही होने पर भी यह लिख गए हैं कि समाज में सुव्यवस्थित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस में गुलाम हों, यानी उन्होंने अपने समय में प्रचलित गुलाम प्रथा का समर्थन किया था।

मैं यह बता रहा था कि किस प्रकार यूनान में धर्म तथा धार्मिकों द्वारा सत्य को सताया गया। प्रोटागोरस (ई. पू. चतुर्थ शताब्दी) को भागना पड़ा था और उन की सब पुस्तकें जला दी गई थीं। एनेक्सागोरस गिरफ्तार कर लिए गए थे, किंतु मित्रों ने उन्हें भगा कर उन की जान बचा दी। एपोलोनिया के डायोजेनिस पर मुकदमा चलाया गया। येल्स, डिमोक्रीटस आदि पर न जाने क्याक्या लांछन लगाए गए।

बाद के युग में ईसा सूली पर चढ़ाए गए, पर स्वयं ईसाइयों ने ही धर्म की रक्षा के लिए सैंकड़ों आदमियों को जिंदा जला दिया। वैज्ञानिक भी नहीं बचे। गैलिलियो (1564-1642) ने कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ घूमती है, न कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर, जैसा कि बाइबिल में कहा गया है। इस पर उन्हें बहुत अधिक सताया गया। जियोरोदानो ब्रूनो को भी इसी प्रकार कष्ट दिए गए। मुहम्मद को मदीना भागना पड़ा, पर बाद में उन के अनुयायियों की तलवार के सामने पारसी ईरान से भागे और मध्य एशिया में बौद्ध भारे गए, इत्यादि। क्या इन बातों से यह स्पष्ट नहीं है कि धर्म शासक वर्ग की स्वार्थ पूर्ति का

एक तरीका है, और इस ने बराबर कहीं परलोक का डर दिखा कर, कहीं अन्य बातों से एक प्रकार की गिराहबंदी को जन्म दे कर शोषण में सहायता दी है?

अधार्मिक उद्देश्यों के लिए धर्म

धर्म में अत्यंत कट्टर समर्थक एडगर शेफील्ड ब्राइटमैन को भी मानना पड़ा कि यह सच है कि जो लोग धर्म की दुहाई देते हैं, उन्होंने शायद ही कभी उस के उच्चतम सिद्धांतों का पालन किया है और धर्म याजकों, राजनीतिज्ञों तथा उद्योग-पतियों ने अकसर धर्म को अधार्मिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया है। आज जो लोग सोवियत संसार की निरीश्वर-वादिता पर बिलाप करते देखे जाते हैं, उन का सारा व्यवहार ऐसा है कि वे एक दिन भी यह समझ कर चलें कि वे ईश्वर की इच्छा को महत्त्व देते हैं, तो उसका सारा जीवनक्रम तहसनहस हो जाएगा। ('धर्म का एक दर्शन': पृष्ठ 259.)

स्वर्ग और नरक की कल्पना किस प्रकार विशेष मतवाद को जोर पहुंचाने के लिए प्रयोग में आ सकती है, इस का उदाहरण हम विभिन्न पुराणों से देंगे।

हिंदुओं में नरक का बड़ा लंबाचौड़ा प्रसंग है। पुराणों में नरकों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं: तामिश्त्र, अंधतामिश्त्र, रोरव, महारोरव, कुंभीपाक, कालसूर्य, असिन्नपवन, शूकरमुख, अंधकूप, कृमिभोजन, संदेश, तप्तभूमि, वज्रकटक, शाल्मली, वंतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशासन, लाला-भक्ष, सारमेयादन, अर्वाचिरःपान, क्षरकर्म, रक्षोगण भोजन, शूलघ्नोत, दंतशूक, अवि-निरोधन, पर्यावर्तन, सूचीमुख आदि। नरक में कुंड होने की भी कल्पना है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार नरक कुंडों की संख्या 86 है।

प्राचीन यूनानी कल्पना से नरक पांच नदियों से घिरा हुआ है। इन नदियों के नाम क्रमशः इस प्रकार अनुवादित हो सकते हैं : यंत्रणा, क्रंदना, घृणा, दाहिका

और विस्मृति. मिल्टन के अनुसार नरक के नौ द्वार हैं—तीनों पातकों के नौ द्वार, तीनों लोहे के और तीन एडमेंट पत्थर के बने हुए हैं.

नरक-विवेचन

स्कैंडिनेवियन पुराण में हेल या हिला, जिस से अंगरेजी भाषा में नरकवाचक शब्द हेल आया है, मृतकों की रानी मानी गई है. सर्वपिता ने उसे हेलहाइम में भेजा, जहाँ उसे नौ लोकों पर प्रभुत्व दिया गया. जो लोग बीमारी या बुढ़ापे में मरते हैं, वह उन्हें इन लोकों में से एक में भेज देती है. रानी हेल एलविदनीर या कृष्ण-मेघ में निवास करती है, उस का भोजन भूख है, उस की छुरी भूखमरी, उस के नौकरों के नाम शीघ्रपद और रोग हैं. उस की मसहरी महादुख है. उस के शरीर का रंग नीला है. (यह शायद इस कारण कि मरने से पहले सफेद रंग के लोग कुछ नीले पड़ जाते हैं).

यहूदी धर्म में सात नरक माने गए हैं. प्रथम नरक का नाम है जहन्नुम. इस की गरमी आग से आठ गुनी है. दूसरे नरक की गरमी जहन्नुम से साठ गुनी है, इस का नाम मृत्युद्वार है. तीसरे नरक का नाम मृत्युछाया है और उस की गरमी मृत्युद्वार नरक से साठ गुनी है. चौथे नरक का नाम भ्रष्टकुंड है और उस की गरमी मृत्युछाया नरक से साठ गुनी है. पांचवें नरक का नाम कर्मकुंड है, छठे का नवाम अवहन और सातवें का नाम श्योल है. प्रत्येक नरक अपने पहले नरक से साठ गुना गरम है. प्रत्येक नरक का अलगअलग अधिपति है.

इसलाम में नरक और स्वर्ग बड़े महत्त्व की वस्तु माने गए हैं. मुसलिम नरक का वर्णन बहुत भयानक है. इस के सरदार को मलिक कहते हैं. उस की सहायता के लिए 19 फरिश्ते हैं. इन फरिश्तों में हर-एक के दाहिनी तरफ 70 हजार और बाई तरफ 70 हजार हाथ हैं. हर हाथ में 70

हजार हथेलियां हैं और हर हथेली पर 70 हजार अंगुलियां हैं. हर अंगुली पर एक एक अजगर है. हर अजगर के सिर पर एक एक सांप है. हर सांप की लंबाई 70 हजार वर्ष की राह है. हर सांप के सिर पर एक एक बिच्छू है. यदि यह बिच्छू नरकवासियों को एक बार काट खाए, तो 70 हजार वर्ष तक दर्द रहे. बाएं हाथ की हर उंगली पर आग का एक एक खंभा भी है. नरक के सात द्वार हैं. एक द्वार से दूसरे द्वार तक 70 वर्ष की राह है. नरक की आग के बारे में यह बताया गया है कि एक हजार वर्ष तक वह दहकाई गई तो वह लाल हुई, फिर एक हजार वर्ष तक धोंकी गई, तो सफेद हो गई, फिर एक हजार वर्ष सुलगाई गई तो काली हो गई और कयामत तक ऐसी ही रहेगी.

प्रत्येक धर्म में नरक तथा स्वर्ग पुरोहितों की इच्छा के अनुसार प्राप्त होते हैं. जो काम एक धर्म में बिल्कुल त्याज्य है, वही दूसरे धर्म में उचित और अच्छा माना गया है, जैसे गौ या सूअर का मांस खाना. इस से तो साफ है कि सब धर्मों के लिए नरक या स्वर्ग में जाने का कोई एक सा आधार नहीं है, जैसे प्रत्येक धर्म में यह बात स्पष्ट है कि दूसरे धर्म वाले नरक में जाते हैं. इस से यह मालूम होता है, जैसे धर्म की धारणा कोई उंचा विचार न हो कर के पाटीबंदी का एक नमूना मात्र है.

डाक्टर ब्रूवर के अनुसार मुसलमानों का पहला नरक उन मुसलमानों के लिए है, जो दुष्ट हैं, पर पाप कम हो जाने के बाद वे स्वर्ग में जाएंगे. दूसरा नरक केवल ईसाइयों के लिए है. तीसरा नरक केवल यहूदियों के लिए सुरक्षित है. चौथा नरक साबी धर्म मानने वालों के लिए है. यह स्मरण रहे कि साबी धर्म का इसलाम से पहले अरब में बहुत प्रचार था. ये लोग ईश्वर को मानते थे, पर सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, आदि किसी प्रतिनिधि के जरिए वे ईश्वर की आराधना करते थे. छठा नरक मूर्तिपूजकों

के लिए और सातवां ढोंगियों के लिए है।

दूसरे धर्म में इतनी स्पष्टता के साथ ईर्दगिर्द सारा समाज चलता है। इन दोनों विधियों के नरकगामी होने की बात नहीं बताई गई है। पर अलग धर्ममत होने का अर्थ ही यह है कि अपना मत सही है, बाकी सब मत गलत या निम्न कोटि के हैं।

धर्मों के स्वर्ग नरक वाले प्रकरणों के जरिए शासक वर्ग और उस से संबद्ध वर्गों का लाभ कराया जाता है, इस का प्रमाण हमें धर्मों के सजा या शापित या पुरस्कार वाले प्रकरण से भी मिलता है। हमारे यहां वनुधैव कुटुम्बकम आदि कई बड़ेबड़े नारे हमेशा से उठाए जाते रहे हैं, पर व्यवहार में हम यह देखते हैं कि छःसात करोड़ मनुष्यों को अछूत बना कर रखा गया है। यही नहीं, हमारे धर्मशास्त्रों में, यानो स्मृतियों और गृह्यसूत्रों में, एक ही अपराध करने पर शूद्र के लिए तो बहुत अधिक सजा तथा ब्राह्मण के लिए लघु दंड अथवा मामूली प्रायश्चित्त का विधान है। प्रसंग के बाहर जाने के भय से मैं इस का ब्योरा नहीं देना चाहता। स्त्रियों के लिए भी हमारे आदर्श धर्मशास्त्रों में कहींकहीं एकदो प्रशंसासूचक श्लोक आ जाते हैं, पर वे या तो धोखे की टट्टी हैं, प्रक्षिप्त हैं अथवा अति आदिम युग में देवमाता अर्द्धित से ले कर अन्य नारियों को जो सम्मान प्राप्त था, उस की स्मृति के छटपुट द्योतक मात्र हैं। वे प्रयोग में नहीं लाए जाते थे। प्रयोग में तो यही रूप था कि पुरुष चाहे जितनी शादियां करे, पर स्त्रियों के लिए एक पातिव्रत्य का आदर्श ही नहीं था, बल्कि इसे बलपूर्वक मनवाया भी जाता था।

यदि कोई स्त्री द्विचारिणी होती, तो उस के लिए नरक का विधान था, पर पुरुषों के संबंध में ऐसी कोई रोकटोक नहीं थी। इस पर यदि यह कहा जाए कि नरक और स्वर्ग का सारा विधान न्यायमूलक नहीं था, केवल समाज की तत्कालीन व्यवस्था को बल पहुंचाने के लिए था, तो क्या यह अन्याय होगा? हिंदू समाज में जातपात और स्त्रियों की पुरुष की

अधीनता ही वे खास बातें हैं जिन के ईर्दगिर्द सारा समाज चलता है। इन दोनों बातों का परलोकवाद से बिल मिलता है।

हमारे यहां के दार्शनिकों ने कर्म सिद्धांत के लिए भारतीय दर्शन की बहुत प्रशंसा की है। यह देखने वाला बात है कि हिंदू, बौद्ध तथा जैन तीनों ही मतों में कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धांत मान्य है, यद्यपि बौद्ध व जैन मतों में आत्मा का अस्तित्व उस रूप में नहीं माना जाता, जिस रूप में हिंदुओं में प्रचलित है। पर कर्म पर आधारित यह पुनर्जन्म सिद्धांत है क्या? यदि विश्लेषण किया जाए, तो यह भाग्यवादी सिद्धांत है, यानी मनुष्य संपूर्ण रूप से अपने पिछले कर्मों से बंधा हुआ है। उस का जन्म, परिस्थिति, प्रवृत्तियां सभी बातें पिछले कर्मों पर अवलंबित हैं।

यह मतवाद ऐसा है, जिस में मनुष्य किसी अंश में भी अपने भाग्य का निर्माता नहीं है। इस मतवाद के साथ ईश्वर को जोड़ कर उसे और भी हास्यास्पद बना दिया गया है। जब मनुष्य अपने कर्मों की उपज है, तो फिर उस में ईश्वर की गुंजाइश कहाँ है? यदि यह मान भी लिया जाए कि ईश्वर है और उस से प्रार्थना करने पर लाभ हो सकता है, तो भी व्यक्ति में उस की प्रार्थना करने की इच्छा या प्रवृत्ति तो तभी उत्पन्न होगी, जब उस के किए हुए कर्म उस के अनुकूल हों। फिर ईश्वर होने से क्या लाभ हुआ?

मैं जानता हूं कि इस संबंध में बड़े-बड़े मतमतान्तर हैं और बहुत बाल की खाल निकाली गई है, पर जो बात बिलकुल स्पष्ट है, उस के लिए व्यर्थ में बात का बतंगड़ और खटपट करने की आवश्यकता क्या है?

कर्मवाद के दो भाग किए जा सकते हैं। एक तो यह कि हम जो कुछ कर्म कर रहे हैं, उस का फल हमें मिलेगा, यदि इस जन्म में नहीं मिल सका, तो अगले जन्म में मिलेगा। दूसरा भाग यह कि यदि हम सजदूर हैं, निखमंगे हैं या राजा हैं,

तो यह हमारे पूर्व कर्मों का फल है.

पहला भाग काफी आक्रामक मालूम होता है, क्योंकि इस में अंत में न्याय होने की आशा बंधती है. हम कई बार देखते हैं कि लोगों ने अपने जीवन काल में बड़े-बड़े अन्याय किए और अंत तक उन्हें कोई दुख नहीं मिला. जब ऐसे लोगों के साथ कोई दुर्घटना होती है, तो लोग सहज ही कह देते हैं कि उसे अपने पाप का फल मिला. पर वे ऐसे मौकों पर यह भूल जाते हैं कि वही दुर्घटना, जैसे युवक पुत्र की मृत्यु इत्यादि, अन्य सैकड़ों लोगों के साथ भी होती है, जो किसी भी अर्थ में उस श्रेणी में नहीं आते पर हजारों अन्यायियों के साथ अंत तक दुर्घटना नहीं होती, उस के लिए धर्म हमें तसल्ली देता है कि अगले जन्म में उसे इस का बदला मिलेगा.

सामाजिक दृष्टि से देखा जाए, तो इस का अर्थ यही निकलता है कि अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष हो कर संग्राम करने की आवश्यकता नहीं है. कहना न होगा कि वह बहुत ही प्रति-क्रियावादी मत है, क्योंकि इस सिद्धांत का दूसरा पहलू यह है कि जो इस लोक में सताए हुए हैं, उन्हें परलोक में इस की क्षतिपूर्ति प्राप्त होगी. दोनों बातें उद्योग के लिए घातक हैं.

कर्मवाद का दूसरा हिस्सा यह है कि जो भूखा मर रहा है, वह अपने कर्मों के ही कारण और जो धनकुबेर है, वह भी अपने कर्मों के कारण ही—इस मतवाद की आलोचना नेपोलियन की जबानी आ चुकी है.

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखा जाए, परलोकवाद की सारी कल्पना मनुष्य जाति की उद्योगपरकता के विरुद्ध पड़ती है. इन मतों में सब से आपत्तिजनक बात यह है कि सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य की कल्पना न कर के उसे हर समय एक व्यक्ति के रूप में कल्पित किया जाता है. पापपुण्य की सारी धारणा को एक अलौकिकता प्रदान करने की चेष्टा कर के

यह भुला दिया जाता है कि नैतिकता सामाजिक है. धर्म के द्वारा लोगों में जिन सामाजिक नियमों को भी स्थान दिया गया है, उन्हें व्यक्तिव्यक्ति के बीच संबंध न मान कर व्यक्ति और ईश्वर या व्यक्ति और पुरोहित (इस संबंध में कैथोलिकों तथा बौद्धों में प्रचलित पाप स्वीकृति या कनफेशन प्रथा को लीजिए) के बीच संबंध माना जाता है. चोरी, परस्त्रीगमन या अन्य बातें इस कारण त्याज्य हैं कि ऐसा करने से सामाजिक न्याय का हनन होता है, न कि इसलिए कि इस से रौरव या कुंभोपाक का भय है.

हम इस लेख का अंत बर्नार्ड शा क इन वचनों से करना चाहेंगे. "इस समय यदि कोई स्त्री बांड स्ट्रीट में अजीब कपड़े पहन कर एक कमरा ले कर बैठ जाए और यह दावा करे कि वह ताशों, स्फटिकों या भूतप्रेतों की सहायता से भविष्य बता सकती है, तो उस पर ढोंग और ढकोसले के अपराध में मुकदमा चलाया जाएगा. पर यदि एक व्यक्ति अजीब कपड़े पहन कर एक गिरजा (भारत के लिए मंदिर या मसजिद) बना कर बैठ जाए, और यह कहे कि वह हमारे कुत्तियों के लिए हमें मुक्ति दिला सकता है, यह दावा करे कि उस के पास नरक और स्वर्ग की चाबी है, वह यह विश्वास दिलाए कि जिस गांठ को वह यहां खोल देगा, वह परलोक में भी खुली रहेगी, और जिसे वह बांध देगा, वहां भी बंधी रहेगी, वह यह कहे कि नरकगामी आत्माओं को वह लाभ पहुंचा सकता है, यदि वह ईश्वर के स्वर में बात करे और इस बात का फरमान दे कि क्या पाप है और क्या नहीं (स्मरण रहे कि उस के ये दावे उस गरीब महिला के दावों से कहीं खतरनाक हैं), तो पुलिस उस की बड़ी इज्जत करेगी. कोई भी उसे एक भयानक अपराधी के रूप में जेलखाने भेजने की बात नहीं सोचेगा."

पता नहीं मानवता को कब इन जंजालों से छुटकारा मिलेगा!

राम का अंतर्द्वंद्व

अरविंद कुमार

सीता को बनवास—नहीं, यह संभव कैसे! मेरी सीता जिस की खातिर मैं ने सेतुबंध बनाया, बानर सेना ले लंका पर जिस की खातिर मैं ने अपना कोप उतारा. लेकिन था कब मैं ने मारा रावण को सीता की खातिर? था मेरा, मेरे पौरुष का अपमान हरण सीता का—लेना ही था अपना बदला, मनवाना था अपना पौरुष, और आर्य-गणों का फँलाना था दस्युदेश पर. सीता का था नाम, बहाना सीता का था. पर सीता फिर भी सीता है, कैसे उस को दूर हटाऊँ, कैसे उस को पास रखूँ मैं? कैसे जानूँ यह सीता है उज्ज्वल सीता, जिसे जनक ने हल से पाया, जिस ने मेरा सुख में, दुःख में हाथ बंटाया; चित्रकूट में, पंचवटी में साथ रही जो, प्रेम परीक्षा में जिस को मैं न समझा था सच्ची उतरी, है यह सीता वही जान मैं कैसे पाऊँ? नहीं जानता रावण इस को ले भागा कैसे. कौन कहे यह नहीं गई थी साथ जान कर? इस के कहने से भागा था मैं पीछे मरीचि के, और बाद में भेज दिया इस ने लक्ष्मण को; वापस आ कर देखा

CC-0. Angkor Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हम ने : नहीं पहा था कहीं किसी का, कौन कहे
वह छल था रावण का, या दोनों का?

●

कपटी था दशशीश, छली था, बड़ा प्रपंची,
महाबली था—भस्म हो चुका दावानल में
महाक्रोध के मेरे—लेकिन कौन जानता
उस का सुंदर रूप नहीं मन में सीता
के अब तक उपजाता प्रेमल सिहरन?
था वह शिव का भक्त, काल को कैद किया था
उस ने अपनी मायानगरी में युगयुग
का वैभव मात किया था. वहां अशोक
के कुंज, बरसती तृष्णा जिन से,
जहां मलय का वात सदा बहता था, और
मदन की सैन जहां फूलों के बाणों का
तरकस नारी के मन पर करने को
खाली उद्यत रहती थी—ठहराया
था वहां छली ने तब सीता को दे कर
सुख के साज, विभव रागों का. नहीं डिगा
होगा सीता का मन क्या एक बार भी
कोमल क्षण कोई भी पा कर? कौन जानता
क्या कुछ हुआ न होगा तब लंका में?
नहीं, नहीं, यह कलुष कल्पना मेरे मन की,
यह मेरे मन की कमजोरी, सीता
कभी न डिग पाएगी, सर जाएगी.
लेकिन कौन नहीं डिग जाता? बड़ेबड़े मुनियों
ने अपने व्रत छोड़े हैं, सतीसाध्वी
अनगिन अपना धन खो बैठों. मार काम
की बहुत बुरी है. कौन बली है जो न
झुका हो इस के आगे? मेरा भी मन
डोल गया था जब रावण की बहन खड़ी
थी मेरे सम्मुख अपना सुंदर रूप
दिखा कर मांग रही थी भीख प्रणय की.
लेकिन मैं डरता था अपने से. किनु
आज भी वह अभिलाषा सोई मेरी

जग जाती है. कोई क्षण कोमल सा

पा कर और दबाता हूँ मैं उस को, क्योंकि

सभ्यता नहीं चाहती छूट कलुष भावों की.

राजा हूँ मैं, और मुझे तो धुलधुल कर

भो, पिसपिस कर भी रखनी होगी निज

मर्यादा. धर्म जाति के लिए मुझे अपने

भावों का मर्दन कर के ढोंग नए नित

रचने होंगे और पिताजी ने जो मुझ से

पहले भोगविलास में समय काट कर

मदिरा के सब कूल तोड़ कर नाश किया

था राजधर्म जो, उसे बनाना है अब फिर से.

तो क्या सीता डिगी न होगी? अग्नि

परीक्षा ली थी मैं ते, क्योंकि मुझे

विश्वास नहीं था; पर अब भी विश्वास

कहां है? अब भी कीड़ा संदेहों का है

कुरेदता मेरे मन को. खुद पर मुझ

को विश्वास नहीं है.

खो बैठा हूँ शांति हृदय की, स्वाद जीभ का,

नाद आंख की, गीत कान का.

और जानता हूँ मैं यह भी : सीता के

बिन रह न सकूंगा. सीता मेरी है.

एक दूसरे के अभाव में दोनों का

निर्वाह कहां है? उस को देखे बिन चैन

कहां है? उस को देखे बिन चैन कहां है?

पर यों संदेहों की भट्टी में जलना,

रहता उस के साथ नरक भारी है.

कैसे उस से बच पाऊं मैं कैसे, कैसे?

●

इस की केवल एक राह है, सीता को

बनवास दिलाऊँ, और न्याय का ढोंग रचाऊँ.

कितने ढोंग रचे जीवन में, एक और से

क्या बिगड़ेगा? सीता का था नाम चढ़ा

जब मैं लंका पर. था किया कौन सा न्याय,

किया जब मैं ने छल से वध बाली का?

का भेद निकाला—वही कौन सा न्याय राम का?

तो आज बहाना धोबी का लूं, ऊंची-

ऊंची बात बनाऊं. प्रजाधर्म का रामराज का

नया नमूना कहां उपस्थित. भला इसी में

है अब मेरा, मेरी मर्यादा का, सीता का.

०००

सरिता में इस कविता के प्रकाशन पर हिंदू धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं ने घोर आपत्ति की और दिल्ली शहर में उपद्रव भी हुए जिस में दिल्ली प्रेस के भवन को भी जलाने का प्रयत्न किया गया. इन धर्माधिकारियों की मांग पर यह कविता जप्त कर ली गई व लेखक अरविंदकुमार और सरिता संपादक विश्वनाथ पर भारतीय दंड विधान की धारा 295A के अंतर्गत मुकदमा चलाया गया. लंबी पेशियों और बहुत सी गवाहियों के बाद सेशन जज ने मुकदमा खारिज कर दिया और लेखक व संपादक को अभियोग से मुक्त कर दिया.

इस कविता पर जो आपत्तियां उठाई गईं उन का समुचित उत्तर एक दूसरे लेख में दिया गया जो अलग से उपलब्ध है.

राम का अंतर्द्वंद्व

आलोचनाओं और आपत्तियों के उत्तर

अरविंद कुमार

जुलाई अंक में प्रकाशित मेरी कविता 'राम का अंतर्द्वंद्व' के विरोध में कई धार्मिक तत्त्वों ने सभाएं कीं, प्रदर्शन किए तथा इस आशय के प्रस्ताव पास किए कि इस कविता में राम और विशेषकर सीता पर अशोभनीय लांछन लगाए गए हैं और हिंदू धर्म में विश्वास रखने वालों की भावनाओं को जानबूझ कर ठेस पहुंचाई गई है। लेकिन इस कविता में कोई ऐसी बात नहीं है। न इस में श्रीराम और सीताजी का कोई अपमान किया गया है और न उन पर कोई लांछन लगाए हैं। किसी व्यक्ति या समुदाय की भावनाओं को किसी प्रकार ठेस पहुंचाना कविता का उद्देश्य नहीं था। विरोध प्रदर्शकों की ईमानदारी में कोई शक प्रकट न करते हुए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने इस कविता को शीघ्रता में ऊपरी तौर पर ही पढ़ा और इसे समझने की कोई कोशिश नहीं की। एक पंक्ति को ले कर बिना उस की अगली पंक्तियों के साथ मिलाए यह मान लिया गया कि सीताजी को कलंकित किया गया है, जब कि वास्तव में सारी कविता एक प्रकार से सीता के साथ अन्याय के विरुद्ध एक छोटी सी आवाज है।

कविता में रामायण की मुख्य घटनाओं को कहीं तोड़ामरोड़ा नहीं गया है। केवल उस के मुख्य चरित्र को भगवान न मान कर एक परिस्थिति विशेष में उस का मनोविश्लेषण करने की चेष्टा की गई है।

राम भगवान हैं या नहीं, ऐतिहासिक पुरुष हैं या नहीं—इन बातों पर बहस करने का न तो स्थान है, और न ऐसी बहस की इस कविता के संबंध में कोई आवश्यकता है। परंतु कविता को सही तरह से समझने के लिए इस की पृष्ठभूमि की आधारभूत मान्यताएं जानना आवश्यक है।

महान कार्य की सामर्थ्य

लेखक जनमानस पर अंकित रामकथा के रूप को एक मौलिक सत्य मानता है। राम जीवन के किन उतारचढ़ावों से गुजरे, किन परिस्थितियों में उन्होंने क्या किया, और उन के चरित्र की गाथा ने इतने सहस्रों वर्षों से हमारे चतुर्मुखी जीवन को कितना प्रभावित किया है—यह सब एक सामाजिक सत्य है। रामायण एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो हम आप सा ही इस धरती का प्राणी था, लेकिन जिस में अपने वचन और सम्मान की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा त्याग और महान से महान कार्य करने की सामर्थ्य थी, जिस के मन में राज-धर्म की एक ऊंची कल्पना थी, और जो उस की ऊंची कल्पना के लिए अपने भावों का नियंत्रण व मर्दन करना जानता था। लेकिन उस व्यक्ति में मानव की कमजोरियां भी थीं। वह उन कमजोरियों से भलीभांति परिचित था। यदि उस में वे कमजोरियां न होतीं तो उस के द्वारा प्रस्तुत

किए गए सब आदर्श थोथे पड़ जाते, मानव जीवन में उन का कोई महत्त्व न रह जाता। उन की इन अच्छाइयों व कमजोरियों से भी बढ़ कर उन में सब से बड़ी बात थी सीता के प्रति अगाध प्रेम। जब यह अगाध प्रेम एक बड़ी मानवीय कमजोरी से टकराता है तब उस व्यक्ति के जीवन की सब से बड़ी परीक्षा होती है। हर व्यक्ति के जीवन में ऐसी कोई न कोई कसौटी आती है और ऐसी परिस्थिति में महान व्यक्ति यदि हार जाता है तो उस का पतन भी महान होता है, और उस का चरित्र काव्य की परिभाषा में सही तौर पर ट्रैजिक बन जाता है। इसे ही अरस्तु ने महान चरित्र का 'ट्रैजिक फला' यानी हृदयद्रावक कमजोरी कहा है। यह बात दूसरी है कि रामायण में चरित्र की इस ट्रेजेडी के साथ ग्रीक नाटक की परंपरा के अनुकूल चरित्रनायक को सर्वनाश का सामना नहीं करना पड़ता—यह ग्रीक साहित्य का एक विशेष भेद है।

मूलरूप में परिवर्तन

जनमानस में रामकथा का क्या रूप है, रामकथा की परिपाटी के साथ इस कविता का क्या साम्य है—अब हमें यह देखना है। रामकथा का मूल स्रोत है आदि महाकाव्य वाल्मीकि रामायण, जिस के मुख्य अंशों में राम एक मानव हैं, और कुछ अंशों में विष्णु के अवतार। लेकिन रामकथा अपने इस मूल रूप में कभी टिकी नहीं रही। हमारी संस्कृति और इतिहास के साथसाथ उस में परिवर्तन होते रहे, और एक के बाद एक कवि ने उस में नए रूप देखने की कोशिश की। जैन और बौद्ध रामायणों में वाल्मीकि से मौलिक मतभेद हैं। बृहत् भारतीय संस्कृति के एक सुदूर अंग बाली द्वीप में एक मंदिर में राम और सीता को भाईबहन माना गया है। दिवाकर प्रकाश भट्ट की कश्मीरी रामायण, मलय रामायण तथा गुणभद्र रचित उत्तर रामा-

यण और क्षेमेंद्र कृत दशावतार-चरित में सीताजी को स्वयं रावण की पुत्री माना गया है। एक रामायण में तो रावण को श्रेष्ठ बता कर राम की निंदा की गई है।

भारत में बौद्ध धर्म की अवनति के बाद शैव मत की स्थापना हुई। उस के भी बाद जब मध्य युग में वैष्णव मत का प्रचार बढ़ा तो प्रति वर्ष बढ़ते हुए जन-समूह में राम की परम श्रेष्ठ भगवान के रूप में स्थापना होने लगी। रहस्यवादी कबीर ने राम को केवल निराकार भगवान का नाम मात्र माना। परंतु साथ ही साथ रघुकुल में उत्पन्न, अयोध्या के राजा राम की भगवान के रूप में प्रतिष्ठा बढ़ती गई, जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने अपने राम-चरितमानस व अन्य अनेक ग्रंथों के द्वारा अपनी महान काव्य प्रतिभा के बल पर चरम सीमा पर पहुंचा दिया। दक्षिण भारत में कंबन ने तमिल में रामायण की रचना कर के राम के भगवान रूप को घरघर पहुंचा दिया।

विभिन्न रामायणों में क्या भेद है?

इन संत कवियों ने अपने युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार राम की कमजोरियों को कम से कम दिखा कर निराश हिंदू जाति के मन में अपने भूत-काल और देवताओं के प्रति एक नई आस्था जमा कर नया विश्वास दिया।

जब कि वाल्मीकि रामायण में सीता स्वयंवर का कोई विशेष आयोजन नहीं किया गया है, तुलसीदास ने केवल स्वयं-वर का ही विशेष आयोजन करवाते हैं बल्कि समस्त देश के राजाओं को, जिन में रावण भी सम्मिलित था, उस के लिए आमंत्रित करते हैं, और उन पर राम की श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं। वाल्मीकि रामायण में धनुषभंग से पहले राम और सीता की कहीं भेंट नहीं होती, लेकिन तुलसी के राम और सीता वाटिक में एकदूसरे को देखते ही प्रेम काव्य की परंपरा में साधारण

प्रेमियों की तरह एकदूसरे पर मोहित हो जाते हैं। राम-विराज के नाम के उच्च सिंहासन पर बैठाना होगा। साथ ही पुरानी कमजोरियों पर लोपापोती करने से काम नहीं चल सकता। तांबे पर सोने का मुलम्मा चढ़ा कर न तो मन को ही समझाया जा सकता है और न स्थायी रूप से दूसरों को बहकाना संभव है। केवल ठोस वास्तविकता की दीवार ही उठते हुए राष्ट्र का बोझ संभाल सकती है।

तुलसी के युग की निराशा से हमारा पीछा अभी कल ही छूटा है। इस से पहले आधुनिक युग में जिन्होंने रामायण की पुनर्रचना की उन में से प्रमुख हैं राष्ट्रकवि मथिलीशरण गुप्त। गुप्तजी का रचनाकाल केवल निराशा का ही काल नहीं था, वह एक नए उत्साह, नए संघर्ष का काल भी था। हमारा राष्ट्र एक विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष में लगा था, और उस संघर्ष में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सभी धर्मों को मानने वाले एक साथ जुड़ रहे थे। जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और युगयुग के उपेक्षित हरिजन कंधे से कंधा मिला कर चल रहे थे, तब राष्ट्रकवि ने रामायण की एक उपेक्षित पात्र उर्मिला को ऊपर उठाया और राम के लोकरंजक रूप को आगे रखते हुए सीता से वन में चरखा कतवाया।

नवनिर्माण की आवश्यकता।

आज के स्वतंत्र युग में हम में कोई हीन भावना होने की गुंजाइश नहीं है। अपने आहत स्वाभिमान की रक्षा के लिए हमें भूत का सहारा न ले कर नवनिर्माण की आवश्यकता है। समृद्धिशाली और चरित्रवान राष्ट्र का निर्माण सच्चे विश्वासों और सही आदर्शों की नींव पर ही किया जा सकता है। आज हमें अपनी सांस्कृतिक थाती का पुनर्वलोकन कर के जो कुछ भी गलत है उसे बगैर मोह के त्याग देना होगा, और जो कुछ भी भविष्य के निर्माण में हमारी सहायता कर सकता है, वह

चाहे कितना भी हेय वधों न रहा हो, उसे मान-जमाना होगा। आदर्शों के उच्च सिंहासन पर बैठाना होगा। साथ ही पुरानी कमजोरियों पर लोपापोती करने से काम नहीं चल सकता। तांबे पर सोने का मुलम्मा चढ़ा कर न तो मन को ही समझाया जा सकता है और न स्थायी रूप से दूसरों को बहकाना संभव है। केवल ठोस वास्तविकता की दीवार ही उठते हुए राष्ट्र का बोझ संभाल सकती है।

कुछ साहित्यिक मित्रों ने कहा कि यह कविता आज से 300 वर्ष बाद की चीज है, जब कि मेरा विश्वास है कि हमें इस की आवश्यकता आज है। 300 वर्ष बाद, ऐसी कविता संभवतः मानसिक विलास की वस्तु मात्र रह जाएगी।

रामराज्य का न्याय

संपूर्ण रामकथा में सब से अधिक खटकने वाली बात है राजगद्दी पर बैठने के बाद न्याय के प्रतीक और प्रजा धर्म का पालन करने में आदर्श समझे जाने वाले पतितपावन राजा राम द्वारा बेचारी निष्कलंक सीता का परित्याग। आज जब हम किसी आदर्श, समृद्धिशाली व न्यायानुकूल राज्य की कल्पना करते हैं तो एक स्वर से रामराज्य की बात करते हैं। लेकिन रामराज्य का न्याय क्या है? चंद लोगों की अज्ञानपूर्ण अफवाहों से विचलित हो कर उस गर्भवती सीता का निर्वासन, जिस ने पति के लिए महलों का सुख ठुकरा कर वीहड़ वन में रहना पसंद किया, जिस ने पति प्रेम के सामने रावण द्वारा दिए गए बड़े से बड़े लालच और कठोर से कठोर धमकियों को हेय समझा, जिस का सारा जीवन अमिट प्रेम की एक महान कसीटी बना रहा।

कहा जाता है कि राम ने अपनी भावनाओं की परवा न कर के जनता की आवाज के सामने सीता की बलिदान कर दिया। लेकिन किसी आदर्श राजा का क्या

कलंध्य है? लक्ष्मण के शब्दों में, 'न्याय-विरोध बोलने वाले' (न्याय-विरोध) (गुलाम) कांड, सर्ग 50, श्लोक 8) के कहने से अपनी साध्वी स्त्री को त्याग देना या बकवादियों को दंडित करना? आज कोई इस न्याय को स्वीकार नहीं कर सकता. वे लोग शायद इसे उचित समझें जो स्त्री को केवल पैरों की जूती, दासी व भोगविलास की वस्तु बना कर ही रखना चाहते हैं.

किसी व्यक्ति के कार्य तो उस के चरित्र को स्पष्ट करते ही हैं, लेकिन कई बार किसी व्यक्ति ने किस परिस्थिति में क्या नहीं किया, यह भी उस के चरित्र की गुत्थी को सुलझाने में मदद करता है. यहां राम ने जो काम नहीं किया वही हमें राम को समझाने में मदद देगा. यदि राम सीता को निष्कलंक समझते थे और इस बात का उन्हें पूरा विश्वास था तो या तो वह नगरवासियों को दंडित कर सकते थे या फिर जनता के सामने झुक कर, जिस प्रकार सीता उन के लिए सब सुखों को लात मार कर वन चली गई थी, वह राजपाट त्याग कर सीता के साथ न्याय-विरोधी जनता से दूर जा सकते थे. उन के पोछे राज्य संभालने वालों की कमी नहीं थी. इस से पहले भरत ने पूरे चौदह वर्ष तक सुचारु रूप से राज्य का संचालन किया था. यदि भरत नहीं तो लक्ष्मण वहां मौजूद थे.

राम के चरित्र का विश्लेषण

इस के अलावा राम ने सीता को अपनी सफाई का कोई अवसर नहीं दिया. न ही यह बताया कि उन्हें बनवास दिया जा रहा है. उन की तपोवन जाने की इच्छा का लाभ उठा कर उन्हें जंगल में छोड़वा दिया, यदि उन का मन साफ होता तो वह स्पष्ट रूप से सीता के सामने आते, और न्यायप्रिय राजा की तरह दोषी सीता को अपना निर्णय सुनाते.

लेकिन राम ने यह सब नहीं किया.

यहीं राम का पुरुष रूप उभरता है. 'राम रूप का अध्ययन किया गया है, और यह समझने की कोशिश की गई है कि आखिर राम के मन में क्या बात थी कि उन्होंने अग्निपरीक्षा की कसौटी पर कसी गई सीता को, जिसे वह प्राणों से अधिक चाहते थे, बनवास दिया. इस के लिए उस में रामायण की किसी भी घटना को तोड़े-मरोड़े या बदले बगैर राम को मानव मानते हुए उन के चरित्र का विश्लेषण किया गया है.

कविता के आरंभ में सीता के बनवास की कल्पना राम के मन को झकझोर देती है. यह वह क्षण है जो किसी न किसी प्रश्न पर हर व्यक्ति के जीवन में आता है, जब आदमी को सूझता नहीं कि वह क्या करे और शैक्सपियर के हैमलेट की तरह 'कहू या न कहू' ('टु बी और नाट टु बी') की उलझन में पड़ जाता है. कुछकुछ ऐसा ही प्रश्न महाभारत युद्ध से पहले अर्जुन के मन में उपस्थित हुआ था. हर व्यक्ति इस उलझन से निकलने का अपना रास्ता बनाता है—कोई चुनौती स्वीकार करता है, कोई मुंह छिपा कर हताश बैठ जाता है, कोई मैदान छोड़ कर भाग जाता है.

जटिल प्रश्नों से घिरा राम

यही जटिल प्रश्न राम को घेरे हुए हैं. और सब से पहले उन के ध्यान में रावण द्वारा अपहृत सीता को फिर से वापस लाने के लिए किए गए प्रयत्नों की बात आती है. क्या इसी लिए उन्होंने यह महाप्रयास किया? क्या इसी के लिए असंभव को संभव कर दिखाया? लेकिन फिर सोचते हैं कि क्या सचमुच ही उन्होंने यह सब सीता के लिए किया था? क्या यह सब एक तरह से स्वयं अपने लिए व आर्य जाति के लिए नहीं था? रावण की लंका से लौटी हुई सीता से हर्ष, क्रोध और दीनता से उद्वेलित राम ने स्वयं कहा था :

एवाऽसि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा मया रणे,
पौरुषाद्यदनुभूयेयं तदेतदुपप्राप्तिम् (2)
“हे भद्र, मैं ने युद्ध में शत्रु को परास्त
कर तुम को पुनः प्राप्त कर लिया. पुरुषार्थ
से जो किया जा सकता था वह मैं ने कर
दिखाया. (2)

गतोऽस्म्यन्तममर्षस्य धर्षणा सम्प्रमाजिता,
अवमानश्च शत्रुश्च मया युगपदुद्धृतौ. (3)

अब मेरा क्रोध नष्ट हुआ. रावण ने
तुम को हर कर मेरा जो अनादर किया
था उस अनादर का बदला भी पूरा हो
चुका. शत्रु ने जो अनादर की बातें कहीं
थीं उस अनादर के बदले मैं ने युद्ध में
शत्रु का वध कर डाला (अथवा युद्ध में
उस अनादर को और अनादर करने वाले
शत्रु को ही नष्ट कर डाला.) (3)

अद्य मे पौरुष हृष्टमद्य में सफलः श्रमः,
अद्य तीर्णप्रतिज्ञत्वात्प्रभवामीह चात्मनः. (4)

आज लोगों ने मेरा पुरुषार्थ देख
लिया, आज मेरा सारा परिश्रम सफल
हुआ, आज मैं अपनी प्रतिज्ञा से पार हुआ
और आज मैं स्वतंत्र हो गया. (4)

अपमान का बदला

या त्वं विरहिष्या नीता चलचित्तेन रक्षसा,
दैवसम्पादितो दोषो मत्तुषेण गया जितः. (5)

मेरी अनुपस्थिति में चंचलमना रावण
जो तुम को (पंचवटी से) हर कर (यहां)
ले आया था, वह दैवकृत दोष अर्थात्
अपमान था. उस अपमान को मुझ जैसे
मनुष्य ने दूर कर दिया. (5)

सम्प्रतमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति,
कस्तस्य पुरुषार्थोऽस्ति पुरुषस्याल्पतेजसः. (6)

जो मनुष्य अपने निरादर को अपने
बलविक्रम से दूर नहीं कर सका, उस का
पुरुषार्थ ही किस काम का? ऐसा मनुष्य
तो अल्पबल और अल्पविक्रम वाला समझा
जाता है. (6)

लंघनं च समुद्रस्य लंकायाश्चावमदनम्,

सफलं तस्य तच्छ्लाघ्यं महत्कर्म हनूमतः (7)
समुद्र को लंघना लंका को विध्वस्त
करना आदि हनुमानजी ने जो बड़ेबड़े
सराहने योग्य कार्य किए, वे आज सब
सफल हो गए. (7)

युद्ध विक्रमतश्चैव हितं मन्त्रयतश्च मे,
सुग्रीवस्य ससेन्यस्त सफलोऽद्य परिश्रमः. (8)

युद्ध में पराक्रम प्रदर्शित करने वाले
और सदा हितयुक्त सलाह देने वाले सुग्रीव
का तथा उन की सेना का भी सारा परि-
श्रम आज सफल हुआ. (8)

निर्गुणं भ्रातरं त्यक्त्वा यो मां स्वयमुत्थितः
विभोषणस्य भक्तस्य सफलोऽद्य परिश्रमः. (9)

गुणहीन भाई का साथ छोड़ कर जो
स्वयं मेरे पास आ कर उपस्थित हुए उन
मेरे भक्त विभोषण का भी परिश्रम आज
सफल हुआ. (9)

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य सीता रामस्य तद्वचः
मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता. (10)

(बहुत दिनों बाद श्री रामचंद्रजी के
दर्शन पाने से) सीताजी के नेत्र हिरन की
तरह प्रफुल्लित हो गए थे किंतु श्री राम-
चंद्रजी के इन वचनों को सुन कर उन के
नेत्रों में आंसू भर आए. (10)

राम का क्रोध भड़का

पश्यतस्तां तु रामस्य भूयः क्रोधो व्यवर्धत,
प्रभूताज्यावसिक्तस्य पावकस्यैव दीप्यतः. (11)

उस समय सीता को देख कर श्री
रामचंद्रजी का क्रोध पुनः उसी प्रकार
भड़का जिस प्रकार घी डालने से अग्नि
धधक उठती है. (11)

स बद्ध्वा भृकुटौ वक्त्रे तिर्यं प्रेक्षितलोचनः
अब्रवीत्पैरुषं सीतां मध्ये वानररक्षसाम्. (12)

उन की भाँहें चढ़ गईं. उन्होंने टेढ़ी
निगाहों से सीता को देख, वानरों के

सामने सीताजी को ये कठोर वचन कहे.

CC-0. Agamigam Digital Project. Digitized by eGangotri, Haridwar, India.

यत्कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणा परिमार्जिता,
तत्कृतं सकल सीते शत्रुहस्तादमर्षणात् (13)
निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना,
अग्रस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक्.
(14)

“हे सीते, देखो, अपना अपमान दूर करने के लिए मनुष्य को जो कुछ करना उचित है, वह मैं ने (रावण को मार) कर दिखलाया. मैं ने क्रोध कर शत्रु के हाथों से तुम्हारा उद्धार वैसे ही किया जैसे आत्मस्वरूप को जानने वाले अग्रस्त्य ने दुर्धर्ष राक्षसों के हाथ से दक्षिण दिशा का उद्धार किया था. (13, 14)

विदितश्चान्तु ते भद्रे योऽयं रणपरिश्रमः,
न तीर्णः सुहृदां वीर्यान्त त्वदेवार्थं मया कृतः.
(15)

हे भद्रे, तुम को यह भी समझ लेना चाहिए कि इन इष्टमित्रों ही के बल पराक्रम से मैं संग्राम के परिश्रम से पार हुआ. किंतु मैं ने यह सब परिश्रम (केवल) तुम्हारे लिए नहीं किया. (15)
रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वशः,
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिरक्षता.
(16)

किंतु (रावण को मार कर) मैं ने अपने चरित्र की रक्षा की है और अपनी बदनामी को बचाया है तथा अपने विख्यात वंश के अपयश को भी धो बहाया है. (16)
प्राप्तचारित्र्यं स देहा मम प्रतिमुखे स्थिता,
दीपो नेत्रातुरन्यत्र प्रतिकूलसि मे दृढम्.
(17)

हे सीते, तुम्हारे चरित्र से संदेह उत्पन्न हो गया है. अतः अब तुम मेरे सामने खड़ी हुई मेरे लिए उसी प्रकार असह्य हो रही हो, जिस प्रकार नेत्ररोग से पीड़ित मनुष्य को सामने रखा हुआ दीपक असह्य जान पड़ता है. (17)
तद्गच्छ ह्यभुजाता यथेष्टं जनकात्मजे,
एता दश दिशो भद्रं कार्यमस्ति न मे त्वता.
(8)

इसलिए, हे जनकात्मजे, ये दसों दिशाओं तुम्हारे लिए खली पड़ी हैं. मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जिधर तुम्हारी इच्छा हो उधर चली जाओ. मुझे तुम से अब कुछ भी प्रयोजन नहीं. (18)
कः पुमान्हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्,
तेजस्वी पुनराद्यात्सुहृल्लेख्येन चेतसा.
(19)

क्योंकि ऐसा कौन तेजस्वी पुरुष होगा जो स्वयं उच्च कुल में उत्पन्न हो कर, दूसरे के घर में रही स्त्री को सुहृद् कर (अपनी सन्तान कर) फिर अंगोकार कर लेगा. (19)
रावणांकपरिभ्रष्टां दुष्टां दुष्टेन चक्षुषा,
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत्.
(20)

अतः रावण की गोद में बैठी हुई, उस की कुदृष्टि से देखी हुई तुझ को इतने बड़े कुल में उत्पन्न हो कर मैं भला अब क्यों ग्रहण करूँ? (20)
तदर्थं निर्जिता मे त्वं यशः प्रत्याहृतं मया,
नास्ति मे त्वथ्यभिर्बलंगो यथेष्टं गम्यतामितः.
(21)

जिस कीर्ति के लिए मैं ने तुम्हारा उद्धार किया वह मुझे मिल चुकी. अब मुझे तुम से कोई मतलब नहीं, अब तुम जहां चाहो वहां जा सकती हो. (21)

जहां सुख मिले वहां रहो

इति प्रव्याहृतं भद्रे मयैककृतबुद्धिना,
लक्ष्मणे भरते वा त्वं कुरु बुद्धिं यथासुखम्.
(22)
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे,
निवेश्य मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः.
(23)

हे भद्रे, मैं ने निश्चय कर के तुम से वह कहा है. लक्ष्मण, भरत, वानरेंद्र सुग्रीव अथवा राक्षसेन्द्र विभीषण में से जिस के यहां तुम रहना पसंद करो या जहां तुम्हें सुख मिलने की आशा हो, वहां तुम रह सकती हो. (22, 23)
न हि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां

मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे परिवर्तिनीम्

CC-0. Agamganga Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(24)

संदेह का पृष्ठभूमि

हे सीते, तुम्हारा दिव्य और मनोहर रूप देख रावण ने जो चाहा होगा किया होगा, क्योंकि तुम उस के घर में बहुत दिनों से रहती हो थीं।" (24)

ततः प्रियाहंश्रवणा तदर्पयं

प्रियादुषश्रुत्य चिरस्य सैथिली.

मुमोच वाष्पं सुभ्रंशं प्रवेपिता

गजेन्द्रहस्ताभिहतेव सल्लकी. (25)

बहुत दिनों से प्यारे वचन सुनने की आशा लगाए हुए सीता श्री रामचंद्रजी के मुख से इस प्रकार के अप्रिय वचन सुन कर गजेन्द्र द्वारा शकजोरी हुई लता की तरह थरथर कांपने लगी और नेत्रों से अश्रुबिंदु टपकाने लगीं। (25)

(लंकाकांड सर्ग 118)

आज्ञा विद्वानों की एक बड़ी संख्या इस बात से सहमत है कि रामरावण युद्ध आर्यों के दक्षिण प्रसार का एक अंग था। इसी से कुछ मिलतीजुलती बात राम ने वाली से उस की मृत्यु के समय कही थी कि (वह) भरत के राजदूत बन कर धर्म की वृद्धि के लिए पृथ्वीमंडल पर घूम रहे हैं :

भरत नीतिवान राजा

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन्सत्यं च सुस्थितम्,
निक्रमश्च यथादृष्टः स राजा देशकालवित्.

(8)

“भरतजी नीतिवान और शिक्षित राजा हैं। वह सत्याचरण में निरत और पराक्रमी होने के साथसाथ यथोचित देश-काल को जानने वाले हैं। (8)

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पाथिवाः,
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः.

(9)

उन्होंने के धर्माज्ञापालक हम तथा अन्य राजा लोग धर्मबुद्धि की कामना से सारी पृथ्वी पर घूमा करते हैं।” (9)

अब जब राम यह स्थापित कर देते हैं कि उन्होंने रावण से युद्ध सीता के लिए नहीं किया तो वह सीता को बनवास न देने के लिए मन ही मन आधार ढूंढते हैं, एक बार फिर वह अपने और सीता के प्रेम को स्मरण करते हैं, और सीता की पवित्रता की बातें करते हैं। लेकिन यही तो राम के मन की कमजोरी है। उन के मन में लंका विजय के बाद सीता के चरित्र में संदेह प्रकट करते हुए उपर्युक्त तथा अन्य वचन घूम रहे हैं, जिन्हें वह अपने प्रेम के भरोसे दबा देना चाहते हैं। लेकिन एक बार दिमाग में घुसा हुआ संदेह का बीज आसानी से नहीं निकलता। इसी संदेह की पृष्ठभूमि में सीताहरण की घटना पर पुनः दृष्टिपात करते हैं। हरण के समय की सीता की मजबूरी का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उन के पास नहीं है। उन्हें केवल इतना ही मालूम है कि उन की इच्छा न होने पर भी सीता ने उन को मारीच के पीछे भेज दिया था। इस के बाद सीता ने लक्ष्मण को भी मजबूर कर दिया कि वह वहां से हट जाएं। लक्ष्मण वहां से आसानी से नहीं हटे। जब सीता ने उन के चरित्र पर कलुष आक्षेप लगाए तभी वह मन ही मन शंकित होते हुए वहां से हटे।

अब्रवीत्पुरुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम्,
अनार्यां करुणारम्भ नृशंसं कुलपांसन.

(21)

अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्,
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे.

(22)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कर रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा : “हे दुःशील कठोर हृदय! हे क्रूर-स्वभाव और कुलकलंक! मैं जान गई कि श्री रामचंद्रजी का विपद्ग्रस्त होना तुम को भला लगता है, तभी तो तू श्री राम-

चंद्रजी को विपद्ग्रस्त देख ऐसा कहता है.

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापलक्ष्मण यदभवेत्,
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु.

(23)

हे लक्ष्मण! तुझ जैसे घातक और सदैव छिपेछिपे व्यवहार करने वाले बैरी की यदि ऐसी निष्ठ पापबुद्धि हो, तो इस में आश्चर्य की कोई बात नहीं.

(23)

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेको नुगच्छसि,
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा.

(24)

हे लक्ष्मण! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इसी से तू अकेला श्री राम के साथ वन में आया है अथवा छिप कर भरत का भेजा हुआ तू श्री राम के साथ आया है.

(24)

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा,
कथमिन्दीवरश्यामं पद्यपत्रनिभेक्षणम्.

(25)

उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्,
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः.

(26)

सो लक्ष्मण! याद रखना, तेरी और भरत की यह साध कभी पूरी होने वाली नहीं. भला मैं नीलोत्पलश्याम और कमल-नयन श्री रामचंद्र को छोड़ क्यों क्षुद्र जन को अपना पति बनाऊंगी. मैं तो तेरे सामने अपने प्राण निश्चय ही दे दूंगी.

(25) (26)

राम बिना जीवित नहीं रह सकती

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले,
इत्युक्तः पुरुषं वाक्यं सीतया रोम हर्षणम्.

(27)

श्रीराम के बिना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती." जब जानकीजी ने ऐसी रोमांचकारी कठोर बातें कहीं.

(27)

अब्रवील्लक्ष्मणः सीताः प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः,
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम.

(28)

तव जितेन्द्रिय लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़ कर सीताजी के कानों में कहा, "आप ऐसी साक्षात् देवता हैं (अर्थात् पूज्या हैं) अतः मैं आप की इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता.

(28)

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि,
स्वभावस्त्वेष नारीणमेवं लोकेषु दृश्यते.

(29)

हे मैथिली! आप ने जो अनुचित बातें कही हैं, सो स्त्रियों के लिए इन का कहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है. क्योंकि संसार भर में स्त्रियों का स्वभाव ऐसा ही होता है.

(29)

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः,
न सहे होदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे.

(30)

लोक में देखा जाता है कि स्त्रियां धर्म को छोड़ने वाली, चंचल, उग्रस्वभाव और आपस में भेदभाव डालने वाली होती हैं. किंतु हे जानकी! ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता.

(30)

श्रीत्रयोरुभयोर्मैश्वर्यं तप्तनाराचसन्निभम्,
उपश्रुण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूत वनेचराः.

(31)

अत्यंत तपाए हुए वाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों कानों को विद्ध कर रहे हैं. अच्छा, सब बनवासी देवतागण मेरे साक्षी बन कर सुनें.

(31)

न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया,
धिकत्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्वामेवं विशंकसे.

(32)

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुम ने मुझ से कठोर वचन कहे. अतः तुम को धिक्कार है. जान पड़ता है, आज तुम्हारा अनिष्ट होने वाला है, तभी तुम को मुझ पर ऐसा निर्मूल संदेह हुआ है.

(32)

स्त्रियोचित दुष्ट स्वभाव

स्त्रीत्वं दुष्टं स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम्
गमिष्ये यत्र काकुस्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने.

(33)

हे सीते! इस समय तुम ने स्त्रियोंचित दुष्ट स्वभाव दिखाया है। मैं तो श्री रामचंद्रजी की आज्ञा मान, तुम्हें अकेली छोड़ कर नहीं जाता था। किंतु हे वरानने! तुम्हारा मंगल हो। लो, मैं अब श्री रामचंद्रजी के पास जाता हूं। (33)

रक्षन्तु त्वां विशालाभि समग्रा वनदेवताः, निमित्तानि हि घोरानि यानि प्रादुर्भवन्ति मे। (34)

हे विशालाभि! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस समय बड़े बुरे शकुन मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। (34)
अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः। (35)

क्या मैं श्री रामचंद्र सहित लौट कर फिर तुम्हें (यहां) देख सकूंगा?" (35)
लक्ष्मणनैवमुक्त्वा सा रुदन्ती जनकात्मजा, प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्र वाष्पपरिप्लुता। (36)

लक्ष्मणजी की ये बातें सुन, रोती हुई जानकीजी ने लक्ष्मण को उत्तर देते हुए आंखों में आंसू भर, फिर कठोर वचन कहे। (36)

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि बिना रामेण लक्ष्मण, आबन्धिष्येऽथ वां त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः। (37)

"हे लक्ष्मण! श्री राम के बिना मैं गोदावरी में डूब मरूंगी अथवा गले में फांसी लगा कर मर जाऊंगी अथवा किसी ऊंचे स्थान से गिर कर प्राण दे दूंगी। (37)

पिबाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्, न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे। (38)

अथवा हलाहल विष पी लूंगी अथवा अग्नि में कूद भस्म हो जाऊंगी, किंतु श्री रामचंद्र की छोड़, परपुरुष को स्पर्श भी कभी न करूंगी। (38)

इति लक्ष्मणमाक्रुश्य सीता दुःखसमन्विता, पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान वै। (39)

लक्ष्मण से इस प्रकार कह और शोक

से पीड़ित हो सीता दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर रोने लगीं। (39)
तस्मात्सीता विमना रुदन्ती।

सौमित्रारालोक्य विशालनेत्राम्, आश्वासयामास न चैव भर्तुः

तं भ्रातरं किञ्चिदुवाच सीता। (40)

विशालनयना जनकनंदिनी को ऐसे आर्तभाव से उदास हो रोते हुए देख लक्ष्मण ने उन को समझायाबुझाया, किंतु जानकी ने अपने देवर से फिर कुछ भी न कहा (अर्थात् रूठ गईं।) (40)

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः कृताञ्जलिः किञ्चिदभिप्रणम्य च, अन्वीक्षमाणो बहुशश्च मैथिलीं जगाम रामस्य समीपमात्वावन्। (41)

तदनंतर जितेंद्रिय लक्ष्मणजी हाथ जोड़ कर और बहुत झुक कर सीताजी को प्रणाम कर और बारबार सीता को देखते हुए श्री रामचंद्रजी के पास चल दिए। (41)
(अरण्यकांड, सर्ग 45)

सीता का स्त्री हठ

सीता की परिस्थिति कितनी विकट है, इस का हम अंदाजा लगा सकते हैं, उन का स्त्री हठ भविष्य की अशुभ घटनाओं के साथ मिल कर उन के चरित्र में संदेह के कितने सबल आधार उपस्थित कर देगा, यह वह बेचारी नहीं जानती थीं। और राम क्या करें? वह मानव हैं, पुरुष हैं, सीता पर विश्वास करना चाहते हैं। लेकिन कर नहीं पाते।

रावण का स्मरण आते ही राम का अहंकार फिर से जाग उठता है। रावण पर विजय पाने के गर्व से राम की छाती फूल जाती है, लेकिन उस के वैभव की बात से फिर उन्हें उस के चक्र में पड़ी सीता में मानवीय कमजोरियों की संभावना दिखाई देती है। लंका विजय के पश्चात् भी उन्होंने इस संभावना का जिक्र किया था। यह चित्र उन्हें फिर से अकशोर देता

है. वह उसे अपने मन की कलुष कल्पना कह कर दिखावे के लिए कहता है।
 विश्वास है, उन के प्रति अथाह प्रेम है, अपने प्रिय में वह कोई बुरी बात नहीं देखना चाहते।
 कुथास्तरणसंवीते रामः संनिषाद ह,
 सीतामवाहणेन च सुदेवकं शुचि.
 (18)

परंतु बड़ेबड़े तपस्वियों, सतीसाध्वी नारियों के पतन के उदाहरण उन के समक्ष हैं. स्वयं देवराज इंद्र द्वारा दूषित की गई एक अभागि नारी अहल्या की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना उन्होंने की थी. केवल पांव से छू कर उसे पत्थर से जीवित स्त्री बना दिया था. यथार्थवाद में आ कर वह सोचते हैं तो उन्हें पतन की बात असंभव ज्ञात नहीं होती. यथार्थ के चक्कर में पड़ कर वह एक छोटी सी बात को बहुत तूल दे बैठते हैं.

यहां राम की मर्यादाशीलता को उभारने के लिए मैं ने दिखाया है कि राम शूर्पणखा के सौंदर्य से प्रभावित हुए थे. किसी की मर्यादाशीलता की परीक्षा तभी हो सकती है, जब उस के सम्मुख कोई लालच आए और वह उसे ठुकरा दे. जिस ने धन का भंडार देखा ही नहीं वह चोरी क्या करेगा! असली महत्त्व उसी का है जो सामने अतुल धनराशि पड़ी देख कर उसे उठाने की इच्छा होते हुए भी न उठाए. इसी प्रकार सामाजिक मर्यादाओं की जो उच्च कल्पना राम के मन में है, वह उन्हें किसी प्रकार की छूट नहीं देती. वह कोई ऐसा कार्य, जिस से वह समझते हैं कि समाज की मर्यादाओं को ठेस पहुंचती है, न तो स्वयं करेंगे, न और कहीं सहन करेंगे. उन के सामने इस प्रश्न पर अपने और दूसरे का भेद नहीं है.

वाटिका में आमोदप्रमोद

इस के विपरीत वाल्मीकि राम को उत्तरकांड में अयोध्या में बनी नई अशोक-वाटिका में सीता के समक्ष 'परम सुंदरी स्त्रियों' के साथ मद्यपान करते हुए व उन को सुख देते हुए दिखाते हैं :

पाययामास काकुस्थः शचीमिव पुरंदरः,
 मांसानि च सुमिष्ठानि फलानि विविधानि च.
 (19)

रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन्,
 उपानृत्यंश्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः.
 (20)

(अशोक वाटिका में उस पुष्प बिछे आसन पर) अच्छे बिछौने बिछे थे. राम-चंद्र ने उसी तरह शुद्ध मद्य सीता को पिलाया, जिस तरह इंद्र शची को पिलाते हैं. सेवक भोजन के लिए अनेक तरह के मांस और मीठे फल ले आए. नाचने और गाने वाले वहां आ कर नाचनेगाने लगे.

(18, 19, 20)
 वालाश्च रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशानुगाः,
 उपानृत्यन्त काकुस्थं नृत्यगीतविशारदाः.
 (21)

उदार स्वभाव वाली परम सुंदरी स्त्रियों ने आ कर मद्य पिया और नाचने-गाने लगीं.
 (21)
 मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः,
 रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषितः.
 (22)

सब को आनंद देने वाले परम सुंदर रामचंद्र ने उन स्त्रियों को सुख दिया. (22)
 (उत्तरकांड, सर्ग 42)

दशरथ की विलासिता पर आपत्ति

लेकिन मेरे मन में राम के इस रूप की कल्पना नहीं है. इस कविता में राम अपने पिता की विलासप्रियता के ही शिकार हो कर निर्वासित किए गए हैं, और उन्हें विलासिता से घणा हो गई है. उन के मन में ऊंचे आदर्श हैं, ऊंची उड़ानें हैं. अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए चाहे वह कोई अनुचित रास्ता पकड़ें, लेकिन उस आदर्श से गिरना उन के लिए एक भारी पाप है.

यहां कई लोगों ने दशरथ के विलासी

होने की कल्पना पर आपत्ति की है। लेकिन दशरथ का चरित इस कविता में लगभग वही है, जो बाल्मीकि ने खींचा है। राम वनवास की आज्ञा का समाचार सुन लक्ष्मण राम और कौशल्या से कहते हैं :
न रोचते ममाप्येतदर्थं यद्राघवो वनम्,
त्वयत्वा राजवश्रियं गच्छैस्त्रिया
वाक्यवशंगतः। (2)

“हे माता, मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्री राम-चंद्रजी वन को चले जाएं। (2)

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रघर्षितः
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः (3)

स्त्री के कहने में आने वाले विपरीत प्रकृति, वृद्ध, विषयों के अधीन एवं कामुक महाराज स्त्री की प्रेरणा से क्या नहीं कह सकते?” (3) (अयोध्याकांड, सर्ग 21)

कौशल्या इन बातों को काटती नहीं। बल्कि जब लक्ष्मण ‘ऐसे वृद्ध, कामी, स्त्रीण और निर्लज्ज पिता को एक अधर्मी राजा की तरह मार डालने’ की धमकी देते हैं, तो राम से केवल इतना कहती हैं : “हे वत्स, तुम अपने भाई की सलाह सुन चुके, अब इस के बाद जो तुम्हें अच्छा लगे वह करो।” (श्लोक 11)

अरण्यकांड में रावण को सीता अपने कुल आदि का परिचय देते हुए कहती हैं :
विशालाक्षी महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः,
कामातंस्तु महातेजा पिता दशरथः स्वयम्। (12)

कैकेय्याः प्रियामकार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत्,
अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम्। (13) (सर्ग 47)

“मेरे पति की बड़ीबड़ी आंखें और बड़ेबड़े हाथ हैं। वह सदा सब के हित में लगे रहते हैं। किंतु उन के ‘कामी पिता’ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए राम का अभिषेक नहीं किया, यद्यपि राम अभिषेक कराने के लिए उन के पास पहुंच चुके थे।”

पिता की मर्यादाहीनता से हुई प्रति-क्रिया और सीता के अगाध प्रेम ने ही राम को अपने पिता की तरह कई विवाह करने से रोके रखा।

पहले भी संकेत किया जा चुका है कि राम अपने उद्देश्यों को पवित्र समझते हुए भी उन की प्राप्ति के लिए साधनों का भी उतना ही ‘पवित्र’ होना उतना आवश्यक नहीं समझते थे। सीता के साथ क्या किया जाए—यह सोचते हुए राम को अपने पुराने अपनाए हुए साधनों का ध्यान आता है और स्वयं उन की अंतरात्मा की कठोर आवाज उन साधनों की ढोंग कह बैठती है। अंतरात्मा मीठीफीकी बातें करना नहीं जानती, वह स्पष्ट बोलती है और उग्र होती है।

सीताहरण की ठेस

सीता के हरण से राम को बहुत बड़ी ठेस लगी थी, और उसी से उत्तेजित हो कर उन्होंने अपने जीवन में एक ऐसा कार्य—रावण पर विजय—कर दिखाया जिसे आर्य असंभव समझते थे। जो राम अपने पिता के अन्याय व कैकेयी की कुचाल से संघर्ष न कर के अपने अधिकार छोड़ आए, उन्हें कितना भारी सदमा पहुंचा होगा कि वह इतना बड़ा काम करने पर तुल जाएं और उस काम की पूर्ति के लिए उचितअनुचित सभी कुछ करने को तैयार हो जाएं। सुग्रीव से लड़ रहे बाली का वध एक पेड़ की श्रोत से करना एक ऐसा ही काम था। और इस अनुचित कर्म की बाली द्वारा की गई निंदा के उत्तर में अयोध्या से निर्वासित होने पर भी राम अपनेआप को उस राज्य का दूत बताते हुए हिचकिचाते नहीं और छिप कर किए गए वध का समर्थन वह यह कह कर करते हैं कि शिकारी भी तो मृग का शिकार छिप कर करते हैं!

फिर यदि बाली को उन्होंने भाई की पत्नी के साथ सहवास करने के अपराध

का दंड दिया तो बाद में सुग्रीव को भी यही अपराध करने पर क्यों नहीं सारा? राम इन सब बातों को अच्छी तरह जानते हैं। वह यह भी जानते हैं कि विभीषण से उन्होंने देशद्रोही का काम करवाया है, इसे धर्मानुकूल या महान कतई नहीं कहा जा सकता।

सुग्रीव को दंड क्यों नहीं?

इस विचारधारा के प्रवाह में यह एक और 'पवित्र' काम करने के लिए संदेहपूर्ण साधन अपनाते हैं। कहा जाता रहा है कि राजा राम ने सीता को निर्वासित किया और व्यक्ति राम ने सीता वियोग का दुख सहा। लेकिन यदि वास्तव में राजा राम ने सीता को निकाला होता तो वह उसे बाकायदा राजदरबार में बुला कर दंड की घोषणा करते। शंबूक का वध करते समय भी (हालांकि शंबूक वध को किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता) राम ने उस को उस का अपराध बताया था। एक दिन के लिए तपोवन घूम आने की इच्छापूर्ति का बहाना कर के वह सीता को चोरी-छिपे वन न भेज देते। स्पष्ट है कि यह कार्य राजा राम का नहीं, पुरुष राम का है।

लक्ष्मण राम के इस काम से सहमत नहीं थे। जीवनपर्यंत दुख पाई हुई सीता व्यक्ति राम के इस रूप को समझती और पहचानती थीं। कितनी पीड़ा उन के मन में थी, कितना उलाहना उन के रोमरोम से निकल रहा था, यह उन्हें वन में छोड़ कर लौट रहे लक्ष्मण के प्रति सीता के मुंह से कहलाए गए वाल्मीकि के इस श्लोक से स्पष्ट है:

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम्,
एवं ब्रुवत्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः.

“इस समय मैं गर्भवती हूँ—इसे देखते जाओ, जिस में स्वामी को इस का अपवाद न लगे。” इस बात को सुन कर लक्ष्मण व्याकुल हो गए।

(उत्तरकांड सर्ग 48, श्लोक 19)

CC-0. Agamigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नारी के स्वाभिमान का प्रतीक

नारी की युगयुग की कराह इस वाक्य में समा गई है। तभी बारबार की दुस्कारी हुई, लव और कुश जैसे होनहार बालकों की माता ने लगभग 16 वर्ष के समय तक वाल्मीकि के आश्रम में रहने के बाद राम के अयोध्या लौट चलने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, धरतीमाता की गोद में समा जाना उन्होंने बेहतर समझा। यहां सीता नारी के स्वाभिमान की प्रतीक बन जाती है। वाल्मीकि ऊपर से चाहे राम की प्रशंसा में कुछ भी क्यों न कहते रहें, सीता का यह रूप दिखा कर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वह सीता के अपमान और स्वाभिमान को समझते थे। कई बार तो लगता है मानो वाल्मीकि राम पर मन ही मन हंस रहे हैं शायद तभी उन्होंने सीता को वन में छोड़ कर आ रहे लक्ष्मण के मुंह से यह कहलवाया था :

ततो दुःखतरं भूयः सीता विप्रवासनम्,
पौराणां वचनं श्रुत्वा नृशंसं प्रतिभाति मे.

(7)

“इस समय नगरवासियों के कारण सीता का त्याग अनियमित और निर्दय कर्म है。”

(7)

को न धर्माश्रयः सूतः कर्मण्यस्मिन् यशोहरे,
मैथिली प्रति संप्राप्तः पौरैर्हीनार्थवादिभिः.

(8)

“न्यायविरुद्ध बोलने वाले नगरवासियों के कारण सीता का त्याग उन के वंश को नष्ट कर देगा। साध्वी स्त्री के त्याग से प्रशंसा नहीं होती और इस कर्म से उन्हें कौन सा धर्म मिल गया?”

(8)

(उत्तरकांड, सर्ग 50)

यह सारी गाथा अहल्या की सम्मान प्रतिष्ठा से ले कर सीता के त्याग तक राम के जीवन में आए हुए परिवर्तन की ओर इंगित कर रही है। युवा राम, जो

मर्यादाओं के बोझ से दबा नहीं था, जो तथाकथित पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उचितअनुचित साधन अपनानेअपनाने उन का आदी नहीं हो गया था, अहल्या के संबंध में एक महान सिद्धांत की स्थापना करता है। अहल्या के सतीत्व व गौरव की पुनः स्थापना करते समय मानो वह कह रहा है कि अनिच्छापूर्वक, छल से या बल से दूषित की गई स्त्री दूषित नहीं कही जा सकती। यदि विवश स्थिति में स्त्री को किसी अनाचार का भागी बनना पड़े तो उस की अपराधिन वह नारी नहीं है, लेकिन जीवन में कई घटनापूर्ण वर्ष बीत जाने पर राम अपने द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत को अपनी पत्नी पर लागू नहीं कर पाते, अहल्या को केवल छू देने से पवित्र करने वाले पतितपावन राम सीता का हाथ पकड़ कर भी उन्हें उन के कथित अपराध से छुटकारा नहीं दिला पाए!

बीते युग की बात

अब प्रश्न यह है : इस सब का आज के जीवन से क्या संबंध? जो हुआ, जो लिखा गया, वह बीते युग की बात हो गई। उसे फिर से क्यों सामने लाया जाए?

कुछ लोगों ने हिंदू धर्म को बिहारी की नायिकाओं से भी अधिक नाजुक समझ लिया है—यह आंख पड़े मैला होता है और बात किए टूटता है। जब गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण को हिंदी में लिखना आरंभ किया था, तो उन का विरोध किया गया था। देवभाषा में लिखे जाने योग्य विषय को जनसाधारण की भाषा में लिखने से धर्म के प्रति आदर कम जो होता था? उन की 'सैंविटटी' को ठेस जो लगती थी। अकबर चाह कर भी सती प्रथा को बंद न करा पाया, विधवा विवाह को प्रचलित न कर पाया। राजाराममोहन राय ने जब सती प्रथा के विरोध में आंदोलन खड़ा कर के कानून बनवाया, तो धर्म के

रसातल में चले जाने में किसे संदेह था? स्वामी दयानंद सरस्वती ने जब स्त्रीशिक्षा पर बल दिया, सतीपूजा का विरोध किया तो धर्म की रीढ़ ही टूटने को हो गई थी। स्त्रीशिक्षा के ही कारण महर्षि कर्वे को न जाने क्याक्या कष्ट सहने पड़े। गांधीजी के अछूतोद्धार आंदोलन ने क्या तूफान नहीं ढाए! शारदा ऐकट जब बना और चौदह वर्ष से कम उमर की कन्याओं के विवाह को दंडनीय घोषित किया गया तो आसमान टूटने लगा था। अभी हाल ही में जब नए हिंदू कानून बने, न जाने क्या कुछ कर गुजरने की धमकियां लोगों ने दीं।

हिंदू धर्म : अंधविश्वास से ऊपर

पर वास्तव में हिंदू धर्म इतना नाजुक है नहीं। जहां संकुचित मनोवृत्ति के अग्रगतिशील लोग अपनी चौधराहट जमाए रखने के लिए धर्म के नाम पर हर नए विचार, हर नई चीज का विरोध करते रहे हैं, वहां हिंदू धर्म में ऐसे भी लोग हर समय मौजूद रहे हैं, जो स्वतंत्र विचार करना जानते हैं, और बदलते हुए युग के साथ समाज के रूप को बदलने की नई शक्ति देते रहे हैं, आज ऐसे लोग जानते हैं कि हमारा धर्म हमारे मध्यकालीन मुगलयुगीन रीतिरिवाज और विश्वास ही नहीं हैं, वह इन से कहीं ऊपर, बड़ा है। परदा प्रथा मिटाने पर भी हमारा धर्म मिटा नहीं, कुछ और शक्तिशाली ही बना। विदेश यात्रा से हम ईसाई नहीं हो गए, कुछ सीख कर हम ने देश का लाभ ही किया। ईसाई धर्म के विरोध में स्वामी विवेकानंद के जिहाद से हमारा कुछ लाभ ही हुआ। अंतरजातीय विवाहों से हमें कुछ शक्ति ही मिलती है। इसी प्रकार भावक विश्वासों के स्थान पर निरपेक्ष अध्ययन हमें कल्पना के आकाश से यथार्थ की ठोस भूमि पर ही लाएगा।

कल तक हमारा मध्ययुगीन नकारात्मक धर्म, जो इतना नाजुक समझा

जाता था, व्यक्तियों के संबंध में—विशेषकर सामर्थ्यहीन व्यक्तियों के संबंध में—बड़ा कठोर था। जिस के पास सामर्थ्य थी, जिस के पास धन था, उस के सब दोष माफ थे। इस बात का उलाहना तुलसीदास ने भी दिया : 'समर्थ को नहीं दोष गुसाई'। लेकिन समर्थों के अपराध की कसर समाज कमजोरों से निकालता था। उन के छोटेछोटे दोषों की भाफी कहीं नहीं थी। पूर्ण तबाही से बचने का और कुछ आत्मसम्मान पाने का एक ही रास्ता उन के पास था—धर्मपरिवर्तन। कुल कितने मुसलमान यहां आए थे, और अब कितने हैं? सौ डेढ़ सौ वर्षों में यहां कितने ईसाई बन गए? यदि अपने धर्म में सम्मान हो, न्याय हो, तो तलवार के बल पर भी कोई धर्मपरिवर्तन के लिए राजी नहीं होता। यदि तलवार के बल पर कुछ का मुसलमान बनना मान भी लिया जाए, तो ईसाई बनाने के लिए तो किसी ने तलवार नहीं उठाई।

समर्थ को नहीं दोष गुसाई

और इस शोषण के खुले मेले में सब से ज्यादा सताई गई है हिंदू नारी। कई सदियों से जिस हिंदू स्त्री ने घर से बाहर पैर नहीं रखा, जिसे किसी गुंडे, राजा या जागीरदार ने या किसी विधर्मी ने एक बार उस की बेवसी का लाभ उठा कर अपने भोग की वस्तु बना लिया, या केवल छू भर दिया, हमारे लिए निकृष्ट हो गई। उसे हमारी घृणा, हमारे कोप का भाजन बनना पड़ा। किसी दूसरे के अपराध का दंड उस बेचारी को भोगना पड़ा। वह मुसलमान बन गई, ईसाई बन गई और इस से भी बदतर वेश्या बन गई। अपने को ऊंचा समझने वाले हम उस का मुजरा सुनते रहे, उस का भोग करते रहे, लेकिन उस बेचारी को पुनः मानसम्मान देने की इच्छा हम में न थी—क्यों कि हम कह सकते थे कि जब स्वयं भगवान राम पर-

पुरुष के घर में रही अपनी पत्नी को न रख सकी, तो हमें संधारण क्या कर सकते हैं! क्यों कि इन बीती सदियों में हम भगवान राम द्वारा स्थापित की गई मर्यादा का ही पालन कर रहे थे।

कल वाली समस्या आज भी है

और कल ही की बात है। जो समस्या राम के सम्मुख थी, वही हमारे समाज के सम्मुख एक विकराल रूप में उपस्थित हुई। सांप्रदायिक दंगों व वाद में विभाजन की भगदड़ में स्त्रियों का अपहरण हुआ। इन में भी कई गुने पुरुषों के सामने इस प्रकार दूषित की गई अपनी मां, बहनों, पत्नियों, पुत्रियों की समस्या खड़ी हो गई। कुछ लोगों ने ऐसी स्त्रियों को स्वीकार कर के एक अपूर्व साहस का परिचय दिया—जो भगवान राम के लिए भी आदर्श बन सकता था। लेकिन अधिकतर स्त्रियों की क्या स्थिति है? अपनी देखभाल व रक्षा के लिए बने गृहों से निकल कर वे कहां जाती हैं? क्या वे दूसरों के अपराधों का दंड खुद भोगने पर मजबूर हो जाती हैं? यदि वाल्मीकि आश्रम में शरण न मिलती तो आसन्नप्रसवा सीता माता कहां जाती? गंगा में या की गोद में?

क्यों न हम अपनी इस सामाजिक कमजोरी को दूर करना चाहें? और अगर कोई इस कमजोरी के मूल स्रोत की ओर इशारा करे तो क्यों हम इस के खिलाफ जिहाद बोल दें? अपनी कमजोरी पर परदा डालने से हमें कुछ नहीं मिलेगा। अंदर का नासूर भीतर ही भीतर शरीर को खाता रहेगा। हमारी अपनी कमजोरी तभी दूर होगी जब हम अपने भूतकाल की, अपने पुराने आदर्शों की नापतौल करें अपने अवतारों के, आदर्श पुरुषों के अनुचित कामों की ओर उंगली उठा कर कहें, यह हमें नहीं करना है!

अवश्य ही इस से कुछ भावुक लोग उत्तेजित होंगे। आलोचना की हर बात

तुरंत नहीं मान ली जाएगी. बहुत सी बातें शायद कभी नहीं सुनी जाएंगी. लेकिन इस से वादविवाद का महत्व कम नहीं होता. इस से तो राष्ट्र को नई शक्ति मिलेगी और हमारा राष्ट्रीय चरित्र ऊंचा उठेगा. केवल कुछ भावुक व्यक्तियों की उत्तेजना के कारण समाज की प्रगति को नहीं रोका जा सकता.

(इस लेख में वाल्मीकि रामायण के

उद्धरण चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा द्वारा संपादित व संपादक अमृतलाल पब्लिशर, इलाहाबाद, द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद्वाल्मीकि रामायण' (1927) से, तथा पंडित रामतेजशास्त्री द्वारा अनूदित व पंडित पुस्तकालय, काशी द्वारा प्रकाशित 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणम्' (1951) से लिए गए हैं.) ●

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज को भत्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो. क्यों? भगवान खुश होंगे. तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपये की पूँजी चाहिए. बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती. धन बिना मेहनत किए नहीं आता. और आसदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जन्त कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भ्रष्ट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बंद है. पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजीपति का बंद बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लीजिए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर. बंसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है. ●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

भारत में संस्कृति का ब्राह्मण नियंत्रित विस्तार

बालकृष्ण नारायण

अपने स्वार्थ के लिए 'संस्कृति' का ढोल बजाया.

भारत की समाज व्यवस्था संसार के सभी देशों से विलक्षण है. अत्यंत प्राचीन काल से यहां समाज के चार भाग किए गए, जिन्हें वर्ण कहते हैं. उन का उद्गम वेदों में बताया जाता है. अनेक मनोषी इतिहासकारों का कहना है कि जिस रूप में यह व्यवस्था बाद में रूढ़ हुई, वेदों में इस का वह रूप नहीं है. वेदों में यह व्यवस्था बहुत उदार तथा प्रगतिशील थी, परंतु बाद में यह समाज को जकड़ने तथा शोषित करने का साधन बन बैठी. मनु तथा अन्य स्मृतियों से इस व्यवस्था का जो रूप प्रकट होता है, उस में ब्राह्मण प्रमुख हैं तथा यह ऐसी वर्ण-व्यवस्था न रह कर, जिस में चारों वर्णों को समान स्थान प्राप्त हो, ब्राह्मण व्यवस्था बन जाती है और अन्य वर्णों को नियंत्रण में रखने तथा उन पर शासन करने का यंत्र हो जाती है. संभवतः इसी कारण उस काल का हिंदू धर्म भी ब्राह्मण धर्म के नाम से ही जाना जाता है.

नियंत्रण एवं शोषण : ब्राह्मणों का पोषण

ब्राह्मण तथा अन्य वर्णों या समाजों की यह पारस्परिक क्रियाप्रक्रिया तथा प्रतिद्वंद्विता मनोरंजक अध्ययन का विषय है. अभी तक इस प्रकार का समाज-शास्त्रीय अध्ययन बहुत कम हो पाया है, परंतु समाज की समस्याओं, उन के हल

तथा राजनीति, अर्थनीति आदि विषयों पर उन के व्यापक प्रभाव को समझने के लिए यह अनिवार्य है. प्रस्तुत लेख में इस विषय की संक्षिप्त रूपरेखा मात्र देने का प्रयास किया गया है.

स्वामी धर्मतीर्थ के अनुसार शोषकों तथा उन की सभ्यता के लिए इतिहासकारों ने ब्राह्मणवाद शब्द का प्रयोग किया है. इस व्यवस्था ने जाति, पौरोहित्य तथा मिथ्या दर्शन के आधार पर निम्न वर्गों का धार्मिक व सामाजिक नियंत्रण तथा शोषण द्वारा अन्य समाजों पर अपना अधिकार विस्तृत किया तथा उन में असमानता उत्पन्न की.

विस्तारवादी प्रतिभा

वास्तव में ब्राह्मण शब्द का अर्थ ही विस्तारवादी है. यह शब्द बृह धातु से निकला है, जिस का अर्थ होता है फैलना और बढ़ना. इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि अत्यंत प्राचीन काल से ले कर आज तक हिंदू समाज का जो ढांचा रहा है, उस के निर्माण तथा विकास में ब्राह्मणों का प्रमुख स्थान रहा है.

एक युग था जब भारतीय संस्कृति पंजाब तथा सिंध तक सीमित थी. उस समय उसे आर्य संस्कृति कहते थे. कालांतर में उस ने विस्तार करना प्रारंभ किया तथा सर्वप्रथम वह पूर्व की ओर बढ़ी. आज के

उत्तर प्रदेश तथा बिहार को अपने प्रदेशों में सम्मिलित कर लेने के पश्चात् उस ने दक्षिण की ओर पग बढ़ाए। सब से पहले उस ने विदर्भ को आत्मसात् किया। अगस्त्य जब दक्षिण गए, तब विदर्भ आर्यावर्त की सीमा में था। अगस्त्य ने विदर्भ की राजकुमारी लंपामुद्रा से विवाह भी किया था। बढ़ते-बढ़ते, संभवतः कुछ शताब्दी ईसापूर्व, एक दिन ऐसा आया, जब रामेश्वरम तक संपूर्ण प्रदेश भारतीय संस्कृति के विस्तार में सम्मिलित हो गया।

संस्कृति का यह समग्र विस्तार वस्तुतः ब्राह्मण वर्ण के ही प्रयत्न का फल था। कालांतर में विदेशियों के आक्रमण के कारण उत्तर भारत से वे सभी चिन्ह लुप्त हो गए जो ब्राह्मण प्रयासों का परिचय दे सकते थे। परंतु अपेक्षाकृत बहुत अधिक शांत जीवन के कारण दक्षिण भारत में वे सब बातें आज तक न केवल ज्यों की त्यों विद्यमान हैं, बल्कि आठवीं शताब्दी से संपूर्ण देश का धार्मिक-सांस्कृतिक नेतृत्व दक्षिण भारत के हाथ में जा चुका है। इस कारण ब्राह्मण जाति के विस्तारवादी प्रयासों का अध्ययन दक्षिणी भारत की परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से किया जा सकता है।

सामाजिक रूप व्यवस्था : ब्राह्मणों की श्रेष्ठ अवस्था

जैसा कि हम कह चुके हैं, ब्राह्मण की प्रतिभा विस्तारवादी है। उस ने अपने को आगे ही बढ़ाया है तथा एक के बाद दूसरे समाज पर अपना अधिकार स्थापित किया है। विदेशी आक्रमणों के समय ब्राह्मणों के प्रयत्न कुछ शिथिल भी हुए हैं तथा विदेशी संस्कृति के संपर्क से भारत ने अपनी संस्कृति को सजाया तथा सवारा भी है, उन से कुछ ले कर अपने में मिलाया है तथा उन्हें भी अपनी ओर से कुछ दिया है, परंतु इन समस्त परिवर्तनों तथा हल-

वर्णगत स्वरूप ज्यों का त्यों रहा है। नीलो के सुपरमैन की तरह उस ने अपनी व्यक्तिगत श्रेष्ठता तथा अन्य वर्गों के ऊपर अपने अधिकार की वृत्ति को पूर्ववत् जीवित रखा है। परशुराम से पंडित नेहरू तक—केरल के कायनिस्ट राज्य में नंबूदिरिपाद तक भी—भारत की सामाजिक रूपव्यवस्था के मध्य ब्राह्मणों के अधिकार, विस्तार तथा श्रेष्ठता का यह तत्व विद्यमान चला आ रहा है।

हिंदुत्व विस्तार के चार धरातल

अध्ययन की सुविधा के लिए विस्तार के इन प्रयासों को हम चार मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। डाक्टर श्रीनिवास के मतानुसार इन में पहला और सब से मूलभूत प्रकार ग्राम से संबंधित (लोकल हिंदूइज्म) है, जहां की अपनी भौगोलिक समस्याएं उसे विशिष्ट रूप में गढ़ती तथा बनाती हैं, दूसरा क्षेत्र से संबंधित (रीजिनल हिंदूइज्म) है, जिस में उस का विस्तार होता है तथा वह भाषा, धर्म आदि से संबद्ध होता है, तीसरा प्रायद्वीप से संबंधित (कांटीनेंटल हिंदूइज्म) है, जैसा समग्र दक्षिण भारत का अपनी प्रजातिगत, राजनीतिक तथा अन्य समस्याओं से नियंत्रित हिंदुत्व है और सब से अंत में इन समस्त रूपों से ढल कर निकला हुआ अखिल भारतीय या सार्वदेशिक हिंदुत्व है, जो कभीकभी द्वीपांतर विस्तार की प्रवृत्ति में भी प्रकट होता है। इस प्रकार इन चार धरातलों पर हिंदुत्व का विस्तार हुआ है।

स्थानीय हिंदुत्व का सर्वोत्तम उदाहरण दक्षिण भारत के केरल प्रदेश से दिया जा सकता है। कुर्ग भी, जो केरल की ही भांति छोटा है, एक ऐसा ही उदाहरण है। केरल दक्षिण भारत के पश्चिमी कोने का एक छोटा सा भूप्रदेश है, जो केवल दो सौ मील लंबा तथा पचहत्तर मील चौड़ा है। जब ब्राह्मण वहां

पहुँचे, तब वे गंगा, यमुना के प्रदेश की इस सुगन्धित का खंडन कोई नहीं कर विध्याचल, विदेश तथा अन्य भागों में सहा है कि भारत का यह अश्रुत वर्ग अपनी विस्तारपद्धति का प्रयोग कर के ब्राह्मणों की इस सुविचारित कूटनीति का इसे अच्छी तरह घिसमांज चुके थे. यह ही परिणाम है. नहीं समझना चाहिए कि इन का विस्तार बहुत सुगमता से संपन्न हुआ और किसी ने उन का विरोध ही नहीं किया. वस्तुतः केरल के नायरों ने, मैसूर तथा आंध्र के रेडिडियों ने और तमिलनाडु के चेट्टी और वेल्लालों ने तब तक उन के प्रयासों का जबरदस्त विरोध किया, जब तक राजनीतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से उन की अपनी व्यवस्था शिथिल नहीं पड़ गई तथा उन के सामाजिक ढाँचे डगमगाने लगे. इन संघर्षों का पूरा विवरण आज हमें नहीं मिलता तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए व्यापक परिमाण में शोध करने की आवश्यकता है.

अवरोधों का सामना

क्षेत्रीय विस्तार का धरातल स्थानीय विस्तार के धरातल पर रह जाने वाली कमियों की परिपूर्ति के लिए है. उदाहरण के रूप में जब रेडिडियों तथा वेल्लालों ने स्थानीय धरातल पर ब्राह्मणों से संघर्ष करते हुए उन की अनेक बातों को अस्वीकार किया और धार्मिक नेता के नाते उन्हें अपने पारिवारिक ढाँचे में प्रविष्ट नहीं होने दिया अथवा केरल के नायरों ने नंबूदिरियों की अनेक व्यवस्थाओं को स्वीकार नहीं किया, तो ब्राह्मणों ने ऐसे सब लोगों को क्षेत्रीय धरातल पर अस्पृश्य तथा बहिष्कृत घोषित कर दिया. इस से उन का प्रतिरोध ही नहीं घटा, उन की सामाजिक मर्यादा भी बहुत कम हो गई.

सुनियोजित कूटनीतिश्रुता

विद्वानों का कहना है कि भारत में साढ़े आठ करोड़ अछूतों की सृष्टि इसी प्रकार हुई है. स्वर्गीय डाक्टर अबेदेकर

की इस सुगन्धित का खंडन कोई नहीं कर सहा है कि भारत का यह अश्रुत वर्ग ब्राह्मणों की इस सुविचारित कूटनीति का ही परिणाम है.

प्रायद्वीपी धरातल पर हिंदूत्व का विस्तार अन्य धरातलीय विस्तारों के साथ तथा समानांतर ही चलता रहा. यहां प्रायद्वीपी धरातल का तात्पर्य स्पष्ट रूप से दक्षिण भारत के प्रायद्वीप से है. ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में जब आर्य इस प्रदेश में आए, तब वे पहले तो इस भूप्रदेश का व्याप देख कर ही अचरज में पड़ गए. यहां अनेक सभ्य जातियां रहती थीं. जिन के संगठित राज्य, भाषा, धर्म तथा रीतिरिवाज थे. लेकिन सदा के विजेता ब्राह्मणों ने धैर्यपूर्वक उन पर नियंत्रण करने के उपाय खोज निकाले. इस प्रक्रिया में यद्यपि शताब्दियां लगीं, परंतु उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई.

ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त कुछ उपाय इस प्रकार हैं :

अ. वर्णव्यवस्था में राजाओं का सम्मिलन : इतिहास से पता चलता है कि तमिल राजाओं तथा सरदारों ने ही सर्वप्रथम आर्य ब्राह्मणों को अपने धार्मिक क्रियाकलाप तथा यज्ञादि संपन्न कराने के लिए निमंत्रित किया था. इस प्रकार राजकीय सम्मान प्राप्त कर कुछ समय बाद जब वे दक्षिण में बस गए, तब स्वभावतः उन्होंने तमिल समाज में अपना धार्मिकसामाजिक संगठन प्रचलित करने का प्रयास किया, लेकिन क्योंकि धार्मिक समुदायतंत्र तथा सामाजिक लोकतंत्र में परस्पर मित्रता संभव नहीं है, इसलिए आरंभ में तमिल समाज को चार वर्णों में विभक्त करने में ब्राह्मणों की सफलता नहीं मिली. तब उन्होंने राजाओं तथा सरदारों में से कुछ को तो क्षत्रिय बना दिया तथा कुछ को अपने ब्राह्मण वर्ण में ही सम्मिलित कर लिया.

अवश्य ही जो राजा या सरदार ब्राह्मण बने, उन का दरजा मूल ब्राह्मणों

से नीचा था और आर्य ब्राह्मणों ने अपनी घटती हुई संख्या को बढ़ाने के लिए बाध्य हो कर ही ऐसा किया। इन नए ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने अपने राज्यों की प्रजा को परिवर्तित करने में बहुत हाथ बंटाया।

आ. वर्णव्यवस्था का विस्तार : तमिल समाज में पहले जातियां नहीं थीं। वर्ग अवश्य थे, जिन की संख्या सात थी तथा जो पर्वत, वन, घाटी, मरुभूमि तथा समुद्र-वर्ती प्रदेश के वासियों के द्वारा मान्य थे। ब्राह्मणों ने इन वर्गों को वर्णों के अनुसार विभाजित करना शुरू किया। परिवार वर्ग के लोगों को उन्होंने ब्राह्मण वर्ग में ही सम्मिलित किया, क्योंकि ये लोग बुद्धि-जीवी थे, लेकिन जब उन्होंने वेल्लालों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया, तब उन्हें तीव्र प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। चेर, चोल तथा पांड्य राज्यों में वेल्लाल अत्यंत प्रमुख थे। वे भूस्वामी, कृषक और सरदार थे। मलाबार के नायरों ने भी इन प्रयासों का तीव्र प्रतिरोध किया।

इन वर्गों की शक्ति क्षीण करने के लिए ब्राह्मणों ने नए उपायों से काम लिया, जैसे नायरों के संबंध में उन्होंने यह नियम बना दिया कि उन की स्त्रियां नंबूदिरी ब्राह्मणों के साथ विवाह तो करेंगी, परंतु उन की संतानें नायर ही मानी जाएंगी। इसी प्रकार संभवतः उन्होंने वेल्लालों को भी अपने नियंत्रण में किया तथा अंत में उन्हें शाकाहारी तक बना दिया। इन वर्गों को उन्होंने क्षत्रिय इसलिए नहीं बनाया कि कहीं ये शक्तिशाली बन कर उन पर ही न छा जाएं तथा इस प्रकार अंततः उन के ही विनाश का कारण बनें। इस कारण उन्होंने उन्हें शूद्र घोषित कर दिया, परंतु उन की सामाजिक प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों बनी रहने दी।

इ. आर्य देवीदेवताओं का प्रसार : डाक्टर भारती के अनुसार तमिल देवी-देवताओं, नदियों तथा नगरों को आर्य नाम दिए गए। प्राचीन मुरुगन देवता सुब्रह्मण्य हो गया, अर्ध्वे दुर्गा या पार्वती

हो गईं, मेयन को, सूर्य तथा माल को विष्णु कहा जाने लगा। वन कांडु (श्वेत वन) को श्वेतारण्यम कहने लगे तथा तनपोरुने को ताम्रपर्णी नाम दिया गया। प्रसिद्ध कावेरी नदी को दक्षिण गंगा बना दिया गया। इसी प्रकार पांड्य वंश का संबंध पांडवों से जोड़ दिया गया। अग्रतियन को, जो अरिवारों में कोई संत रहे होंगे, अग्रस्त्य ऋषि बना दिया गया। इन अग्रस्त्य ऋषि के साथ कालांतर में अनेक कथाएं भी जोड़ दी गईं। द्रविड़ देवियों का आर्य देवताओं से विवाह करा दिया गया, जैसे मदुरै की मीनाक्षी का विवाह शिव के साथ हो गया। बाद में आर्य तथा द्रविड़ देवीदेवता आपस में इतने ज्यादा घुलमिल गए कि अब उन्हें एक दूसरे से अलग कर के देख पाना भी कठिन हो गया। छोटे स्थानों के करुप्पन, मरियम्मन, ऐयनर आदि देवीदेवताओं को छोड़ दिया गया तथा उन के नामादि परिवर्तित नहीं किए गए। इसी प्रकार नगर, ग्राम आदि के नामों में भी बहुत ज्यादा हेरफेर नहीं किया गया। शायद इसलिए कि कहीं सीमा से ज्यादा हस्तक्षेप जनता को क्षुब्ध न कर दे।

ई. कर्मकांड का विकास और विस्तार : देवीदेवताओं में परिवर्तन कर चुकने के पश्चात ब्राह्मणों ने उन के पूजनादि तथा कर्मकांड का विस्तार करना आरंभ किया। इस से पूर्व दक्षिण भारतीयों की पूजनविधि बहुत सादी और सरल थी, परंतु ब्राह्मण धर्मशास्त्र से संयुक्त हो कर वह जटिल तथा विस्तृत हो गई। ब्राह्मणों ने उसे कला तथा आचार की अंतिम सीमा तक विकसित किया। नृत्य, संगीत, शिल्प, वास्तु, काव्य आदि सभी कलाओं की आशातीत उन्नति हुई, क्योंकि इन सब के साथ ही देवता का पूजन किया जाता था।

इतिहासकारों के अनुसार मंदिर बना कर धूप, दीप, पुष्प आदि से पूजन करने की विधि मूलतः द्रविड़ है, परंतु पहले यह सरल थी। ब्राह्मणों ने ही इस की सीमाओं को बढ़ाया। आज भी ये सब कलाएं

ब्राह्मणों की ही एकाधिकृत संपत्ति है.

उ. सहायक संत परंपरा का उदय : निम्न वर्गों में ब्राह्मण धर्म की स्थापना की प्रतिक्रिया यह हुई कि उन में से भी अनेक उच्च कौटि के संत तथा भक्त उत्पन्न होने लगे, जिन का उद्देश्य विशेष रूप से निम्न वर्गों की आध्यात्मिक क्षुधा को तृप्त करना था. ये संत अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण धर्म के प्रसार में सहायक होते थे. इन में से जिन्होंने शिव को देवता माना, वे नायनार कहलाए तथा जिन्होंने विष्णु को देवता माना वे आलवार. इन की संख्या बहुत थी तथा इन्होंने न केवल दक्षिण भारत के जनमन को ही अत्यधिक प्रभावित किया, अपितु उत्तर भारत को भी भक्ति की शिक्षा दी. आचार में ब्राह्मणों से श्रेष्ठ होते हुए भी ये शूद्र ही बने रहे, परंतु इन्होंने विपुल धार्मिक साहित्य का निर्माण किया.

ऊ. भाषा का संस्कृतीकरण : आर्य भाषा संस्कृत का प्रसार इस प्रक्रिया का सब से प्रमुख अंग रहा. दक्षिण भारत की भाषाएं आर्य भाषा से एकदम भिन्न होने पर भी कालांतर में संस्कृत से इतनी अधिक प्रभावित हुई कि उन्होंने अपने भीतर संस्कृत के विपुल शब्द तथा वाक्यादि समा लिए. मलयालम तथा तेलगू में संस्कृत शब्द पचहत्तर या अस्सी प्रतिशत तक पाए जाते हैं, जब कि उत्तर भारत की हिंदी, बंगला, मराठी आदि भाषाओं में, जो मूलतः संस्कृत से ही उत्पन्न हैं, उन का अनुपात बहुत कम है. ऐसा नहीं कि संस्कृत ने दक्षिणी भाषाओं को केवल दिया ही दिया, उन से लिया कुछ भी नहीं. वास्तविकता यह है कि संस्कृत तथा प्राकृत ने भी द्रविड़ भाषाओं से बहुत से शब्द तथा वाक्यरचना आदि के नियम ग्रहण किए.

संस्कृत भाषा की विजय बुंदुभी

इतिहासकारों का अनुमान है कि

प्राचीन ग्रंथों में जिस भाषा को पैशाची कहा गया है तथा जो अन्य प्रदेशों के अतिरिक्त दक्षिण में भी प्रचलित रही, वह यह आदि द्रविड़ भाषा ही थी. संस्कृत से जब इस का संपर्क हुआ, तब दोनों एकदूसरे के गुणों से प्रभावित हुई और दोनों ओर से आदान-प्रदान आरंभ हुआ. पैशाची से संस्कृत बाजी इसलिए मार गई कि वह ब्राह्मणों के विजय अभियान की वाहिका थी.

संस्कृत का प्रयोग सर्वप्रथम मंदिरों में किया गया. देवपूजा के समय पुरोहित अपने मंत्र तथा स्तोत्र गाते थे तथा दक्षिण भारत की सरल भाषाओं के सामने उन की भाषा के कर्णमधुर तथा भावप्रवण शब्द जनता को बहुत प्रभावित करते थे. मंदिरों में प्रयुक्त होने के कारण इस भाषा को एक प्रकार की प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो गई, जो इस के प्रसार में बहुत सहायक हुई.

बाद में संस्कृत ने अन्य शास्त्रों में भी प्रवेश किया. विभिन्न आचार्यों ने दार्शनिक विवेचन तथा ग्रंथ रचना की जो परंपरा आरंभ की तथा शंकर से उत्पन्न हो कर रामानुज, निंबार्क, वल्लभ आदि द्वारा संपूर्ण भारत में छा गई, वह भी संस्कृत के ही माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत की गई. अब्राह्मण संतों के तमिल में लिखे गए ग्रंथ भी संस्कृत में अनूदित किए गए. इस का प्रमुख उदाहरण नम्माळ्वार में देखा जा सकता है. उन की प्रसिद्ध रचना थिरुवैमोलि का प्रत्येक शब्द पूर्ण परोक्षण के बाद संस्कृत में अनूदित किया गया. उस को द्रमिडोपनिषद कर दिया गया. यही नहीं, उन के अन्य ग्रंथों को वेद मान लिया गया—जैसे थिरुविरुदम को ऋग्वेद, थिरुवैमोलि को सामवेद, थिरुवाचिरियम को यजुर्वेद तथा पेरिय-थिरुवंददि को अथर्ववेद.

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि रामानुज जैसों को, जो मूलतः तमिल थे, शंकर की भांति स्वतः संस्कृत का ही लेखक बनना पड़ा. यदि वे ऐसा न करते,

तो प्रसिद्ध होने पर ब्राह्मण ही उन की रचनाओं को संस्कृत में ग्रहण कर लेते. ब्राह्मण किसी भी प्रतिभा को अपने प्रभाव से स्वतंत्र नहीं रहने देना चाहते थे, इसी लिए उन्होंने भी यह युक्ति अपनाई थी.

स्थिति परिवर्तित हो रही है

टायनबी का कहना है कि किसी समाज की प्रगति और विकास के कारण उस के कुछ व्यक्ति या अल्पसंख्यक समुदाय ही हुग्रा करते हैं. इस दृष्टि से ब्राह्मण भारतीय समाज तथा संस्कृति का वह अल्पसंख्यक समुदाय रहा है, जिस ने उस समाज की रचना तथा क्रिया में लगभग शतप्रतिशत हाथ बंटाया. वे ही शक्ति के स्रोत रहे, उन्हीं से ज्ञान की धाराएं फूटीं तथा उन्होंने ही व्यवस्था का

नियमन और संभालन किया. इस देश के इतिहास में शताब्दियों तक उन्होंने यह कार्य संपन्न किया, परंतु वर्तमान काल में उन की यह महत्ता नष्ट हो चुकी है. अब न तो उन के पास वे अधिकार हैं, न वह जातिव्यवस्था है और न उन द्वारा प्रसारित धर्म और भाषा को ही वह प्रतिष्ठा प्राप्त है. अंगरेजों के आक्रमण के पश्चात् से सब कुछ परिवर्तित हो रहा है.

नई परिस्थितियों में ब्राह्मण अपना स्थान नहीं खोज पा रहा है. अन्य वर्गों तथा व्यक्तियों के साथ समान रूप से खड़े हो कर योग्यता के आधार पर ही उसे आगे बढ़ना पड़ता है. वह अभी एकदम टूटा नहीं है और संघर्ष कर के अपनी पूर्वकालीन महत्ता को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है. उसे सफलता मिल सकेगी या नहीं, इस का उत्तर तो समय ही देगा.

ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ होता है. वह सब प्राणियों का ईश्वर है और धर्म के खजाने का रक्षक है. इस जगत में जो कुछ संपत्ति है, वह सब ब्राह्मण की ही निजी संपत्ति है. अपने उत्तम जन्म के कारण ब्राह्मण सकल संपत्तियों के पाने के योग्य है. ब्राह्मण यदि

पराया अन्न खाता है, पराया वस्त्र पहनता है और पराए का धन ले कर दूसरों को देता है, तो वे सब उस के ही अन्नादि हैं, क्योंकि अन्य सब लोग ब्राह्मण की दया से ही भोजन आदि पाते हैं. (मनुस्मृति, 1,99-101)

• • •

हिंदू धर्म

सत्यभवत

हिंदू समाज के लिए हिंदू धर्म है, हिंदू धर्म के लिए हिंदू समाज नहीं

हिंदू धर्म संसार का सब से विशाल धर्म है। अनेक तरह के दर्शन, सैकड़ों तरह के विधान, सैकड़ों देवता इस में सम्मिलित हुए हैं। कुछ का समन्वय भी हुआ है। इस में कर्मयोग का सुंदर संदेश है। अनेक चरित्रों के आदर्श पाए जाते हैं। भक्ति व संन्यास की चरम सीमा पर पहुंचे हुए व्यक्तियों के चरित्र भी हैं। देवी के आगे बकरे काटने से ले कर ऊंची से ऊंची समाधि तक, सभी तरह के क्रियाकांड हैं। हिंदू धर्म में वैदिक धर्म, अनायाँ के धर्म तथा श्रमणों के धर्मों का संग्रह हुआ है। इस धर्म ने आर्या व अनायाँ को सभ्यता तथा धर्मों का समन्वय कर के, एक विशाल राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण कर के राष्ट्र को एकात्म बनाने का महान कार्य किया है। हिंदू धर्म की सेवाएं महान हैं। आचार-विचार की दृष्टि से इतना व्यापक धर्म संसार में दूसरा नहीं है।

परंतु जो इस का गुण था, वह इस का दोष भी बना है। साथ ही इस की कुछ मुख्य बातें ऐसी हैं, जो बड़ी अनर्थकारी हैं। हिंदू धर्म युगयुग में कायाकल्प करते हुए काफी लंबे समय तक जीता रहा है, पर अब कायाकल्प करने की क्षमता उस में नहीं रह गई है। वह मृत तो हो ही गया है, साथ ही उस का शरीर सड़ गया है। आज के विकसित युग के लायक वह पथप्रदर्शन करने में असमर्थ है और गुमराह भी करता है। इस दृष्टि से उस

के कुछ पहलुओं पर यहां विचार किया जा रहा है।

वर्णव्यवस्था

जब कोई समाज विशाल और विकसित हो जाता है, तब उस में कार्य विभाग करना ही पड़ता है। जंगली युग में कुटुंब स्वयं में पूर्ण होते हैं। अपना अन्न पैदा कर लिया, अपना सूत कात लिया, बुन लिया, झोपड़ी बना ली, इस तरह पूर्ण स्वावलंबन का रूप दिखाई देता है। पर जब यह जंगलीपन निकल जाता है, नाना कलाओं के क्षेत्र में मनुष्य का असाधारण विकास होने लगता है, तब एक ही कुटुंब सब विषयों में चतुर नहीं हो सकता, और स्वावलंबन के स्थान पर परस्परावलंबन से काम लेना पड़ता है। विनियम के आधार पर समाज की आर्थिक व्यवस्था होने लगती है।

इस दृष्टि से हिंदू समाज ने वर्ण-व्यवस्था की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और विविध शूद्र वर्ग में आर्थिक दृष्टि से समाज को बांट दिया। यों हरेक देश में समाज इस तरह के वर्गों में बंटता ही है, पर हिंदू समाज में यह बंटबारा जिस तरह हुआ और जिस तरह बीमारी बना, उस का जोड़ संसार में कहीं नहीं है। संसार में सब जगह एक ही कुटुंब के अनेक व्यक्ति योग्यता और रुचि के भेद से अनेक वर्गों

में चले जाते हैं। इस कारण से उन में ऊंच-नीच का भाव नहीं आता, न ही कौटुंबिकता नष्ट होती है। पर हिंदू धर्म में जातपात के नाम से समाज की और राष्ट्र की चिंदीचिंदी उड़ गई है।

जिस जीविका की व्यवस्था के लिए वर्णभेद बनाया गया था, वह भेद तो कभी का उठ गया पर सारा समाज सैकड़ों टुकड़ियों में छिन्नभिन्न हो कर झूठी उच्चता के धमंड और झूठी नीचता की दीनता से भर गया। इस प्रकार यह शैतानियत और हैवानियत से श्रोतप्रोत हो गया। एक-दूसरे का छूना बंद, आपस का खानपान बंद, परस्पर विवाहशादी बंद—यही बंदा-बंदी हिंदू धर्म का प्रधान रूप बन गई।

वास्तव में हिंदू समाज कोई समाज नहीं है कहने को तो भारत में हिंदू समाज बहुसंख्यक समाज कहलाता है, किंतु यह हजारों अल्पसंख्यक समाजों के ढेर का नाम है। हिंदू पशु के साथ भी उतना भेदभाव नहीं बरतता, जितना दूसरे मनुष्यों के साथ। इस दृष्टि से हिंदू धर्म मानवता के लिए अभिशाप है। यह भेदभाव हिंदू धर्म छोड़े बिना साधारणतः नहीं छूट सकता, विशेष अपवादों की बात दूसरी है। हिंदू बड़ा सुधारक भी हो जाएगा, छुआछूत को मिटा भी देगा, तो भी खानपान का भेद रहेगा ही, कदाचित् पक्के का भेद मिटा देगा, तो कच्चे का भेद रखेगा, होटल में, तीर्थ में या सभासम्मेलनों में भेद मिटा देगा, तो घर के चौके में भेद रहेगा, चौके का भेद मिटा देगा, तो विवाहशादी का भेद रहेगा, कदाचित् शादी का भेद मिटा देगा, तो भी अपनी जातीयता का मोह न छोड़ेगा। इस मामले में वह कोयले के समान है, जो कितना भी धोया जाए, सफेद न होगा, जल कर राख होने पर ही सफेद होगा। हिंदू धर्म में और सब गुण ही गुण होते, सिर्फ जातपात का ही दोष होता, तब भी वह अजायबधर में ही रखने की चीज होता, जीवन के उपयोग की चीज नहीं।

पापोत्तेजक भक्ति
Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य धर्मों के समान हिंदू धर्म में पापोत्तेजक भक्ति की प्रमुखता है, बल्कि यहां उस का समुद्र सा भरा हुआ है। कोई भी पुराण ले लो, सभी जगह यह पाप भरा पड़ा हुआ है। भगवान का नाम लेने से, उस के ध्यान से, उस के गीत गाने से, नामकीर्तन से, उस के आगे नाच करने से, जाप जपने से सब पाप माफ हो जाते हैं, भक्त को विष्णुलोक, शिवलोक, स्वर्गलोक आदि मिल जाते हैं। ऐसे विधान हजारों जगह भरे पड़े हैं। मानों भगवान अपनी चापलूसी कराने को तड़प रहा है। यहां तक कि किसी के मन में भगवान का नाम लेने का विचार तक न हो, किंतु किसी दूसरे आदमी का नाम भगवान सरीखा हो, तो उस आदमी को पुकारने से भी भगवान खुशी के मारे फुदकने लगते हैं और उसे यमलोक न जाने दे कर अपने घर में बुला लेते हैं। अजामिल आदि की ऐसी पापकथाओं से हिंदू धर्म भरा पड़ा है।

इस प्रकार भक्ति के विधानों से कर्म-फल व्यवस्था को चौपट कर दिया गया है। हत्या, चोरी, डकैती, व्यभिचार, झूठ, विश्वासघात आदि कितने भी पाप करो, भगवान का नाम लेने से या जाप जपने से सब माफ हो जाएंगे। ऐसी व्यवस्था में क्या जरूरत है कि ईमानदारी में रहा जाए और वास्तविक धर्म जीवन में उतारा जाए? और यही हो रहा है। कानून का या बदला लेने का जितना डर मनुष्य को है, उतना तो है, पर ईश्वर के कर्मफल की अनिवार्यता से कोई नहीं डरता। ईश्वर के दरबार में तो इतनी रिश्ततखोरी है कि संसार के सारे राज्यों की रिश्ततखोरी मिल कर भी समुद्र के आगे बूंद के समान होगी। इस प्रकार मानव को पाप से डराने की दृष्टि से दूसरे धर्मों के समान हिंदू धर्म भी किसी काम का नहीं। इस के कारण मनुष्य पाप से बचता तो नहीं है, उलटे माफी के भरोसे उत्तेजना पाता है।

अन्य अनेक धर्मों के समान हिंदू धर्म में भी झूठे तपों की भरमार है। अपने और जगत के हित के लिए स्वेच्छा से विवेकपूर्वक कष्ट सहन करना तप है। पर हिंदू धर्म ऐसे झूठे तपों से भरा पड़ा है, जिन में न विवेक है, न अपने और जगत के हित का कोई कार्यकारण भाव है। पंचाग्नि तपना, झाड़ से लटकना, महीनों हाथ ऊंचा कर के उसे अकड़ा लेना, महीनों उपवास करना, ठंडी रातों में नदी में खड़े रहना, कांटों या कीलों पर बैठना, शरीर से खून निकालना, चिमटे से ठोंकठोंक कर पीठ काली कर लेना, रातरात भर जागना आदि झूठे तपों के रूप हैं।

ऐसे तप जितने अंश में दुनिया को ठगने के लिए किए जाते हैं उतने अंश में शैतानियत के रूप हैं, जितने अंश में परमात्मा को ठगने या फुसलाने के लिए किए जाते हैं उतने अंश में हैवानियत के रूप हैं। जो समाज ऐसी झूठी तपस्याओं का भक्त, प्रशंसक, सहायक, उत्तेजक या अनुमोदक बन जाता है, उस समाज में हैवानियत की विशेष मात्रा समझनी चाहिए। धर्म यह है कि अपनी शक्ति, समय और सहिष्णुता का उपयोग दूसरों को लाभ पहुंचाने के लिए किया जाए। पर जहां दूसरों को कोई लाभ नहीं, सिर्फ अपने को ही कष्ट है। वह सिर्फ बरबादी है, पाप है।

एक किसान ठीक ढंग से खेत में बीज न बो कर पत्थरों पर फेंक दे, तो वह त्यागी नहीं, समाज का दुश्मन है क्योंकि जो अन्न किसी के पेट भरने के काम आ सकता था, वह उस ने व्यर्थ नष्ट कर दिया। इसी प्रकार वह झूठा तपस्वी भी समाज का दुश्मन है जो अपनी शक्ति, समय आदि को व्यर्थ बरबाद करता है। जिस का उपयोग समाज हित के लिए हो सकता है, उस को व्यर्थ नष्ट कर जगत का नुकसान करता है। रोग परिचर्या के

परमात्मा के नाम पर रात भर जागा जाए, जिसे रात्रि जागरण की कोई जरूरत नहीं है, तो यह शक्ति का अपव्यय ही है, कुतप है, दंभ है, पाप है। और जब जागरण में चिल्लाचिल्ला कर पड़ोसियों की नींद हराम की जाती है, तब तो पूरा अत्याचार ही हो जाता है।

परमात्मा को लोग अंतर्धामी कहते हैं, न्यायी कहते हैं, परमानंदमय कहते हैं, परमसंपन्न और परमनीरोग कहते हैं, फिर भी उसे जगाने की, जताने की, उस की सेवा करने की, उसे खिलानेपिलाने की, उस से माफ कराने आदि की गुस्ताखी भी करते हैं। इस से बढ़ कर ईश्वर की निंदा और अविश्वास क्या होंगे? ऐसे मूर्खतापूर्ण कष्टों से और दंभपूर्ण क्रिया-कांडों से ईश्वर किसी के चक्कर में नहीं आता, यह सीधी सी बात भी धर्मात्मा कहलाने वालों की समझ नहीं आती। और आए भी कैसे? लोगों ने शास्त्रों में भी तो ऐसी बातें भर दी हैं जिन से धर्म बेंकार या अनर्थकारी बन गया है।

प्रायः सभी पुराण ऐसी व्यर्थ तपस्याओं की कथाओं से भरे पड़े हैं। विष्णु ने तप किया तो शिव का आसन डोला, शिव ने तप किया तो विष्णु का आसन डोला, ध्रुव ने तप किया तो विष्णु दौड़े आए, पार्वती ने तप किया तो शिव दौड़े आए, अदिति ने तप किया तो विष्णु दौड़े आए, अमृक ऋषि ने तप किया तो इंद्रासन डोला, रावण ने तप किया तो शिव ने वरदान दिया। मानों इन भगवानों, देवताओं, ऋषियों और महर्षियों को कार्यकारणभाव का जरा भी विवेक नहीं है कि किसी कल्याण कार्य के लिए विवेकपूर्वक (कार्य-कारण भाव ठीक समझ कर) उचित मात्रा में आवश्यक कष्ट उठाना तप है।

ऐसा मालूम होता है कि बहुत से धर्मों को तप की इस वास्तविक परिभाषा से कोई मतलब नहीं था। इन तपस्याओं के इन विधानों ने, कथाओं ने मानव समाज

को गुमराह कह-दिम है। इनके अन्तर्गत में सेवकान्तुतिनाएकवर्षया कराना यही सूढ़ता काम करती है कि कष्ट देख कर देवता खुश होते हैं और देवताओं की खुशीनाराजगी से सब भलेबुरे काम होते हैं।

प्राचीनतम जंगली युग की ही यह छाप हिंदू धर्म पर पड़ी हुई है। यही कारण है कि आज भी लोग विश्वशांति के नाम पर उपवास करने लगते हैं। जप करने लगते हैं और भी कोई आडंबर ले बैठते हैं। इस से विश्वशांति की दिशा में तो खाफ नहीं होता, इन्हें पूजापाठ से प्रतिष्ठा अवश्य मिल जाती है, पैसा आदि भी मिल जाता है।

इस प्रकार प्रतिष्ठा और धन की ठगी सफल हो जाती है। सफलता का कारण जनता के दिलपर धर्म के नाम पर पड़े हुए अविकसित युग के कुसंस्कार हैं। इसी से शक्ति की, समय की, श्रम की, धन की बरबादी होती रहती है और जगत को कोई लाभ नहीं होता। हिंदू धर्म में इन व्यर्थ की तपस्याओं ने इतनी जगह घेर ली है—शास्त्रों में भी और व्यवहार में भी—कि हिंदू धर्म से इन सब को अलग करना आशक्यप्राय है। इस के लिए हिंदू धर्म के प्रायः सभी शास्त्रों को छोड़ देना पड़ेगा।

ग्रंधविश्वास

हिंदू धर्म की परंपरा बहुत प्राचीन होने से उस में तरहतरह के ग्रंधविश्वास हैं। वे मनुष्य में वैज्ञानिकता पैदा नहीं होने देते, धन की, श्रम की बरबादी कराते हैं तथा योग्य उपायों से वंचित रखते हैं। ग्रंधविश्वासों के बिस्तार से उदाहरण देना तो कठिन है, पर नमूने के रूप में कुछ बातों का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है :

क. श्रमक बीमारी देवताओं के कोप से या कुग्रहों के कारण होती है, इसलिए उस में मातामाई की पूजा करनी चाहिए,

ख. ब्राह्मण को भोजन कराने से वह पितरों को मिलता है, पुत्र श्रमक क्रिया-कर्म न करे, तो पितर तर नहीं सकते आदि ग्रंधविश्वास इस सिद्धांत के विरोधी हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल पाता है। पुरानी अर्थव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणों की जीविका के लिए ये जो विधान बनाए गए थे, उन्होंने मनुष्य के विवेक को ही नष्ट कर दिया और आज अर्थव्यवस्था बदल जाने पर भी वे एक तरह की लूट या ठगी के रूप बने हुए हैं।

ग. पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी हुई है या कछुए की पीठ पर, इस तरह के ग्रंधविश्वास मनुष्य की वैज्ञानिकता की राह में रोड़े अटकाते हैं।

घ. अग्निमा, महिमा आदि सिद्धियों के झूठे विधान और झूठी कथाएं भरी पड़ी हैं, मंत्रतंत्र आदि ने भी जगह घेर ली है। इस से ठगी के कुछ धंधे भी चलते रहते हैं और विज्ञानविरोधी बन कर मनुष्य अपनी मनुष्यता भी खोता है।

ड. भविष्यवाणियों के ग्रंधविश्वास भी काफी हैं। देवकी के पुत्र से कंस का वध होगा—इस भविष्यवाणी ने कंस को प्रेरित किया कि वह अपनी भानजियों को मारता चला जाए। इस से भानजियों से कंस की दुश्मनी हुई, और भानजे ने कंस को मारा। इस प्रकार भविष्यवाणियां हत्या और दुश्मनी को प्रेरित करती हैं, जब कि उन का कोई सच्चा वैज्ञानिक आधार नहीं है और अधिकांश कथाएं झूठी हैं। वे भविष्यवाणियों पर ग्रंधविश्वास पैदा करने के लिए गढ़ी जाती हैं। अगर भविष्यवाणी के अनुसार घटना घटने की

हो भी, तब भी उसे इतना अग्रविश्वास पर वैद्य ने कहा कि हनुमान तो ही सिद्ध होता है। भविष्य अगर खराब बता दिया जाता है तो मनुष्य का साहस, उत्साह, आशा आदि नष्ट हो जाते हैं, यदि अच्छा बता दिया जाता है तो पहले से ही मदांधता और लापरवाही पैदा हो जाती है। इस प्रकार भविष्यवाणियों का अंध-विश्वास झूठा भी है और अनर्थकारी भी।

च. त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, युक्त योगी, युंजान आदि का विवेचन भी ग्रंथश्रद्धापूर्ण है। इन सर्वज्ञ योगियों को उन मामूली बातों का भी पता नहीं था, जिन्हें आज का मामूली विद्यार्थी स्कूलकालिज में पढ़ लेता है। इन सर्वज्ञों की मान्यताओं से हिंदुओं का विकास ही अवरोध हो गया। ये सर्वज्ञ सब कुछ जान चुके थे, इसलिए इन्हें जाननेखोजने को कुछ न रह गया था, जब कि पश्चिम के लोगों ने इतनी खोज की कि हमारे पुराने सर्वज्ञ इस दिशा में बच्चे साबित हुए। हिंदू झूठा धमंड करते रहे, शेखी मारते रहे, पर इन के देखतेदेखते दुनिया आगे बढ़ती रही। सर्वज्ञता की मान्यता मानव विकास की दृष्टि से एक बड़ा भारी अभिशाप है।

छ. हनुमान आदि बंदर थे, वासुकी, तक्षक आदि सांप थे, जांबवान आदि भालू थे आदि अंधविश्वास भी ढेरों हैं। सोचने की बात है कि सांप से मनुष्य की शादी कैसे होगी? जानवर आदमी की भाषा में बातचीत कैसे कर सकते हैं? आजकल जैसे किसी राष्ट्र को सिंह, किसी को भालू आदि कहने का रिवाज है, उसी तरह पुराने जमाने में भी था। पर इस से उन्हें शेर या भालू समझना भोलेपन की चरम सीमा है। पर हिंदू धर्म में ये अंध-विश्वास धार्मिकता के अंग बने हुए हैं और उस की हंसी उड़वाते हैं।

ज. श्रीकृष्ण ने उंगली पर पहाड़ उठा लिया, हनुमान पहाड़ का पहाड़ उठा कर उड़े आदि लक्षणा रूप में कहे गए वाक्य बिलकुल अभिधा बन गए हैं। जहरत से ज्यादा दवा का गट्ठर बांध कर ले जाने

पहाड़ का पहाड़ उठा लाए।” तो इस से सचमुच पहाड़ उठाने की बात समझ लेना भोलेपन की चरम सीमा है। सास के मरने पर यह कहा जाए कि बहू ने सारा घर सिर पर उठा लिया है और उस का कोई यह अर्थ समझे कि बहू के सिर पर फरश, दीवारें और छप्पर हैं, ऐसा ही भोलापन यह है।

हिंदू शास्त्रों में ऐसे हजारों वर्णन हैं, जो पहले आलंकारिक भाषा में कहे गए थे, पर जिन की अलंकारिता नष्ट हो चुकी है और अब उन्हें अभिधेय अर्थ में मान लिया गया है। शास्त्रों तक में उन का वर्णन अभिधेय अर्थ में किया गया है। इस प्रकार अंधविश्वास की जड़ें खूब गहरी हो गई हैं, जो पुरखों के नाम का झूठा धमंड तथा अपनी अवस्था का झूठा दंभ पैदा करती हैं।

झ. मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि के चरित्र की गप्पें भी झूठी, अर्धज्ञानिक और हास्यास्पद हैं। इन के नाम पर भी ठग लोगों का धधा चलता है।

ञा. हनुमान ने सूर्य निगल लिया, राहु-केतु, सूर्य, चंद्र को निगल जाते हैं आदि हास्यास्पद वर्णन भी भरे पड़े हैं। पृथ्वी से 13 लाख गुना सूर्य और इतना गरम कि उस के पास जाते ही पृथ्वी राख हो न बन जाएगी, किंतु धुआं बन कर उड़ जाएगी, उसे कोई हनुमान या कोई दैत्य निगल सकता है, ऐसी मान्यता को असीम मूर्खता ही कहना चाहिए।

इस तरह हिंदू धर्म में और संकल्पों तरह के असंख्य अंधविश्वास हैं, जिन से यह धर्म भी विज्ञानविरुद्ध बन गया है और अकल्याणकारी भी।

अवतारवाद

अवतारवाद के नाम पर ईश्वर की बड़ी बुद्धि हुई है। मनुष्य को ईश्वर ही मान लिया गया है, यहां तक की मछली, कछुआ, शूकर आदि के रूप में भी ईश्वर

के अवतार मान लिए जाते हैं। पृथ्वी के करोड़ों गुना यह सौर जगत और ऐसे अरबों-खरबों सौर जगत्‌ों का यह ब्रह्मांड, उस को संचालित करने वाला और उस की व्यवस्था करने वाला ईश्वर पृथ्वी पर एक प्राणी के शरीर में बंध जाता है, इस से बढ़ कर ईश्वर की विडंबना क्या होगी? फिर मनुष्य भी ऐसा, जिस का चरित्र अनेक दोषों से भरा है और वह बहुत सी बातों में असमर्थ है।

अनायों को निरपराध ही जिंदा जलाने वाले, द्वारका की रक्षा न कर सकने वाले और शिकारी के बाण से मरने वाले श्रीकृष्ण ईश्वर थे। शूर्पणखा की नाक कटवाने वाले, तपस्वी शूद्र का वध करने वाले, बालि को धोखे से मारने वाले, साधकावस्था में बैठे हुए इंद्रजीत का वध करने वाले, निरपराध सीता को निकाल देने वाले, सरयू में डूब कर मरने वाले रामचंद्रजी ईश्वर थे।

ये सब बातें ईश्वर का बहुत भद्दा मजाक हैं। जो पृथ्वी ब्रह्मांड के भीतर समुद्र में बूंद के समान भी नहीं है, उस पर रेंगने वाले कुछ प्राणियों को ईश्वर कह देना भोलेपन की सीमा है।

राम, कृष्ण आदि का जीवन अनेक दोषों और त्रुटियों से परिपूर्ण होने पर भी हमारा वर्ष पुराने सामंतवादी अविकसित युग को देखते हुए महान था, वंदनीय था। यह एक बात है, और उन्हें ईश्वर मान लेना और ईश्वर मान कर उन की पूजा-भक्ति करना बिल्कुल दूसरी बात। और उस समय तो हंसी और दुःख का पार नहीं रहता, जब तुलसीदासजी रामचंद्र पर कोटिकोटि विष्णु निठावर करते हैं और एक आधुनिक महाकवि कहते हैं : "राम, यदि तुम ईश्वर नहीं हो, तो मैं निरीश्वरवादी हूँ। ईश्वर मुझे क्षमा करे।"

कोई भी विकसित धर्म या विकसित समाज ईश्वर को ऐसी विडंबना नहीं कर सकता, इसलिए अवतार शब्द का यही अर्थ करना चाहिए कि जिस मनुष्य में

जातीयता

हिंदू धर्म में कहींकहीं मानवता के तथा विश्वबंधुत्व के बीज आ गए हैं, फिर भी यह उस युग का धर्म है, जब मानवता का उदय नहीं हुआ था। व्यवहार में उदारता की सीमा अपनी जाति थी। इस प्रकार यह हजरत मुसा के धर्म सरीखा अनुदार है। न्याय, ईमानदारी आदि के नियम मुख्य रूप में अपनी जाति के क्षेत्र में ही सीमित थे। जाति के बाहर सब अनीति, अत्याचार आदि क्षम्य माने जाते थे। मानवता की दृष्टि से विचारव्यवहार नहीं किया जाता था। यही कारण है कि रामरावण युद्ध में किसी मर्यादा का पालन नहीं किया गया था। रामचंद्रजी सरीखे मर्यादापुरुषोत्तम सिर्फ आर्यों के लिए मर्यादापुरुषोत्तम थे, अनायों के लिए नहीं। यही हाल श्रीकृष्ण का था।

हिंदू पुराण आर्यों अनायों के द्वंद्वों से भरे पड़े हैं। हिंदुओं पर मुसलमानों की तरह अनायों पर आर्य लोग आक्रामक थे। आक्रामक अन्यायी होता है, पर विजयी होने से आर्यों ने अनायों को निंदनीय बताया। प्रह्लाद को जाल में फंसा कर उस के पिता हिरण्यकशिपु का धोखे से वध कराया गया। बलि के साथ विश्वासघात कर के उसे राज्य से भ्रष्ट किया गया। नाग जाति के हजारों लोगों को जिंदा जला दिया गया। अनाय सभ्राट रावण की बहन की नाक काट कर घोर असभ्यता का परिचय दिया गया। बालि को छिप कर धोखे से मारा गया। अधिकांश अनायों को शूद्र ठहरा कर उन पर अत्याचार किए गए। शूद्र के तप करने पर उस की गरदन काट दी गई। अनाय अगर धनुर्धर हो गया

तो उस के हाथ का अंगूठा काट लिया गया। इस तरह के अश्वमेध कार्यक्रम केवल लोग वंदनीय, पूजनीय श्रेणी में हैं। इस से मालूम होता है कि हिंदू धर्म की नींव में किस प्रकार की संकुचित जातीयता भरी पड़ी है, जो मानवता से कोसों दूर है। ऐसी संकुचितता इस विकसित युग में अत्यंत निंदनीय और त्याज्य है।

साम्राज्यवाद

हिंदू धर्म पर सामंतवाद की छाप ही नहीं है, अपितु वह मुख्य रूप से सामंतों का ही धर्म है। युद्ध और विजय उस के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम हैं। उस के पुराण अश्वमेध यज्ञों, राजसूय यज्ञों, अनायों पर दिग्विजयों से भरे पड़े हैं। एक राजा शक्तिशाली हो जाता है और यज्ञ का घोड़ा छोड़ देता है। जिसजिस राजा के राज्य में वह जाता है, उसे अधीन कर लिया जाता है, कोई इस में बाधा डाले तो उसे नष्ट कर दिया जाता है। वर्षा ऋतु बीगती है, यातायात की सुविधा हो जाती है, दशहरा आता है और युद्धों की शुरुआत हो जाती है। हरेक गांव वाला राजा दलबल सहित निकल कर सीमोल्लंघन करता है, दूसरे राज्यों में लूट मचता है। लूट का माल बड़ेबूढ़ों और देवताओं को भेंट करता है। यद्यपि परिस्थिति बदल जाने से अब अश्वमेध यज्ञ नहीं होता, परंतु वे शास्त्र आज भी श्रद्धेय बने हुए हैं, जिन से शांति और न्याय ही नहीं, किंतु युद्ध, विजय और साम्राज्यवाद की प्रेरणा मिलती है। ऐसे शास्त्र आज के युग में किस काम के हैं?

न्याय के नहीं, विजय के गीत

हिंदू धर्म की जागडोर जिन ब्राह्मणों के हाथ में थी, वे राजाश्रित होते थे, इसलिए जो राजा जीतता था, उसी के गीत गाने लगते थे। महाभारत में पांडव जीते,

कौरव हारे, इसलिए पांडवों का पक्ष धर्म-पक्ष ही मिला, अर्थात् यह युद्ध था। दोनों पक्ष स्वार्थी थे। झगड़े का बीज द्रौपदी ने बोया था, जब उस ने दुर्योधन वगैरा का मजाक उड़ाया था कि अंधे बाप के बेटे अंधे ही होते हैं। फिर दुर्योधन ने जुआरी युधिष्ठिर को जीता और द्रौपदी को भी। सब कुछ हार जाने पर भी राज्य की मांग, और युद्ध। इस के बाद युद्ध में भीष्म और द्रोणाचार्य का छल से वध। इन सब बातों से महाभारत में धर्मअधर्म का सवाल नहीं था, बल्कि अधर्म कुछ पांडवों की तरफ ही ज्यादा था। यही कारण है कि भीष्म और द्रोण सरीखे गुरुजन कौरवों के पक्ष में लड़े, भले ही युद्ध के समय युधिष्ठिर ने अपनी चापलूसी से भीष्म का मन अपनी तरफ खींच लिया हो। यह निश्चित है कि कौरव जीतते, तो ब्राह्मणों ने पांडवों के दोषों को ले कर उन की घोर निंदा की होती और कौरवों के खूब गीत गाए होते। ब्राह्मणों में न्यायनिष्ठा नहीं, विजयनिष्ठा थी।

हिरण्यकशिपु, बलि, रावण, वृत्रासुर आदि तो अनार्य थे, इसलिए उन के साथ जो अन्याय किए गए, उन की तो परवा ही क्या थी, पर आर्यों के साथ व्यवहार में भी न्यायनिष्ठा नहीं, विजयनिष्ठा ही दिखाई देती है।

ईश्वर की विडंबना

हिंदू धर्म ईश्वरवादी है, और ईश्वर के भिन्नभिन्न रूपों का कुछ समन्वय भी हुआ है। परंतु ईश्वर की या ईश्वरों की जैसी दुर्दशा उस में हुई है, उस से ईश्वर का न होना ही अच्छा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों ही ईश्वर हैं, परंतु आपस में लड़ते हैं। कभी ब्रह्माविष्णु लड़ते हैं और शिव के पास जाते हैं और शिव उन्हें नीचा दिखाते हैं, कभी शिवविष्णु की लड़ाई होती है, कभी शिव को नीचा दिखाया जाता है, कभी विष्णु को।

इस प्रकार ८० ईश्वरों को प्रार्थना की अपेक्षा द्वंद्व ही ज्यादा दिखाई देता है फिर इन ईश्वरों या देवताओं को मूर्ख भी खूब बनाया गया है। बिना आगापीछा सोचे कभी ब्रह्माजी वरदान दे देते हैं, कभी शिवजी, और फिर परेशानी उठानी पड़ती है। शिवजी ने भस्माशुर को वरदान दे दिया और खुद ही उस के शिकार हो गए। त्रिकालज्ञता की तो बात दूर, साधारण आदमी जैसी दूरदर्शिता भी नहीं! यमराज सावित्री की बात मान कर सत्यवान को जीवनदान देने के लिए तैयार न थे, किंतु सावित्री के चक्रे में आ कर ऐसा वरदान दे बैठे कि उन्हें सत्यवान को जीवन बचना पड़ा। देवता हो कर भी इतने मूर्ख कि एक नारी ही उन्हें छका दे!

फिर इन देवताओं को न्यायअन्याय की कोई परवा नहीं। जो इन की चापलूसी करे, उसी को यह बिना विचारे वरदान देने को तैयार! भले ही फिर न्याय की कंसी भी दुर्दशा क्यों न हो।

मतलब यह कि ईश्वरवाद का लक्ष्य ही नष्ट हो गया और ईश्वर की महत्ता की भी चिर्दार्चिदी उड़ गई। जिस कर्मफल की व्यवस्था के लिए ईश्वरवाद है, उस की काफी दुर्दशा हो गई है।

यद्यपि वैदिक युग के हिंसक यज्ञकांड अब व्यवहार में नहीं रहे हैं, पर उन के विषय में श्रद्धा अभी भी है। रामचंद्रजी के अश्वमेध आदि के वर्णन आज भी श्रद्धा से पढ़े जाते हैं। यज्ञहोम पर अंधश्रद्धा आज भी है। वैदिक युग में आर्य लोग मांसभक्षी थे और जानवरों को आग में भून कर खाते थे। उस समय अग्नि का यही उपयोग था। पर आज आग में घी शक्कर आदि भूनने की क्रिया की जाती है। इस नकल को मूढ़ता की चरम सीमा कहना चाहिए। घी आज इतना दुर्लभ है, अन्य खाद्य सामग्री का भी रोना है, तब यज्ञहोम के अंधविश्वास के कारण उन्हें आग में झोंकना घोर अनर्थ करना है।

उदारता में ऐसे रूप पेश कर दिए

जो बिना भ्रम, अंधाकार, मूढ़तापूर्ण तथा दुस्वार्थपूर्ण हैं। ब्राह्मणों को दान भर-पूर मिलता रहे और इच्छानुसार हर चीज मिलती रहे, इस के लिए ये झूठी और अनर्थकारी कहानियां गढ़ कर अंत में उन का झूठा सुफल बताया गया है। हरिश्चंद्र को दान देने का स्वप्न आ गया। इसी पर उस ने विश्वामित्र को सारा राज्य दे डाला और दक्षिणा में खुद एक चांडाल के पास बिक कर गुलाम बन गया। अपनी पत्नी और बच्चे को भी बेच दिया। अतिथि के द्वारा लड़के का खून मांगे जाने पर मांबाप ने स्वयं आरे से अपने लड़के को चीरा। इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण दान अत्यंत निंदनीय हैं। निस्संदेह अब ऐसी मूर्खता करता कोई नहीं है, परंतु ऐसी कथाओं के गीत गाए ही जाते हैं। यह भी काफी बड़ा पाप है।

मूढ़तापूर्ण मूर्तिपूजा

हिंदू धर्म में मूर्तिपूजा बहुत मूढ़तापूर्ण है। मूर्ति इसलिए बनाई जाती है कि उस की श्रद्धाति देख कर किसी देव या देवोपम व्यक्ति की स्मृति हो, उस के गुणों का चिंतन हो। राम, कृष्ण, विष्णु आदि की मूर्तियां इस ढंग से बनती भी हैं। परंतु अधिकांश मूर्तियां व्यर्थ या अनर्थकारी हैं। शिर्वालिग बहुत बीभत्स, बंदर सरीखे हनुमान, हाथी सरीखे गणेश बिलकुल अस्व-भाविक और मूर्खतापूर्ण लगते हैं। आंवला, बड़, तुलसी आदि के झाड़ों का पूजन भी जंगली युग की मूढ़ता की निशानी है। बिना समझे पत्थर रख कर सिंदूर पोत कर पूजने लगना भी जंगलीपन है। कहींकहीं मूर्तिपूजा की जड़ता इतनी तीव्र है कि मूर्ति को ही देवता मान लिया जाता है। जगन्नाथपुरी आदि की अधबनी मूर्तियों का ही बड़ा माहात्म्य है। मूर्तियों में ही चमत्कार मान लिए गए हैं। इस प्रकार मूर्तिपूजा मूर्ति के द्वारा ईश्वरपूजा नहीं, किंतु मूर्ति की ही पूजा बन गई है।

हिंदू धर्म को कुछ इसी तरह भी कि फिर वेता आया, फिर दापर, फिर कलि-युग, इस प्रकार समाज पातित हो जाता है। धर्म पहले चार पाद था, अब एक पाद ही है। संसार का हर तरह से विकास हो रहा है, पर हिंदू धर्म पतन के ही स्वप्न देखता है। यह पतनशीलता मिथ्या तो है ही, अकल्याणकारी भी है। इस से उन्नाति की आशा नष्ट होती है, पतन की लज्जा चली जाती है। पुराने युग में जैसा सामंतवाद था, जैसी दास प्रथा थी, स्त्रियों के अधिकार जिस प्रकार न्यून थे, शूद्र आदि जिस प्रकार मनुष्योचित अधिकारों से वंचित थे, उस की अपेक्षा हम सभ्यता, संस्कृति, आदि में बढ़ेचढ़े हैं—यह बात साफ है। विज्ञान, शिक्षणप्रसार आदि का विकास तो स्पष्ट है ही।

निश्चित कार्यक्रम का अभाव

किसी धर्म को मानने का मतलब यह है कि जीवन का एक ऐसा कार्यक्रम मिले, जिस से मनुष्य का कल्याण हो, पर हिंदू का कोई कार्यक्रम नहीं है। शैव, देवणव, शाक्तों के परस्पर विरोधी कार्यक्रम तो हैं, पर साधारण हिंदू को, जो इन सांप्रदायिक भेदों की उपेक्षा करता है, कोई मार्गदर्शक नहीं मिलता। हिंदू शास्त्र परस्पर विरोधी विधानों से भरे पड़े हैं। जिस को जो करना हो, उस को उसी के अनुरूप विधान मिल जाएंगे।

भिन्नभिन्न ग्रंथों में ही नहीं, एक ही ग्रंथ में, अप्रसिद्ध ग्रंथों में ही नहीं, प्रसिद्ध ग्रंथों में भी—भगवद्गीता सरीखे मुख्य और छोटे से ग्रंथ में भी—परस्पर विरोधी बातें भरी पड़ी हैं। यों तो गीता कर्मयोग का संदेश देती है, परंतु 'सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः' आदि वाक्यों से अकर्मण्यता भी ध्वनित होती है। 'दुराचारी भी मुझे भजे, तो वह साधु ही है,' इस प्रकार के वाक्यों से लोग पाप की तरफ से निश्चित हो भजन में लीन हो कर जगत को नरक बनाते हैं। हिंदू धर्म हजारों वर्ष तक बड़े अव्यवस्थित ढंग से बनता रहा, इसलिए उस में इतना अधिक कचरा और विष तक मिल गए हैं कि जीवन के लिए उपयोगी ही नहीं रह गया है।

पतनशीलता

हिंदू धर्म अन्य धर्मों के समान जगत को पतनशील मानता है। पहले सतयुग था,

अनर्थकारी साधु

यद्यपि मूल में हिंदू साधुसंस्था जनसेवी साधुसंस्था थी, विद्वान, ब्राह्मण और ऋषि आदि ही इस के साधु थे, परंतु चार आश्रमों की व्यवस्था के कारण और व्यर्थ के तपों के विधान के कारण वानप्रस्थ और संन्यास के नाम पर जो साधुसंस्था खड़ी हो गई, वह घोर निवृत्तिवादी बन गई। फिर श्रमणों का जोर बढ़ने पर हिंदू धर्म में अकर्मण्य साधुओं का ज्वार हो आ गया। त्याग, तप, भक्ति आदि के नाम पर लाखों भिखारी साधु बन गए, जो जनसेवा की कोई जिम्मेदारी नहीं लिए हैं और निकम्मे होने के कारण अनेक दुराचारों के घर बन गए हैं। ऐसे साधुओं के लिए शास्त्रों का आधार भी मिल ही जाता है, इसलिए राष्ट्र के ऊपर बड़े से बड़े बोझ के समान यह साधुसंस्था सुधर नहीं पाती।

हिंदू धर्म अब युगबाह्य और निष्प्राण हो गया है—इस बात को समझने के लिए इतना विवेचन काफी है। हिंदू धर्म में जो दोष हैं, त्रुटियां हैं, वे पुराने युग की अविकसितता को देखते हुए स्वाभाविक हैं, इसलिए क्षंतव्य है। हजारों वर्ष काम करने

मृत है, तो इस में उस का कोई अपराध नहीं है। हर संस्था की, हर चीज की एक उमर होती है। उमर पूरी होना कोई अपराध नहीं है। जीवन के हर क्षेत्र में विकास हो रहा है, इसलिए धर्म में भी विकास की जरूरत है। मानव समाज के लिए धर्म है, धर्म के लिए मानव समाज नहीं है। धर्म को वंसा ही विकसित रूप दिया जाना चाहिए, जिस में मानव समाज की अधिक

हमें राम, कृष्ण आदि महामानवों का सम्मान सुरक्षित रखना है, ईश्वर को नाना रूपों में समझने का जो हिंदू रूप है, उस का भी सदुपयोग करना है, हजारों वर्षों में जिस विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है, उस का अध्ययन इतिहास की दृष्टि से तो करना ही है, साथ ही उस का सार व हितकारी रूप निकाल कर चरित्र निर्माण में भी सहायता लेनी है।

संस्कृत

भगवान दीन

भाषा नहीं, सत्ता हासिल करने का एक साधन

संस्कृत शब्द से स्पष्ट है कि वह कोई भाषा नहीं है। लेकिन उस में ग्रंथ हैं, उस में गंदे से गंदा और अच्छे से अच्छा साहित्य है। फिर यह किस आधार पर कहा जाता है कि वह भाषा नहीं है? शंका दुर्लभ है। इस का उत्तर यह है कि हम भाषा उसी को मानते हैं, जो कहीं न कहीं बोली जाती हो और संस्कृत कहीं नहीं बोली जाती।

दुनिया में ऐसी भाषा एक और भी है, जो कहीं की भी बोली नहीं है, पर यूरोप में उसे कुछ लोग जानते हैं और कई देश जानते हैं। उस का नाम है एस्पिरंटो। वह बनावटी बोली है। संस्कृत शब्द यह साबित कर रहा है कि वह किसी बोली का सुधारा गया रूप है। वह बोली क्या थी, ठीकठीक पता नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि उस बोली का नाम था छंदस और वेद उसी बोली में हैं। संस्कृत उसी छंदस का सुधारा हुआ रूप है।

उर्दू भी कोई बोली नहीं है। उर्दू शब्द का अर्थ है, लश्करी यानी फौजी। मुसलमानों की फौज में विभिन्न देशों के सिपाही रहते थे। उन सब की बोलियों से जो खिचड़ी बोली बनी उसे लोग लश्करी या उर्दू कहने लगे। फिर वह भारत के उत्तरी भाग में फैलती गई और दक्षिण में हैदराबाद भी जा पहुंची।

जितनी बोलियां हैं यानी जितनी भाषाएं हैं, उन सब के नाम देश के आधार पर हैं। जैसे : चीनी, जापानी, रूसी, अंग-

रेजी, जर्मन आदि, भारत में बंगाली पंजाबी, गुजराती आदि। हिंदी कहीं की भाषा नहीं है। जिसे आज हिंदी कहा जाता है, वह कभी हिंदुस्तानी थी और उन दिनों भारत हिंदुस्तान के नाम से मशहूर था। इसलिए जो बोली सारे देश में समझी जाती थी वह थी हिंदुस्तानी। हिंदुस्तान का नाम हिंद रह गया, तो हिंदी कहलाने लगी। अब हिंदी बोली बन गई, क्योंकि वह सारे हिंद में समझी जाती है।

देश के नाम पर भाषा

अंगरेजी सिर्फ इंगलिस्तान की बोली है, पर आज वह कनाडा, अमरीका, आस्ट्रेलिया की भी बोली है। न कोई अलग अमरीकी बोली है, न कनाडा, न आस्ट्रेलिया। इस का कारण है। वह यह कि कनाडा, आस्ट्रेलिया और अमरीका में अंगरेज जा कर बस गए हैं, इसलिए वह बोली के मामले में अपने असली नाम से चिपके रहे। संभव है कभी वह अपनी बोली का नाम बदल दें और अपने देश के आधार पर रख लें।

जिसे हम हिंदी कहते हैं और जो देश भर में समझी जाती है, वह भारत के किसी एक हिस्से की बोली है ही नहीं। यह दूसरी बात है कि कोई हिस्सा जबरदस्ती उसे अपनी बोली कहने लगे और सरकारी कागजों में भी वैसा वह दर्ज करवा ले।

भारत का ऐसा हिंदी-उत्तर प्रदेश है, जो अपने आप को हिंदी भाषी कहता है। पर उस में तो कितनी ही और बोलियाँ हैं। कहीं भोजपुरी है, कहीं ब्रजभाषा है, कहीं गोंडो है और कहीं कुछ इसलिए हिंदी को उत्तर प्रदेश की भाषा मानना निरी भूल है। वह तो हिंदुस्तान भर की भाषा है।

जिस ने सिर्फ हिंदी ही सीखी है और जो स्कूलों में सिखाई जाती है, वह सूरदास और तुलसीदास को नहीं समझ सकता। अगर समझ लेता है, तो वह फिर पंजाबी, मारवाड़ी, असमी, बंगला, उड़िया—सभी भाषाएं समझ लेगा, क्योंकि वे सब हिंदी की रूपांतर हैं या हिंदी इन्हीं सब के मेल से बनी है। हां, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ ऐसी भाषाएं हैं, जिन्हें हिंदी वाला आसानी से नहीं समझ सकता।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी

हमारे देश में जितनी भाषाएं हैं, उन में से तीन चार को छोड़ कर शेष सब ऐसी हैं, जो थोड़ी बहुत सारे हिंदुस्तान में समझी जा सकती हैं, उन में से हिंदी ऐसी है, जो सब जगह बहुत ज्यादा समझी जाती है। यही कारण है कि वह राष्ट्रभाषा का रूप ले रही है। राष्ट्रभाषा तो थी ही, अब उस का नाम भी राष्ट्रभाषा हो जाएगा और राष्ट्रभाषा के नाते वह सरकार की दफ्तरी भाषा बन ही जाएगी और आसानी से अंगरेजी की जगह ले लेगी।

जितनी बातें हम ने हिंदी या देश की और भाषाओं के बारे में कहीं, क्या उन में से एक भी संस्कृत पर लागू होती है? यदि नहीं, तो उसे उस स्थान के लिए क्यों छांटे जाने पर जोर दिया जा रहा है, जिस के वह किसी तरह योग्य नहीं है? हम मान लेते हैं कि वह हीरे जैसी मूल्यवान है और सोने जैसी चमकदार, तब भी तो उस के लिए यही शोभा देता है कि वह तिजोरियों में बंद रहे और मंदिरोंमठों में शोभा पाए। बहुत करे, कभीकभी तोय कर आए। जिस

तरह की सामिया हीरे की तरह सारी दुनिया में बिखरने की नहीं सोच सकता और अगर सोचे, तो वह पागल समझा जाएगा, ठीक इसी तरह संस्कृत को, जो किसी तरह हिंदुओं की पूज्य भाषा बन गई है, अगर कोई घरघर में फैलाने की सोच रहा है, तो उसे क्या कहा जाएगा?

महाभारत का यवक्रीत पात्र इसलिए तपस्या करने बैठ गया था कि वह बिना पढ़े विद्वान हो जाए। इंद्र ने कई बार समझाया कि ऐसा नहीं हो सकता। पर वह माना नहीं। आखिर इंद्र को एक युक्ति सूझी। वह एक बूढ़े के रूप में गंगा के किनारे बैठ गए और लगे गंगा में भरभर चुटकी रेत डालने। इतने में यवक्रीत आ पहुंचा। उस ने उस से पूछा, “अरे, तू यह क्या कर रहा है?” वह बोले, “मैं गंगा में रेत डाल कर पुल बनाना चाहता हूँ, ताकि उस पार जा सकूँ।” यवक्रीत बोला, “तू पागल है? कहीं ऐसा हो सकता है?” तब वह बोले, “मैं ने सुना है कि भारद्वाज का लड़का यवक्रीत बिना पढ़े विद्वान बनने के लिए तपस्या कर रहा है। अगर वह सफल हो जाएगा, तो मैं भी सफल हो जाऊंगा।” संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने की सोचने वालों के लिए ऐसे ही किसी बूढ़े की जरूरत है।

उर्दू हिंदी का ही दूसरा नाम है। मुसलमानों ने उसे अपनी भाषा के रूप में अपना लिया है। लेकिन वे अगर यह दावा करें कि उर्दू अरबी से निकली है या फारसी उस का खोत है, तो वे निरे नादान समझे जाएंगे। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस बात का दावा करते हैं। वे युक्तियाँ भी देते हैं। वे उर्दू भाषा में से सैकड़ों हजारों शब्द ऐसे निकाल कर दिखा सकते हैं जो अरबी या फारसी के हैं और जो या तो ज्यों का त्यों रूप लिए हुए हैं या उन के आधार पर बने हुए हैं, यानी कुछ को वे तत्सम कहेंगे और कुछ को तदभव। पर यह तो इस बात का प्रमाण नहीं है कि उर्दू अरबी फारसी की बेटी हैं। आज उसी उर्दू में सैकड़ों अंगरेजी शब्द मिल गए हैं, उस में कुछ तत्सम

हैं, कुछ तद्भव, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उर्दू अंगरेजी की बेटा है। उर्दू-हरण के लिए यह वाक्य लीजिए: "ट्रेन लेट है।" इस में दोतिहाई अंगरेजी है। पर यह वाक्य उर्दू का वाक्य कहा जाएगा, हिंदी का वाक्य कहा जाएगा, हिंदुस्तानी का वाक्य कहा जाएगा। इसे कोई अंगरेजी का वाक्य नहीं कहेगा, क्योंकि इस में क्रिया हिंदुस्तानी है। इस कसौटी पर कसने से इस बात का ठीकठीक पता लगाया जा सकता है कि कौन भाषा किस से निकली है या कौन किस की मां और कौन किस की बेटा है।

"जीव इज चेतन"— इस वाक्य में 66 प्रतिशत संस्कृत है, पर यह वाक्य संस्कृत का नहीं माना जाएगा, क्योंकि क्रिया इज सिद्ध कर रही है कि वह वाक्य किसी अंगरेज के मुंह से निकला है और इस के जीव चेतन शब्द भी बिल्कुल अंगरेजी हैं। जो शब्द जिस भाषा ने अपना लिए वे उसी भाषा के समझे जाने चाहिए, भले ही वे तत्सम हों या तद्भव।

हिंदुस्तानी का विभाजन

उर्दू की तरह ही हिंदी का हाल है। हिंदी हिंदुओं की भाषा बन गई है, इसलिए उस में संस्कृत शब्द आ गए हैं और आते चले जा रहे हैं। लोगों का खयाल है कि इस तरह वह अपने आप संस्कृत का रूप ले लेगी। हो सकता है, ले ले, पर लेगी वह मंदिरों और मठों में ही, स्कूलों और कालिजों में ही। वह कभी न पहुंच पाएगी मेलोंडेलों में, हाटबाजारों में और गांवखंडों में। जब मुसलमान यहां के राजा थे, तब वे फारसी बोली अपने साथ लाए थे। उन्होंने पहले फारसी से काम लिया क्योंकि मजबूरी थी। कुछ दिनों में अकल आई। हिंदी में फारसी मिला कर उसे हिंदवी बना दिया। वही कभी रेखता कहलाई और कभी उर्दू। बेगमों में रेखता रेखती बन गई। मतलब यह कि फारसी गुम होती गई और हिंदी अपनी

जगह लेती गई। अगर अंगरेजों का सब्ज कदम हिंदुस्तान पर न पड़ा होता और मुसलमानों राज्य बना रहता तो मुसलमान मुसलमान न रह जाते और ऐसे ही हिंदुस्तानी बन जाते, जैसे हूण और शक बन गए थे, और हिंदुस्तानियों में घुलमिल गए होते। पर बैसा न हुआ। अंगरेज ने देख लिया कि अंगरेजी यों नहीं टिक सकती। इसलिए उस ने हिंदुस्तानी के दो टुकड़े कर दिए। एक का नाम रख दिया हिंदी और दूसरी का उर्दू। दोनों में अलगअलग किताबें लिखाई गईं, दोनों के लिए मौलवी और पंडित ढूंढ़े गए। दुर्भाग्य से लिपी भी अलग-अलग मिल गई—एक नागरी और दूसरी फारसी। इन लिपियों के भी अब हिंदी उर्दू नाम हो गए। इस तरह हम जो भाषा के लिहाज से एक नेशन यानी एक जनमनी बनते चले जा रहे थे, वह न बन पाए और अंगरेजों की चाल चल गई। मेकाले अपनी धूर्तता में सफल हो गया।

हिंदी ने 20 वीं सदी में जोर पकड़ा। उस से पहले उस का जो रूप था, उस का नाम था हिंदुस्तानी। जब उस का नाम हिंदी हुआ, तब उसे ब्रजभाषा और भोजपुरी की तरफ झुकना पड़ा। कुछ ही दिनों में वह संस्कृत के शब्द अपना कर उस हिंदुस्तानी से टक्कर लेने की सोचने लगी जिस में अरबी फारसी के शब्द ज्यादा थे। पांडित्य और खासकर आजकल का पांडित्य, इस के सिवा और कुछ नहीं है कि ऐसी बोली बोलना, जिस के 90 प्रतिशत शब्द ग्राम जनता न समझ सके।

और मौलानाओं से टक्कर ली भी किस तरह जा सकती थी? मौलवियों को यह घमंड था कि वे मौलवी इसलिए हैं कि वे ऐसी बोली बोलते हैं, जिसे जनसाधारण नहीं समझ सकता। पंडितों ने उन के इस घमंड से टक्कर ली और बाजी मार ले गए। एक बार का जिक्र है, जब पंडित गणेशप्रसाद हिंदू यूनोवर्सिटी सिनेट के मेंबर थे। सीधेसादे ढंग से रहते थे। संस्कृत के पूरे विद्वान थे। परंतु उनके चेहरे से विद्वत्ता का

अनुमान लगा सकना कठिन था। वह जब सीनेट की मीटिंग में दाखिल होने के लिए सभाद्वार पर पहुंचे, तो एक स्वयंसेवक ने उन्हें अंदर जाने से रोक दिया और अंगरेजी बोल कर धमकाने लगा। उस के इस घमंड से उन्होंने संस्कृत बोल कर टक्कर ली। जब जोर की संस्कृत और अंगरेजी चल पड़ी, तो शोर मालवीयजी के कानों तक पहुंचा। वह उठ कर आए और पंडित गणेशप्रसादजी को अपने साथ अंदर ले गए।

बस, संस्कृत और अंगरेजी या अरबी का यह उपयोग रह गया है। आप टूटी-फूटी संस्कृत बोल कर भी, संस्कृत की निरर्थक नकल कर के भी हिंदू जनता पर रोब जमा सकते हैं। कोई भी मुसलमानों पर रोब जमाने के लिए अरबी बोलने के नाटक से काम ले सकता है और सब पर रोब जमाने के लिए आज भी अंगरेजी से काम लिया जा सकता है। तब हिंदी पनपे तो कैसे? या कोई भी प्रांतीय भाषा उभरे तो कैसे? और फिर संस्कृत उन के सिर क्यों न चढ़े, जो जनता पर रोब जमाना चाहते हैं, जो डेमोक्रेसी और लोकशाही को कुचलना चाहते हैं, जो जनराज्य के बंदी बनना चाहते हैं, और जो जनराज्य में बंदी बन कर ही नेता बन सकते हैं या गद्दियां प्राप्त कर सकते हैं।

संस्कृत देश हित में नहीं

यह कहना कि हिंदी संस्कृत की बेटी है, सरासर आंख में धूल झांकना है। हम उन धूल झांकने वालों की बात मान लेते हैं और हिंदी को संस्कृत की बेटी स्वीकार कर लेते हैं। फिर भी हम उन से पूछेंगे कि क्या वे अपनी बेटियों को वह घाघरा पहनाने के लिए तैयार हैं, जो उन की मां दादी पहनती थीं? वह घाघरा पहना कर अपनी लड़कियों का महत्त्व बढ़ाना चाहते हैं और बढ़ा सकते भी हैं। यह कोई तारीफ की बात न होगी। तारीफ की बात यह है कि तुलसीदासजी ने अरघी में रामायण

लिखी और वह आज हिंदू समाज से इसी तरह पूजा पा रही जिस तरह वेद। विनोबा की मराठी में लिखी गई 'गीताई' ने संस्कृत की गीता को मराठी जानकारों से इस तरह भगा दिया, मानो गीता का मूल मराठी में ही लिखा गया हो। विनोबा काबिल तारीफ हैं, पर और भी प्रशंसा के पात्र होते, अगर वह अपने विचारों को गीता का रूप दे सकते होते। यह कोई बड़ी बात नहीं थी। हिंदुस्तान ने महावीर और बुद्ध दो व्यक्ति ऐसे पैदा किए, जिन्होंने वेद का सहारा नहीं लिया और अपने नए विचारों को देश में ही नहीं, देश के बाहर भी पुजवा दिया। स्वामी दयानंद संस्कृत के प्रकांड पंडित थे, पर उन्होंने सत्यार्थप्रकाश हिंदी में लिखा और वह आज आर्यसमाजियों में कुरान का स्थान लिए हुए है। सिक्खों का ग्रंथ-साहब संस्कृत में नहीं है, पर वह सिक्खों का वेद है। इसलिए यह सोचना कि संस्कृत ही के द्वारा अपनी जगह बनाई जा सकती है, भारी भूल है।

हां, संस्कृत में मृगतृष्णा की तरह वह गुण आज भी मौजूद हैं कि सैकड़ों को धोखा दे कर अपनी तरफ खींच सकती है और संत और बाबा का पद भी दिला सकती है। पर ऐसा पद पाने वाला आदमी काबिल तारीफ नहीं समझा जा सकता। वह देश का कितना ही उत्थान कर जाए, तब भी वह अंत में देश के लिए हानिकार सिद्ध होगा, क्योंकि वह एक पंथ खड़ा कर जाएगा।

हिंदी को हम ने अपनी बात कहने के लिए संस्कृत की बेटी मान लिया था। वह किसी तरह संस्कृत की बेटी नहीं हो सकती, क्योंकि उस का व्याकरण यानी उस के महल की बुनियाद संस्कृत से एकदम मेल नहीं खाती। संस्कृत पेंसिव वायस यानी कर्मप्रधान भाषा है और हिंदी में नाम के लिए भी कर्मप्रधानता नहीं है। वह ऐक्टिव वायस यानी कर्तृप्रधान है। यह सब से पक्का सबूत है कि हिंदी का संस्कृत से तनिक भी संबंध नहीं है। दूर का भी संबंध

नहीं है। उस में संस्कृत के जितने शब्द हैं, वे उस की गुलामी के ऐसे ही चिन्ह हैं, जैसे अरबी, फारसी और अंगरेजी के शब्द पर वे हिंदी के साहस के द्योतक हैं कि उस ने सब को तत्सम न रहने दे कर तद्भव बना दिया और इस तरह उन सब को गुलाम बना दिया और खुद मालिक बन बैठी। अगर गुलाम बनाता किसी को न रुचता हो, तो वह भाई बनाना कह सकता है। यह किसे नहीं मालूम कि मुसलमानी राज्य में जब अंगरेज आए तो बड़बड़े अफसर तक साफा बांधने, अंगरेखा पहनने और झुड़ीदार पाजामा पहनने में अपनी शान समझते थे और पेशवान पीते हुए अपनी तस्वीरें बनवाते थे और धिलायत भेजते थे। पर जब अंगरेजी राज्य हुआ, तो हम हिंदुस्तानी कोटपतलून पहनने और टोप लगाने में शान समझने लगे।

जिस तरह वेशभूषा से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि हम किसी दूसरे देश की औलाद हैं, वैसे ही भाषा की वेशभूषा से यानी शब्दभंडार से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि वह दूसरी भाषा की औलाद हैं।

संस्कृत के शब्दों को ठूस कर जो कविता की जाती है, उस में वह लोच आ ही नहीं सकता, वह रस मिल ही नहीं सकता, जो बोलचाल की भाषा की कविता में होता है। मंथिलीशरण गुप्ता का 'साकेत' शायद सरकारी इनाम पा ले, पर रामायण का स्थान नहीं ले सकता, क्योंकि कहींकहीं तो वह हिंदी के स्नातकों के लिए भी दुरुह हो गया है। इसलिए जनसाधारण से तो वह इतना दूर हो गया है कि उस तक पहुंचने की कोई सोच ही नहीं सकता। संस्कृत के तत्सम शब्द संस्कृत भाषा को जितना रोचक बनाते हैं, उतनी ही हिंदी की रोचकता नष्ट कर देते हैं। न जाने क्यों, यह बात आजकल के कवियों को नहीं सुझती।

संस्कृत की कोई भी बात तो हिंदी से मेल नहीं खाती। संस्कृत में तीन लिंग, हिंदी में दो। संस्कृत में तीन वचन, हिंदी में दो।

संस्कृत में विभक्ति जुड़ी हुई, हिंदी में विभक्ति अलग। संस्कृत में विभक्ति जरूरी, हिंदी में कहीं जरूरी, कहीं बिल्कुल गैरजरूरी। हिंदी जहां कहती है, "राम ने खाया," वहां यह भी कह लेती है, "राम खाता है" संस्कृत इस के लिए अयोग्य है। हिंदी इस मामले में मितव्ययी है, संस्कृत फिजूलखर्च है। हिंदी में इतने कमाल हैं कि उन्हें गिनाने के लिए अलग लेख की जरूरत है। संस्कृत में वे सब हैं ही नहीं।

अगर हिंदी के साथ उसे सब तरह योग्य समझ कर कुछ दिनों भी मेहनत की गई होती, तो उस में वे सब खूबियां आ जातीं, जो किसी भी भाषा में मौजूद हैं। संस्कृत को समास का बहुत घमंड है, धातुओं का घमंड है। पर अव्वल तो समास भाषा को क्लिष्ट बनाता है और धातु अनेकार्थ-वाची होने से वह गजब डाते हैं, जिस का ठिकाना नहीं। धातुओं के अनेकार्थ ने स्वामी दयानंद को वह ताकत दे दी कि वे वेद के कुछ के कुछ अर्थ कर दें, जिस का रोना आज गुरुकुल के स्नातक रो रहे हैं। दूसरे यह खराबी कि यह समास पढ़ने में पाठक को बेहद तंग करते हैं। लेकिन अगर समास और धातु के महत्त्व को मान भी लिया जाए, तो ये दोनों गुण बड़ी आसानी से हिंदी में पैदा हो सकते हैं। ठीक है, ऐसा रूप ले कर हिंदी अटपटी हो जाएगी, पर हम उस अटपटेपन के कुछ दिनों में आदी हो जाएंगे। यह अटपटापन संस्कृतमिश्रित भाषा या संस्कृत के अटपटेपन से हजार गुना सरल होगा।

मिश्रित भाषा का प्रयोग

बिहार में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह से कुछ शब्द हमें सुनने को मिले। हमें बड़े पसंद आए। जैसे: तलाशना या तो बूढ़ना तलाश से तलाशना बना दिया गया। हिंदी में ऐसे कुछ शब्द पहले से हैं, जैसे: लतियाना, कोहनियाना, बतियाना आदि। अब अगर स्वीकारना, पिछड़ाना जैसे शब्द और

बना दिए जाएं, तो इस से हिंदी मालदार हो सकती है। इन के लिए संस्कृत या अरबी-फारसी से शब्द उधार लिए जा सकते हैं। शायद इसे पांडित्य समझा जाए, हम पांडित्य से विपरीत ही समझेंगे। हमें संस्कृत से उतना ही मोह और प्यार है, जितना औरों को। उस का कारण है कि हम ने यद्यपि शुरू से फारसी पढ़ी और फारसी के ही अक्षर सीखे, पर मां की गोद में तो संस्कृत के श्लोक ही याद किए और बचपन में उसी पर अभिमान किया। धर्म की सब बातें संस्कृत में ही तो थीं। उसी में अपने साथियों से बाजी ले जाने का मौका मिलता था। पर साथ ही साथ उस भाषा का, जो घर में बोली जाती थी, उतना ही अभिमान था, जितना हमें हिंदुस्तानी होने का और आदमी होने का। अबेरसबेर हिंदी अक्षर हम ने सीख लिए और बिना प्रयास हिंदी लिखना आ गया, पढ़ना आ गया। संस्कृत के कठिन से कठिन उच्चारण में कोई दिक्कत न हुई। यह दिक्कत मुसलमान लड़कों को होती है, क्योंकि उन्होंने गोद में संस्कृत श्लोक सुने नहीं होते। अरबी को आमतौर पर सुनी होती है, या फारसी को गजलें। उन्हें उस के उच्चारण में कोई दिक्कत नहीं होती।

भाषा की जटिलता

यह सब होते हुए भी हमारा हिंदी प्रेम किसी तरह भी इतना कम न हो पाया कि वह संस्कृत प्रेम के बराबर हो जाए। इसलिए हम संस्कृत को जीवित रखते हुए भी हिंदी की उन्नति चाहते हैं। इस का कारण सीधासादा है। किसी युग में भी संस्कृत को पढ़ाई सब को नसीब नहीं हुई और आज तो कैसे भी नहीं हो सकती। कोई भी जगह ऐसी नहीं, जहाँ बच्चे को 6 महीने के लिए भेज दें और उसे संस्कृत बोलना आ जाए। अरबी, फारसी, फ्रांसीसी, अंगरेजी—इन भाषाओं को हमारे फौजी सिपाही बड़ी लड़ाई में उन जगहों पर कुछ

महीने रह कर कामचलाऊ बोलना सीख आए थे, जिन जगहों पर ये बोलियां बोली जाती हैं। पर संस्कृत तो संस्कृत के केंद्र बनारस में भी नहीं बोली जाती, कालिज में भी नहीं बोली जाती। “तिनके से दांत कुरेद लो” इस की संस्कृत बनाने में पंडित बगलें झांकने लगेंगे। “मैं चावल से कंकरिया बोन रही हूँ”—इस की संस्कृत बनाने के लिए पंडित को सोचना पड़ेगा।

इसलिए संस्कृत की मदद से शब्द गढ़ना हमारे बालकों के लिए बहुत दुःखदायी होगा। तब संस्कृत जबरदस्ती सीखनी पड़ेगी और बेकार का बोझ बालक के सिर पर लादना होगा, हिंदी से जब कि वैसे आसानी से पढ़े जा सकते हैं। नए होने से वे अटपटे लगेंगे। अटपटी तो संस्कृत भी मालूम होती है, पर वह तो सिर से पैर तक अटपटी है, इसलिए उसे अटपटी नहीं कहते। हिंदी का अटपटापन सिर्फ अटपटापन रहेगा, जरा से समझाने में बालक समझ जाएगा और फिर उमर भर नहीं भूलेगा। संस्कृत से बने हुए शब्दों को उसे रटना होगा और रटने के बाद भी भूल जाने की संभावना रहेगी।

उदाहरण के लिए अंगरेजी का रिप्रि-जेंटेटिव शब्द ले लीजिए। इस का अनुवाद संस्कृत में प्रतिनिधि होगा। प्रतिनिधि शब्द रटना पड़ेगा। वह हमारे गले कभी न उतर पाएगा, आत्मसात तो हो ही न सकेगा, यानी हमारा अपना कभी न बन सकेगा। हिंदी इसी की जगह का एक छोटा सा, प्यारा सा शब्द देगी ‘ओरिया’। आप चौंक पड़ेंगे। शब्द अटपटा है। पर जरा सुनिए तो यह बना है ‘ओर’ से। यानी हमारी ओर का। अब कहिए आप या आप का पांच बरस का बच्चा इसे कभी भूल सकता है? इसे रटने की कहीं जरूरत है?

पेड़ों के पत्ते 2 तरह के होते हैं: कुत्त-कन्ना और कुत्तकन्ने। आप संस्कृत में अर्थ करेंगे अश्वकर्ण और श्वकर्ण। क्या ये अटपटे नहीं हैं? क्या ये बच्चे को याद नहीं करने पड़ेंगे? और क्या ये कभी बच्चे के अपने बन सकेंगे? घुड़कन्ना शब्द तो सभी

विज्ञान का पाठ समझाने में हमारा घर का घर अध्यापक बन जाएगा।

यह कौन कहता है कि हिंदी में धातु नहीं हैं? आ, जा, खा, पी, सो, उठ, नहा—ये सब धातुएं नहीं हैं, तो क्या हैं? पंडित, तो पंडित, अण्ड भी इन धातुओं से बड़ी आसानी से पचासों शब्द बनाना सीख सकता है। विज्ञान की किसी शाखा का कोई शब्द ऐसा नहीं हो सकता। जो हिंदी के उन शब्दों की मदद से तैयार न किया जा सके, जो आज कोश में जगह पा गए हैं। अब हमें संस्कृत की मदद की कहां जरूरत रह जाती है?

हमारे मित्र का एक 5 बरस का बालक है। उस के पल्ले कहीं से तराजू पड़ गई। वह उस के नाम से वाकिफ नहीं था। जब हमारे मित्र ने उस से पूछा, तुम्हारे हाथ में क्या है, तो वह बोला “तोलनी。” हमारे मित्र साहित्यरत्न हैं। तोलनी सुन कर दंग रह गए।

उस से पूछा, “तुम्हें यह शब्द किस ने बताया?”

वह बोला, “किसी ने नहीं। इस से तोलता हूं, इसलिए यह तोलनी है। आप बताइए क्या नाम है?”

मेरे मित्र ने उसे तकड़ी, तराजू कई नाम बताए, पर उस के गले एक न उतरा वह तोलनी पर अड़ा हुआ है और तराजू को तोलनी ही कहता है। यह उलटी तरफ मुंह किए जाने वाले पंडितों को सूझ ही नहीं सकता, वे तो संस्कृत की तरफ ही नजर डालेंगे।

हो सकता है, संस्कृत में यह योग्यता हो कि वह आदमियों को जीवित स्वर्ग पहुंचा सकती हो या जीवन मुक्त बना सकती हो, पर यह योग्यता तो उस में हरगिज नहीं है कि वह हम भारतीयों को एक नेशन यानी एक जनमनी का रूप दे सके। एक जनमनी का रूप देना तो एक और, वह तो उलट्टे हमें कई जनमनियों में बांट देगी। क्योंकि वह हमेशा यही करती रही है। वह राष्ट्र के और सरकारी काम के

लिए उपयुक्त नहीं बन सकती और विज्ञान के लिए तो बिल्कुल नहीं, क्योंकि विज्ञान उस का विषय नहीं रहा। ठोकेपीट कर जैसे वैद्यराज बनाए जाते थे, वैसे ही संस्कृत को विज्ञान समझाई बनाया जा सकता है, जिस तरह ठोकेपीटे वैद्यराज के पल्ले पड़ कर जान खोनी पड़ती है, वैसे ही इस ठोकेपीटी समझाई के पीछे पड़ कर जान देने के सिवा कुछ हाथ न आएगा।

हानिकारक तत्व

कहीं यह संस्कृत की सूझ उस पागल-पन की नकल तो नहीं है, जो पाकिस्तान में अरबी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए छाया हुआ है और जो अरबी से ही सब शब्द गढ़ने की बात सोच रहा है? अरबी में फिर भी कुछ आसानी हो सकती है, क्योंकि वह अरब में बोली जाती है और उस में छोटी से छोटी चीज का वाक्य मौजूद है, पर संस्कृत वालों को तो यह भी सुविधा नहीं है। एक बात और है। अगर पाकिस्तान ने अरबी की बात सोची और हम ने संस्कृत की बात तो पाकिस्तान को जहां थोड़ी सी सुविधा रहेगी, वहां वह अपना सौ गुना नुकसान कर लेगा। अगर हम ने संस्कृत की बात सोची, तो हमें पाकिस्तान जैसी सुविधा भले ही न मिले, उलटी असुविधा हो, पर हम अपना 10-20 गुना ही नुकसान करेंगे, क्योंकि हम किसी दूसरे देश के आश्रित तो होंगे नहीं, जब कि पाकिस्तानियों को अरब का आश्रित होना पड़ेगा और यह बेहद नुकसान की बात होगी।

हम कब संस्कृत या ऐसी और किसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं? जब हम चाहते हैं कि हमारी बात इनेगिने लोग ही समझ पाएं। उदाहरण के तौर पर अगर घर में बैठे हुए बड़े लोग गुप्त विषय पर चर्चा करना चाहें तो हिंदी के ठेठ नाम तो ले नहीं सकते, इस के लिए उन्हें संस्कृत या अंगरेजी की मदद लेनी पड़ेगी। खैर, ऐसा

कीजिए, कोई हर्ज नहीं। पर इस तरह के और बहुत से काम हैं, जो सबकारी और फरेबी से भरे हुए हैं। हम कम समझा जान वाली भाषाओं का इस्तेमाल उस वक्त भी करते हैं, जब हम यह चाहते हैं कि हमारी बातें खुले नहीं, इनगिने ही जान पाएं। जैसे दवाओं के नुसखे। अंगरेजी डाक्टर लैटिन और ग्रीक में नुसखा लिखेगा, हिंदुस्तानी हकीम फारसी में लिखेगा दवा का नाम अरबी में होगा। वैद्य नुसखा संस्कृत में लिखेगा या अगर हिंदी में लिखेगा तो दवाओं के नाम संस्कृत में देगा।

जो नईनई दवाएं बिक्री के लिए तैयार की जाती हैं, उन के नाम संस्कृत में रख दिए जाते हैं, जिस का असर मूर्खों पर यह पड़ता है कि यह दवा वेद में से निकाली गई है। वेद के प्रति हिंदुओं की श्रद्धा का हर कोई फायदा उठाता रहा है और उठा रहा है। दवा के ग्रंथ का नाम आयुर्वेद इसी लिए रखा गया। मतलब यह कि जिसे अंगरेजी में ट्रेड सीक्रेट यानी व्यापारी भेद कहते हैं उस के लिए संस्कृत की बेहद जरूरत है। ठीक है, इसे भी बरदाश्त किया जा सकता है। अच्छा है, अगर धोखेबाजी के लिए यह पूज्य भाषा ठीक समझी जाए, क्योंकि भुक्ति-दायिनी होने से इसे कोई पाप तो लगने से रहा।

हम ने दोतीन योग्य ग्रंथों का अध्ययन किया। उन में एक घिरंड संहिता थी। उस में एक जगह गोमांस भक्षण की बात थी और उसे समाधि के लिए अत्यंत आवश्यक बताया गया था। हमें कुछ अचरज नहीं हुआ, क्योंकि बुद्ध और महावीर से पहले हिंदुओं में गोमांस का चलन था और जिस मधुपर्क का सब से ज्यादा रिवाज था, वह था बछड़े के मांस का शोरबा। पर अचरज तो हमें तब हुआ, जब हम ने उस गोमांस का ठीकठीक मतलब समझा। वह योगियों का एक पारिभाषिक शब्द है, जिस का अर्थ है जीभ को हलक के अंदर करना। इस से समाधि लगाने में आसानी होती है। गो शब्द का अर्थ जहां गाय है, वहां जीभ

भी होता है। सभी इंद्रियां गो कहलाती हैं। इसी से गोस्वामी शब्द बना। भक्षण का अर्थ है किसी भी चीज को गले के नीचे उतारना। इसलिए गोमांस भक्षण ऐसा पारिभाषिक शब्द बन गया, जिसे गुरुजी समझ सकें और उन के चेले। वे न समझ पाएं, जिसे गुरुजी नहीं चाहते कि वे समझें। हम ने इस अर्थ को यों ठीक समझा कि योग के ग्रंथ में जगहजगह सात्त्विक भोजन का जिक्र है और फलदूध ही खाने को बताया गया है। यह है संस्कृत या ऐसी ही भाषाओं का उपयोग, जो बोल-चाल में नहीं हैं।

इस तरह के और अनेक उपयोग संस्कृत के निकल सकते हैं। उन कवियों के लिए भी यह बड़े काम की सिद्ध हो सकती है, जिन के पास कहने के लिए कुछ नहीं है और वे प्रसिद्ध तो होना ही चाहते हैं।

संस्कृत का मोह

गांधीजी संस्कृत नहीं जानते थे, पर अनासक्तियोग के नाम से उन्होंने गीता का अनुवाद किया। इस बारे में उन्होंने लिख दिया कि मैं ने इस अनुवाद में विनोबा से मदद ली है। उन्हें भी संस्कृत से ऐसा ही मोह था, जैसा किसी हिंदु को होना चाहिए और जैसा होता चला आ रहा है। पर बड़े सोचविचार के साथ एक बार उन के मुंह से निकल ही गया कि यह संस्कृत हम को खा जाएगी। वैसा उन्होंने कहीं अपने पत्र में लिख भी डाला। हम इसे प्रमाण के रूप में पेश नहीं कर रहे, क्योंकि हम ऐसा मानते हैं कि जो किसी ग्रंथ या व्यक्ति को प्रमाण में पेश करता है, वह शंतान होता है। शंतान इसलिए होता है कि वह अपनी राय को उन ग्रंथों या उस आदमी के जरिए लोगों से मनवाता चाहता है। यही शंतानियत है।

हम तो यहां गांधीजी की बात सिर्फ इसलिए कह रहे हैं कि जो भी आदमी

एकता और समानता पैदा करना चाहेगा, भाईचारे की स्थापना करना चाहेगा, सब की स्वतंत्रता का इच्छुक होगा, वह इसी नतीजे पर पहुंचेगा कि उस भाषा पर संस्कृत हरगिज न लादी जाए, जो नेशन यानी जनमनी भर की भाषा बनने जा रही है. हिंदी में जितने संस्कृत के शब्द इस तरह घुलमिल गए हैं कि गांव वाले भी आसानी से बोल लेते हैं, वे चाहे तत्सम हों या तद्भव, हिंदी के शब्द हैं. संस्कृत के लिए वे संस्कृत के हैं. पंजाबी जब बुक का बहुवचन बुकका बनाने लगी, तब बुक अंगरेजी शब्द नहीं रह गया, ठेठ पंजाबी शब्द हो गया. इसी तरह जब कोई संस्कृत शब्द हिंदी के नियमों से बंध गया, तब वह संस्कृत शब्द नहीं रह गया, ठेठ हिंदी बन गया. जिस तरह और शब्द काम में आने से घिसते रहते हैं, उसे भी इसी तरह घिसना पड़ेगा. अगर घिसने से इनकार करता है तो उसे भाषा छोड़ बाहर जाना पड़ेगा. कविता में यत्र तत्र संस्कृत के कठिन शब्द आ जाएं, तो सहन किए जा सकते हैं, पर अगर उन की भरमार हो, तो उन्हें रोकने का कोई साधन तो हमारे पास है नहीं, और ऐसा करने वाले रोके भी क्यों जाएं? पर इसे हम ठीक नहीं समझते. ऐसा करने वालों को क्या नहीं मालूम कि संस्कृत शब्द उन की कविता की गाड़ी को देश भर में घुमाने के लिए रोड़ा साबित होते हैं और उन की कविता कोलह के बेल की सी एक खंभे के चारों तरफ घूमती रहती है?

हमें तमिल भाषा का तनिक भी ज्ञान नहीं है, पर एक दिन संस्कृत को ले कर विनोबाजी से चर्चा चली. उन्होंने कहा, "तमिल संस्कृतप्रधान है." उन की बात में हमें सचाई मालूम हुई, क्योंकि हम ने रेडियो पर तमिल का प्रोग्राम सुना. लंदन से भी तमिल प्रोग्राम सुना. सचमुच वह संस्कृत-प्रधान है. पर इस से हम इस नतीजे पर नहीं पहुंचे कि वह संस्कृत की बेटो है. उस के संस्कृतप्रधान होने पर अगर हम यह

कहें कि वह, तब तमिल भाषा का या राजा का प्रभाव पड़ा होगा, तो यह निरा अनुमान न होगा.

अगर यह अनुमान ठीक है, तो यह तमिल के लिए कोई तारीफ की बात नहीं है. इस से तो यही सिद्ध होता है कि तमिल कोई भाषा ही नहीं थी और अगर थी तो उस के पास अपना कोई शब्दभंडार ही नहीं था और अपना कोई साहित्य ही नहीं था, जैसे आजकल की गोंडी या नागा लोगों में बोली जाने वाली अन्य कई बोलियां. उन में न कोई लिखित साहित्य है, न उन के पास पर्याप्त शब्दभंडार. ऐसी भाषाएं बड़ी आसानी से कोई अन्य भाषा प्रधान बन सकती हैं.—हिंदीप्रधान, तमिलप्रधान, अंगरेजीप्रधान या वह भाषाप्रधान, जिस के भाषी उन के सरदार बन बैठे. तमिल में संस्कृत शब्दों का होना तमिल की गुलामी का द्योतक है, भले ही इस से संस्कृत के जानकार फायदा उठा लें, इसे इस बात की दलील में पेश कर लें कि संस्कृत एक ऐसी भाषा है, जो सब जगह आसानी से समझी जा सकती है. पर यह दलील बड़ी पोच दलील होगी.

बंगला का हिंदी में प्रवेश

सन 1917 में कांग्रेस से लौटते हुए हम बोलपुर आश्रम गए थे. वहां हमारे मित्र अर्जुनलाल सेठी का लड़का पढ़ता था. उस से मिलना था. इस नाते श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलना हो गया. बातोंबातों में संस्कृत की चर्चा चल पड़ी. वह बोले, "हम बंगालियों ने तो संस्कृत इसलिए अपनाई कि हमारे पास शब्द नहीं थे. ग्रध्यात्म के लिए जितने शब्द चाहिए, उतने शब्द बंगला भाषा नहीं दे सकती. पर तुम ने कबीर जैसे संत के रहते संस्कृत क्यों अपनाई? कबीर ने तो हिंदी भाषा में ग्रध्यात्म की सभी बातें लिख दीं और सारी शब्दावली तुम्हें दे दी."

मैं उन की बात सुन कर चुप रह गया,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

क्योंकि उन दिनों मुझे इतना ज्ञान ही नहीं था कि मैं ठीकठाक जवाब दे सकता। पर उन की बात सुनने के बाद मैं ने इस तरफ ध्यान दिया, तब मालूम हुआ कि कवि की बात ठीक थी। हिंदी वालों ने अपनी भाषा में संस्कृत शब्दों को इसलिए जगह नहीं दी कि वे संस्कृत के अच्छे जानकार थे, बल्कि इसलिए जगह दी कि उन का आजकल की हिंदी वाला शुरु का साहित्य उन की अपनी देन नहीं थी, बंगला साहित्य का अनुवाद मात्र था। और बंगला संस्कृतप्रधान हो चुकी थी, इसलिए बिना सोचेसमझे संस्कृत हिंदी में प्रवेश कर गई।

सन 1950 की बात है। पटना में तुलसी जयंती मनाई गई। हम भी उस में शरीक हुए। उस सभा के सभापति के आसन से जिन महाशय ने भाषण दिया, वह संस्कृत के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपना भाषण इस तरह शुरु किया:

“मुझे इस सभा का निमंत्रण मिला था। उस में लिखा था, आप की उपस्थिति प्रार्थनीय है। मैं ने उस निमंत्रणपत्र को एक जगह रख दिया और सोचने लगा, कौन कब मुझे से सभा में उपस्थित रहने के लिए प्रार्थना करने आता है और मैं प्रार्थना के योग्य समझा भी जाता हूं या नहीं, क्योंकि प्रार्थनीय शब्द का अर्थ प्रार्थना के योग्य ही होता है। इतने में एक सज्जन आए और बोले, “आप अभी सभा में गए नहीं?” मैं बोला, “मुझे किसी ने बुलाया ही नहीं।” वह बोले, “आप को निमंत्रणपत्र नहीं मिला?” मैं बोला, “मिला तो है, पर उस में बुलाया नहीं है। मुझे बुलाने योग्य समझा गया है।” इतना कह कर सभापति महोदय बोले: “लोगों को अगर संस्कृत नहीं आती तो संस्कृत शब्दों का प्रयोग क्यों करते हैं?” और प्रार्थनीय शब्द आज तक मौजूद है।

शिक्षा शब्द से मराठीभाषी चिढ़ उठते हैं, क्योंकि उन के यहां शिक्षा का अर्थ सजा होता है। इसी तरह दक्षिणी लोग उपन्यास नाम से चिढ़ते हैं। उपन्यास में नाविल का अर्थ कहां से आ गया? गरज

यह कि संस्कृत के शब्दों का जितना दुरुप-योग हिंदी वाले करते हैं, उतना दूसरे नहीं। सुनते हैं, विक्रमादित्य के समय यह कोशिश की गई थी कि संस्कृत जनता की भाषा बना दी जाए और उसी समय की एक कहानी है कि विक्रमादित्य की पालकी को उठाने का काम किसी कारण पंडितों के सिर पड़ गया। विक्रमादित्य ने पालकी में बैठेबैठे पालकी उठाने वालों से पूछा, “क्या पालकी से तुम्हारा कंधा दुखता है?” तब पंडितों ने जवाब दिया था: “नहीं, पालकी से तो कंधा नहीं दुखता, पर आप का ‘बाधति बाधते’ यानी आप का ‘बाधति’ शब्द हमें दुख दे रहा है।”

मतलब यह कि विक्रमादित्य भी शुद्ध संस्कृत नहीं बोल सकते थे। जब संस्कृत के परमभक्त विक्रमादित्य जैसे राजा इस काम में असफल रहे, तो आज के सत्ता के भूखे पंडित किस तरह इस काम में सफल हो सकते हैं?

राज सत्ता प्राप्ति का साधन

इस राह में एक मुश्किल और है। जिन्हें संस्कृत पर पुरा अधिकार है, वे न हिंदी लिखना जानते हैं, न अच्छी हिंदी बोल सकते हैं। इसलिए वे संस्कृतमिश्रित हिंदी लिखते ही नहीं और जो हिंदी लिखने में निष्णात हैं, वे संस्कृत के बाहिर नहीं। इसलिए वे हिंदी में संस्कृत शब्दों का गलत प्रयोग कर जाते हैं और उन के वे शब्द संस्कृत के शास्त्रियों को खटकने लगते हैं, जैसा कि अभी हम ने ऊपर प्रार्थनीय शब्द के बारे में लिखा है।

लाला हरदयाल देशभक्त तो थे ही, कई भाषाओं के बड़े विद्वान भी थे। आठवस भाषाओं में व्याख्यान दे सकते थे। उन की राय में संस्कृत मृत भाषा थी। उन का कहना था कि संस्कृत के पुराने साहित्य का रस लेना मानो हड्डियों को निचोड़ना है।

हम लाला हरदयाल की बात से पूरे

कि भाषा की हैसियत से संस्कृत मृत भाषा है। संस्कृत में जितना अच्छा साहित्य है, वह सब अंगरेजी, जर्मन और रूसी भाषा में अनुदित हो चुका है, इसलिए उन्हें संस्कृत सीखने की जरूरत न रही। पर अब भी हिंदुस्तानियों से दोस्ती बनाए रखने के लिए और हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं से फायदा उठाने के लिए वे अपने देशों में संस्कृत के एकदो जानकार रखते हैं और मौके बेमौके अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिए संस्कृत की महत्ता के गीत गाते रहते हैं। इसी तरह के कुछ लोग यहां भी हैं, जो संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते, पर अगर उन से इस बात पर बोट लिए जाएं कि क्या सरकारी काम संस्कृत में किया जाए, तो वे जरूर बोट दे देंगे। अब संस्कृत राजसत्ता हासिल करने का साधन-मात्र रह गई है।

संस्कृत साहित्य का हिंदी अनुवाद

यह कैसी शनोखी बात है कि जो लोग संस्कृत को प्रमाण रूप में पेश करते हैं वे संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते। उन्होंने संस्कृत साहित्य का रसास्वादन अंगरेजी के माध्यम से किया होता है। यहां तक की संस्कृत के समर्थन में हिंदी पत्रों में जो बढ़िया लेख होते हैं, वे सब या तो अंगरेजी लेखों के अनुवाद होते हैं या अंगरेजी किताबों की मदद से तैयार किए जाते हैं।

यह सब हम केवल इसलिए कह रहे हैं कि जिस तरह अन्य भाषाभाषियों को संस्कृत की आवश्यकता नहीं रह गई, वैसे ही हिंदी वालों को भी नहीं रह सकती, अगर वे संस्कृत के सारे साहित्य का हिंदी में अनुवाद कर डालें। इस के लिए हमें कुछ लोगों को संस्कृत शिक्षा बेदी पर बलि देना होगा। पर वह बुरी बात न होगी। उस के हम खिलाफ भी नहीं हैं, उसे हम जरूरी समझते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता, हिंदी के अभिमानियों के लिए यह शर्म की बात

इस वक्त संस्कृत के जानकार 1/2 या 1/4 प्रतिशत भी नहीं हैं। फिर इतने थोड़े जानकारों के लिए 99-1/2 प्रतिशत लोगों को तकलीफ में डालने की सूझ को क्या कहा जाए? इस के अतिरिक्त दुनिया भर में ऐसे एकदो पंडित भी नहीं मिल सकते, जो दावे के साथ कह सकें कि वे वेदों की हर ऋचा को ठीकठीक समझते हैं या कोशिश करने पर समझ सकते हैं। संस्कृत साहित्य में एक, दो, दस नहीं, सैकड़ों बातें ऐसी मौजूद हैं, जो आज समझ में नहीं आ सकतीं।

इसे कोई संस्कृत की खूबी न समझ बैठे और इस के लिए कोई पंडितों की नादानी को न कोसने लगे। बहुत से कारणों में से इस का एक कारण यह भी है कि वैदिक समय के बहुत से रिवाज मिटे हजारों बरस हो गए। उन ऋचाओं में उन रिवाजों का जिक्र है। फिर वे ठीकठीक कैसे समझ में आ सकते हैं? दूसरा कारण यह भी है कि वैदिक समय के लिहाज से आज के ब्राह्मणों का खानपान एकदम बदल गया है। उन दिनों का खानपान आज की जंगली जातियों के खानपान से भी गयाबीता था। इसलिए हमें ज्यों का त्यों अर्थ लगाते हुए शर्म भी आएगी। जैसा कि स्वामी दयानंद को करना पड़ा। इसलिए संस्कृत के साहित्य का हिंदी में अनुवाद करने के लिए बहुत सी कठिनाइयां होंगी, पर उन कठिनाइयों को भी बरदाश्त किया जा सकता है, क्योंकि उन से देश और समाज का हित होगा।

इस काम में विदेशियों से भी मदद ली जा सकती है। लेकिन हिंदी को संस्कृत-मय बनाना या संस्कृत के ग्राम प्रचार की बात सोचना या संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने की बात सोचना इतने भद्दे काम हैं कि उन्हें बरदाश्त नहीं किया जा सकता। अगर कोई मुसलमान हिंदू धर्म का प्रचार करता फिरे, तो जो इन दोनों का उद्देश्य हो सकता है, वही उद्देश्य उन का भी हो

सकता है, जो संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते तो यही था कि हम चुप्पी उठाने और उस
या नाशवात्र को जानते हैं और जोरशोर का विरोध न करते, क्योंकि उस का प्रचार
से उस का प्रचार करते फिरते हैं।

दीपक हवा चाहता है. उस के बगैर वह जल नहीं सकता. जरूरत से ज्यादा हवा भी उसे बुझा सकती है. आसान तरीका यही है कि दीपक को किसी गिलास से ढंक दिया जाए तो वह अपनी मौत आप मर जाएगा. संस्कृत के बारे में हमें चाहिए

●

भारतीय नारी की धार्मिक यात्रा

चिरंजीलाल पाराशर

धर्म के ठेकेदारों द्वारा पग पग पर अपमानित

इतिहास साक्षी है कि नारी की धार्मिक यात्रा सदैव संकटपूर्ण ही रही। उसे धर्म के ठेकेदारों द्वारा बुने गए तानेबानों में ही उलझे रहना पड़ा। कभी उसे पुरुष के धर्म से अलग किया गया, तो कभी सम्मिलित किया गया। भारत में ही नहीं, संसार के प्रायः प्रत्येक देश में उसे पददलित किया गया।

भारत की तरह बेबीलोनिया के मंदिरों में भी उसे देवताओं के आगे नचाया गया। मिस्री देवताओं को प्रसन्न करने के लिए भी उसे नृत्य करना पड़ा। ईरानी देवताओं ने भी उस पर नूपुरों की झनकार सुनी। पति के साथ जीवित ही जलना अथवा समाधिस्थ होना तो प्रायः प्रत्येक देश में प्रचलित था ही। अब से चार हजार वर्ष पूर्व की अस्ताई पर्वतमाला में हूण सरदारों की कब्रें और मिस्र के पिरामिड गवाह हैं कि महंतों की व्यवस्था के अनुसार नारी को जीवित ही मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़ता था। संभवतः हूणों की इसी प्रथा को भारत में अपनाया गया, जो लार्ड विलियम बेंटिन्क के काल तक जारी रही।

धार्मिक यात्रा वनाम अधोगति

हिंदू धर्म में नारी की जितनी अधोगति हुई, उसे देख कर हृदय कांप उठता है। उस के लिए धार्मिक नेता कोई राह निश्चित कर ही नहीं सके।

रामायण काल में जहां एक ओर

सीता की पतिभक्ति की प्रशंसा महर्षि वाल्मीकि ने की, वहां महाभारत काल में द्रौपदी के पांच पति होने का किसी ने भी विरोध नहीं किया और न ही किसी ने कृष्ण की सोलह सौ रानियों पर आपत्ति की!

एकपत्नीवाद : बहुपत्नीवाद

एक ओर लक्ष्मण बड़े भाई राम की पत्नी सीता के मुख की ओर न देख कर सदा चरणों की ओर देखते हैं, युगपुरुष राम एक पत्नीव्रती हैं, दूसरी ओर राम के पिता दशरथ बहुपत्नीवादी सिद्धांत के समर्थक हैं। धर्म के ठेकेदारों ने राम के एक पत्नीव्रती होने की प्रशंसा अवश्य की है, लेकिन साथ ही बहुपत्नीवादी दशरथ की निंदा भी कभी किसी ने नहीं की।

राम केवल धोबी के ताने पर सीता को त्यागते हैं, दूसरी ओर महर्षि व्यास को पांडव वंश चलाने के लिए आमंत्रित किया गया और उस कार्य पर धार्मिक छाप लगाई गई।

इन दोनों ही कालों में नारी विभिन्न रूपों में पुरुष की दासी रही। सीता और द्रौपदी की दासता में कोई विशेष अंतर नहीं था। पुरुष के हाथों में सत्ता थी, सीता को वह बंड दे सकता था, किंतु महर्षि पाराशर को बंड देने की व्यवस्था धार्मिक ठेकेदार नहीं कर सकते थे।

भारतीय पुराणों में व्यभिचार की हजारों कहानियाँ हैं, जिन पर धार्मिक छाप लगाई गई. नारी को केवल विलास की वस्तु मानने से उन्होंने कभी इनकार नहीं किया. यही नहीं, प्रत्येक काल में विलासिता को स्थायी रखने के लिए साहित्य को अश्लील किया जाता रहा. हिंदी अथवा संस्कृत साहित्य में ही यह अश्लीलता नहीं मिलती, उस से भी पहले प्राकृत भाषा की पुस्तकों में भी अश्लीलता भरी पड़ी है, अश्लीलता का यह दौर प्राकृत के बाद ही संस्कृत में आया.

धार्मिक नेताओं ने नारी को यहीं तक घसीट कर नहीं छोड़ दिया, अपितु उसे धार्मिकता के मठों और मंदिरों में भी ले दौड़े. इस काल में मंदिरों की मूर्तिकला में नग्न सौंदर्योपासना की प्रणाली प्रचलित हुई. इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि कला में इस प्रकार के परिवर्तन बौद्धों की वज्रयान शाखा से बहुत पहले ही हिंदू धर्म में शुरू हो गए थे. इस के अतिरिक्त यह भी सत्य है कि हिंदुओं की यह नग्न कला बौद्धों की लड़िया कला के प्रभाव से सर्वथा स्वतंत्र है. परंतु ताक्षिक भास्कर्य में विशिष्ट अग्रगण्य रूप वज्रयान तांडव के समय से ही प्रतिष्ठित हुआ, क्योंकि उड़ीसा के सारे कामुक दृश्यों का तक्षणकाल वज्रयान के बाद का ही है. इन में से एक भी छठी शताब्दी या उस से पूर्व का नहीं है.

धार्मिक नग्नता

कला में नग्नता का समावेश हिंदू धर्म के ठेकेदारों ने किसी न किसी रूप में द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में ही आरंभ करा दिया था. उन के विचारों में बहुत पूर्व ही यक्ष और यक्षिणियों की कामुक मूर्तियाँ घर कर चुकी थीं. संभवतः यही कारण था कि 'रघुवंश' की रचना के समय महाकवि कालिदास की दृष्टि अयोध्या के

राजप्रासाद के रेलिंग स्तंभों पर बनी प्रोषितपत्तिकाओं की ओर गई, क्योंकि 'रघुवंश' में उन्होंने इस का वर्णन किया है.

कुषाण और गुप्तकाल तक यक्ष और यक्षिणियाँ प्रेम और काम की प्रतीक बन चुकी थीं. कुषाणकालीन वैदिक स्तंभों पर जो यक्षमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वे सर्वथा नग्न हैं. उन के नग्न शरीर पर केवल पैरों पर एक वस्त्र की लकीर डाल दी गई है, जिस से वस्त्र पहनने का आभास मात्र होता है. वह लकीर केवल पैरों तक ही सीमित है और उस से निर्दिष्ट वस्त्र का स्तन के ऊपरी अंगों पर कहीं नामनिशान भी नहीं है. उन में नारी के खुले अंगों का निर्देशन किया गया है.

हिंदू धर्म की ये नग्न प्रतिमाएं अधिकतर वसंत की सज्जा से सजी हुई हैं और आभ्रमंजरी, मदिरापान तथा चषक धारण किए हुए हैं.

ये अधिकतर अशोक वृक्षों के नीचे दोहद तथा अन्य मुद्राओं में खड़ी हैं. एक विशिष्ट मुद्रा में इन चरणों के नीचे प्रायः एक पुरुष—वामन—कुचला पड़ा रहता है. उस की जिह्वा और आँखें कण्ट के कारण बाहर निकली रहती हैं.

बताया जाता है कि ये यक्षिणियाँ वासना की प्रतीक हैं और पुरुष इंद्रिय-लोलुप तृष्णा का. पुरुष वह वामन है, जो अपनी ही वासनाजन्य कामुकता के भार से कुचला जा चुका है और उस की वासना नारी का रूप धारण कर उस पर खड़ी नग्न तांडव कर रही है.

परंतु इस कामुक प्रदर्शन का भाव अथवा लाभ क्या है? इस का उत्तर केवल यही हो सकता है कि हिंदू धर्म के ठेकेदार नारी को वासना के जाल से मुक्त नहीं होने देना चाहते थे.

भारतीय नारी जिस समय मुक्ति की आकांक्षा लिए महात्मा बुद्ध के द्वार पहुंची और उस की असहाय अवस्था से द्रवित हो कर भिक्षु आनंद ने उन से उसे भी अपने

साथ मुक्तिपथ पर ले चलने की याचना की, उस समय उन्होंने कई बार आनंद को चेतावनी दी कि संघ में नारी का प्रवेश संघ की मृत्यु का कारण बनेगा और हजार वर्षों तक चलने वाला संघ पांच सौ वर्ष भी नहीं चल सकेगा। लेकिन अंत में आनंद के हठ के आगे बुद्ध को झुकना पड़ा और नारी संघ में दीक्षित हो गई।

धार्मिक स्थल : विलास स्थल

बौद्ध धर्म में प्रवेश के बाद नारी के अधिकारों का रहासहा स्तर भी गिर गया। कुछ ही दिन बाद बौद्ध संतों ने भी नारी को केवल विलास की वस्तुओं में गिनना आरंभ कर दिया और उन की यह विलास-लीला तोत्र गति से सारे भारत में फैलने के बाद विदेशों में भी पहुंच गई। उस काल में देश में कई आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए, नारी का आकर्षण ही परस्पर शत्रु—बौद्ध और ब्राह्मण—धर्मों को समीप लाया और देखते ही देखते बौद्धों के मठ और ब्राह्मणों के मंदिर तपस्या की अपेक्षा विलासस्थल बन गए। उसी काल में हिंदू मंदिरों की भित्तियों पर भोग के चित्रों को पुनः उत्कीर्ण किया गया।

सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक का यह काल तंत्रयुग के नाम से विख्यात हुआ। इसी काल में बौद्ध और शैव मंदिरों की समस्त पाषाणकला शृंगारपूर्ण हुई।

उत्सुक दर्शक और धर्मांध उपासक भुवनेश्वर के कुछ मंदिरों के शृंगारिक दृश्यों को देख कर चकित रह जाते हैं। ये दृश्य मंदिर और जगमोहन, दोनों ही की दीवारों पर बाहरी ताकों की एक शृंखला में उत्कीर्ण हैं।

वासना के ये दृश्य जगन्नाथ मंदिर पर कुछ निस्तेज और अनाकर्षक लगते हैं। परंतु भुवनेश्वर के कुछ मंदिरों पर वे बहुत साफ और आकर्षक हैं। कोणार्क के सूर्य मंदिर की तो बात ही निराली है। वहां उन की कामोत्पादक शक्ति की

सराहना करने के बजाए लोग त्राण मांगने लगते हैं।

इस संपूर्ण शृंखला में कामुकता का नग्न तांडव है और अकस्मात् हृदय में यह प्रश्न उठता है कि इन पावन देवालियों की भित्तियों पर, और विशेषकर जगन्नाथ के मंदिरों पर, इन अश्लील चित्रों के बनाने का क्या तात्पर्य था? इस बारे में धर्म-शास्त्री सदा मौन रहे।

बौद्ध धर्म में नारी का विश्लेषण करने से पहले यह देखना आवश्यक है कि नारी के संघ में प्रवेश करने के बाद उस में क्या-क्या परिवर्तन हुए। वज्रयान से पहले महायान का पीछा जब भारत में उगा, तो वह अपने साथ अनेक बौद्ध मूर्तियां भी लाया। कुषाणकालीन नग्न यक्ष मूर्तियों के टुकड़े पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। यक्ष, किन्नर आदि अर्द्धदेवों की संख्या में वृद्धि के साथसाथ धार्मिक क्रिया विधियों में भी वृद्धि हुई। इन उलझीमुलझी क्रियाओं के साथ रहस्यमय मंत्रों का जन्म हुआ।

इस समय तक कुषाण और गुप्तकाल की यक्षिणियों का कामप्रदत्त परिवार खूब फूलफल चुका था। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में कुषाणकालीन भरहुत स्तूपों की रेलिंग पर खुदी मूर्तियां इस का प्रमाण हैं। सांची और भरहुत के ये स्तूप बुद्ध या उन के अग्र्य रूपों अथवा शिष्यों के जीवन में घटी विशेष घटनाओं के स्मारक हैं। परंतु आश्चर्य की बात नग्न यक्ष मूर्तियों का सामने खुदा होना है! उन के पिछले भागों पर बौद्ध जातक कथाएं खुदी हैं, जो बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंधित हैं और जिन से परोपकार का सतत प्रयत्न करते हुए तथागत की बोधप्राप्ति दिखाई गई है।

बहुजन हिताय : बहुजन सुखाय

इस काल में ऐतिहासिक बुद्ध सर्व-शक्तिमान देवता बने और बौद्धधर्म एक नए युग में प्रविष्ट हुआ। लंबे सूत्रों को फिर छोटा किया गया। बाद में इन की

और कांटछांट कर मंत्रों का निर्माण हुआ।

ठीक इसी समय योमा का समुदाय प्रकट हुआ और अधिकाधिक लाभकर कायिक प्रक्रियाओं में होने लगा। हठयोग अपनी घोर यातनाभरी प्रतिक्रियाओं से दर्शकों में श्रांतक भरने लगा।

मंत्रयान के भेदभरे सिद्ध और साधक विहारों में बैठेबैठे हठयोग की क्रियाओं द्वारा अलौकिक शक्तियों का संचय करने लगे। सम्मोहन और उच्चाटन की क्षमता उन में वैसी ही आने लगी, जैसी कि मैस्मेरिज्म और हिप्नाटिज्म में पाई जाती है।

हठयोग का जादू चला। मठों और विहारों के प्रांगण सिद्धों के प्रयोग से चकित व मुग्ध नरनारियों से भर चले। मठों में धन बरसने लगा और सुंदर तरुणियों के समुदाय संकेत मात्र से आकर्षित होने लगे। उस समय हठयोगी का जीवन मंत्र और मंथन के बीच ही व्यतीत होता था।

वज्रयान : कामुकता का विपुल घोष

वज्रयान में तो और भी घृणित प्रयोगों का दौर चला। सातवीं शताब्दी में उड़ीसा के श्रीपर्वत पर कामुकता का विपुल घोष हुआ। इस काल में समाज के प्राचीन स्तरों को चुनौती देता हुआ वज्रयान आरूढ़ हुआ। इस के सिद्धों ने खुलेआम स्त्रीप्रसंग की प्रशंसा की और उन के अपने घृणित प्रयोगों ने कामुकों में साहस भर दिया।

चौरासी सिद्धों की संस्था ने रतिशैली की संस्था पर अपनी छाप डाली। इन सिद्धों के जीवन पर मंत्र, हठयोग, मद और स्त्रियों का विशेष रंग चढ़ा। 'भालतीमाधव' में भवभूति द्वारा निर्दिष्ट श्रीपर्वत वज्रयानियों का निवास बन गया और उस पर्वत को वज्रपर्वत की संज्ञा मिली। इसी पर्वत पर तंत्ररहस्य में अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उन में मायाजालतंत्र, गुह्य-समाजतंत्र, महासमयतत्त्व, भूतचामर, वज्रामृत, चक्रसंवर द्वादशचक्र, मेरुकाभ्युदय,

महामाया, पदनिक्षेप, चतुषष्टि परामर्द, पुरीचरंभ, सातसुखसमुत्तम, माया-मारीचकल्प, हेरंबकल्प, विस्मयकल्प, वज्रगंधारकल्प आदि मुख्य हैं।

वज्रयानी तर्क के अंतिम छोर तक पहुंचे। उन्होंने माता, पुत्री, पत्नी, भगिनी तक में अंतर न डाला। नारी मात्र उन की कामतृप्ति का साधन बनी। परंतु एक बात आश्चर्य की है कि जहां ये वज्रयानी संत कामुकता के खुले उपासक थे, वहां उच्चतम साहित्य के प्रकांड पंडित भी थे। आन्वीक्षिकी, हठयोग, मोहनादि प्रयोगों के बल पर उन्होंने अपनी ऐसी धाक बैठा दी, जिस का लोहा राजा तक मानते थे। किसी भी राजा में सिद्धों का विरोध करने की क्षमता न थी। यदि वे उस से उस की पत्नी या पुत्री भी मांगते थे, तब भी वह उन का विरोध नहीं कर सकता था। ग्यारहवीं सदी तक उन का बोलबाला रहा। ठीक यही समय था जब उड़ीसा के काम-चिन्हित मंदिर—विशेषकर पुरी और कोणार्क—बने।

शाक्त समुदाय

पूर्वी बंगाल में शाक्त समुदाय का बोलबाला था। वहां का कुछ तांत्रिक साहित्य ईसा से पूर्व का भी है। स्वयं शक्ति की उपासना भी प्राचीन है। ऋग्वेद में ही वाग्ध्रणी विश्व की शासन डोर अपने हाथ में ले लेती है।

परंतु कामाख्या का शाक्त समुदाय विशेष रूप से तभी फैला, जब उड़ीसा की पहाड़ियों पर वज्रयान का समुद्र लहराने लगा। शाक्त धर्म का प्रचार भी बहुत कुछ वज्रयान के अनुरूप ही हुआ। और जब बोधिसत्त्व की पत्नी तारा, जो बौद्धों की प्रज्ञापयिताओं में से एक थी, स्वयं एक शक्ति मान ली गई और शाक्तों ने उस की आराधना आरंभ कर दी, तब दोनों बहुत ही निकट आ गए।

शाक्त समुदाय में भी वज्रयान की ही

मांति अनेक परिवर्तन हो गए, तांत्रिकों से के साधनों से अनेक रूप धारण कर रहे थे।
 कापालिक निकले और फिर वे अघोरपथी
 आए, जिन के काम और वासनायुक्त
 आचरण सर्वथा वज्रयानियों जैसे थे।

धीरेधीरे मनुष्यसंभूत देवी ने प्रतिमा
 (विग्रह) का स्थान लिया और वह
 तंत्र संप्रदाय कामाख्या पर्वत से काशी
 विध्याचल की ओर बढ़ चला। आज भी
 काशी का नेपाली मंदिर कामाख्या अपने
 काष्ठचित्रों द्वारा उस संप्रदाय की घोषणा
 करता है।

इस प्रकार जब उड़ीसा के मंदिर
 अपनी भित्तियों पर कामिनियों का वसन
 धारण कर रहे थे, ठीक उसी समय आंध्र,
 उड़ीसा, बंगाल और असम में धर्म का
 ऐसा एक स्तर बन चुका था, जिस के रंग-
 मंच पर भेदभरे सिद्ध मदिरा और नारी

कामुक आचरण ही पूजा के अंग

बौद्ध धर्म का प्रधान संप्रदाय वज्रयान
 उड़ीसा के धार्मिक जीवन का एकमात्र
 शासक था। यह वह समय था जब मदमयी
 वासना पुण्यात्मक धर्म का एक अंग बनाई
 जाती थी। अपनी उसी कुंठित विचारधारा
 को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने मंदिरों
 के निर्माताओं को अपनी ओर खींच लिया
 और उड़ीसा के हिंदू मंदिरों पर कामुकता
 की छाप डाल दी, ताकि बाद की जनता
 भी उन के आचरणों को पूजा का अंग
 समझे, अतः बौद्ध धर्म की दोक्षा ले लेने
 पर नारी की ओर भी अधिक दुर्गति
 हुई।

सरिता मुक्ता के रिप्रिंट्स सेट

सेट नं. 1 : प्राचीन हिंदू संस्कृति, शंबूक वध, अतीत का मोह, पुरोहित-वाद, गौपूजा, हमारी धार्मिक सहिष्णुता, कृष्णनीति : हमारा नैतिक पतन, ज्ञान की कसौटी पर परलोकवाद, राम का अंतर्द्वंद्व, राम का अंतर्द्वंद्व : आलोचनाओं व आपत्तियों का उत्तर, भारत में संस्कृति का ब्राह्मण नियंत्रित विस्तार, हिंदू धर्म, संस्कृत, भारतीय नारी की धार्मिक यात्रा, कर्ण, भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा, तुलसी और वेब, रामचरितमानस में ब्राह्मणशाही, युगोंयुगों से शोषित भारतीय नारी, अष्टाचार, रामचरितमानस में नारी, सत्यनारायण व्रत कथा, क्या नास्तिक मूर्ख हैं? गांधीजी का बलिदान, यज्ञोपवीत, जंत्र तंत्र मंत्र, कर्मयोग, गरुड़ पुराण, ईश्वर, आत्मा और पाप, कितना महंगा धर्म, सरिता और हिंदू समाज.

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 2 : कितना महंगा धर्म : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, कितना महंगा धर्म (निर्णय), राम कथा व सीता चरित्र. सरिता और हिंदू समाज, तुलसी साहित्य : अनुवादों की सफल नुमाइश के सिवा क्या है? तुलसी साहित्य : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, हिंदूओं के मंदिर कैसे हों? रावण, रामचरितमानस के अविश्वसनीय प्रसंग, रामचरितमानस के कुछ असंगत स्थल, श्रीकृष्ण, गीता : कर्मवाद की व्याख्या या कृष्ण का आत्म प्रचार, क्या कौमार्य-रक्षा दकियानुसी है? कृष्ण और राधा, श्रीमद्भागवत, भागवत और भूगोल, समाजवाद बनाम स्वतंत्रता, कामायनी, हिंदू विवाह पद्धति, पुत्रेष्टि यज्ञ, तुलसीदास और हिंदू समाज, हिंदी साहित्य का गलत इतिहास, धनुषयज्ञ, कृष्ण और गोपियां, हमारे देव मंदिर, क्या समाजवाद अनिवार्य है? विवाह पूर्व यौन संबंध, श्रीकृष्ण : अपने जीवन की संध्या में, सताई गई नारी, कृष्ण और कुब्जा.

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 3 : सिपाही क्यों लड़ता है, प्रेम पत्र न लिखिए, डायरी न लिखिए, इस्लाम और स्त्री, योगी अरविंद, गीता में अंतर्विरोध, गायत्री मंत्र, गायत्री मंत्र : आलोचना व आपत्तियों के उत्तर, ट्रेड यूनियन, संसद सदस्य श्री चांदर वाला केस : मुकदमे की काररवाई, सेशन जज का निर्णय, उच्च न्यायालय का निर्णय, सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय, घाटे वाले बालाजी, आखिरत की भटकलें, हिंदी साहित्य की बपौती, भोष्म, मुसलिम विवाह, भगवान श्री रजनीचर, महाभारत की ऐतिहासिकता, महाभारत की ऐतिहासिकता : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, रेंट कंट्रोल एक्ट एक विफल कानून, आप की लड़की प्रेम करती है, यूनियन, सौंदर्य प्रतियोगिता, वैज्ञानिक ज्ञान बनाम अध्यात्म ज्ञान, पूंजीपति, नियोग, सरिता और हिंदू समाज.

मूल्य 5 रुपए

कर्ण

रामेश्वराचार्य शास्त्री

हमारे आदर्श पुरुष का निरादर क्यों?

दो पावली की जगमगाती रात में भारत के जुआरी जिस महान पुरुष का नाम ले कर पासा फेंकते हैं और जुए जैसे कुकर्म में विजय प्राप्त करने के लिए जिस पक्के जुआरी का नाम रामबाण समझा जाता है, वह युधिष्ठिर हम भारतीयों में आदर्श पुरुष माना जाता है। अपने युग का सब से बड़ा जुआरी युधिष्ठिर जीवन भर झूठ बोल कर भी कैसे धर्मराज बन बैठा और अपने प्राण तक दे डालने वाला दानी-शिरोमणि महावीर कर्ण समुचित आदर पाने से क्यों वंचित रह गया, क्यों कर्ण को राष्ट्र का आदर्श पुरुष नहीं माना गया, यह विचार करने योग्य प्रश्न है।

हमारे इतिहासकारों, पुराण लेखकों तथा महाकवियों के स्वभाव की यह कैसी घोर विडंबना है कि राष्ट्र को स्फूर्ति, बल, आत्मसम्मान तथा सत्यनिष्ठा की प्रेरणा देने वाले महामना कर्ण को तो उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया और जीवन भर अशोभनीय व्यवहार करने वाला युधिष्ठिर धर्मपुत्र, धर्मराज, पुण्यश्लोक आदि उपाधियों से विभूषित होने के साथसाथ पूरे राष्ट्र के लिए आलोक स्तंभ भी कहलाने लगा!

यदि कोई दुकानदार तराजू के एक पलड़े में एक सेर का वजन का बाट तो रखता है, किंतु ग्राहक की आंख बचा कर कम तोलने की कला के चमत्कार से धर्म के दोगुने कर रहा है तो उस की यह

दुष्टता पकड़ना अधिक कठिन नहीं है। कोई भी खुली आंखों वाला सतर्क व्यक्ति उस की इस चालाकी का तुरंत ही भंडा-फोड़ कर सकता है, किंतु जिस दुकानदार ने एक सेर के बाट को घिसघिसा कर पंदरह छंटाक का ही बना रखा हो, उस की शैतानी तब तक नहीं पकड़ी जा सकती, जब तक उस की दुकान से लिए हुए माल को प्रमाणित बांटों से दोबारा तोल कर न देखा जाए। ठीक इसी प्रकार कम नापने में कुशल बजाज के हाथ से तो गज छीन कर ठीक नाप लिया जाएगा, किंतु जिस ने अपने गज को काट कर छोटा कर रखा हो, उस के हथकंडों से छुटकारा पाने के लिए एक प्रमाणिक गज का होना अत्यंत आवश्यक है।

हमारे प्राचीन पथप्रदर्शकों ने, यदि जानबूझ कर नहीं, तो अनजाने में ही सही, ऐसे अनेक व्यक्तियों को राष्ट्र का आदर्श पुरुष घोषित कर रखा है, जिन का चरित्र घिसे हुए बाट तथा कटे हुए गज से किसी भी तरह कम नहीं हैं, युधिष्ठिर भी एक ऐसा ही चरित्र है।

हिंदू संस्कृति के आरंभिक युग में कवि ईमानदार लोगों की प्रशंसा किया करते थे। सत्यनिष्ठ हरिश्चंद्र और रतिदेव जैसे चरित्रों की चर्चा उन्होंने राष्ट्र सेवी कवियों की सूझबूझ का उदाहरण है। किंतु आगे चल कर राज्याश्रित कवियों ने न्याय एवं नीति की प्रशंसा करनी बंद

कर दी और अपने अपने धर्मपुत्रों को उचित अनुचित सभी कामों का गुणगान करने में ही अपने आप को कृतकृत्य मान लिया। उन के इस विश्वासघात से हमारे राष्ट्र को आज तक चरित्रहीनता के दलदल में छटपटाना पड़ रहा है।

कैसी धर्मनिष्ठता?

हमारे सर्वश्रेष्ठ वीरकाव्य महाभारत के नायक युधिष्ठिर भी अपने दूसरे भाइयों की तरह अपनी मां के पति पांडु के जीवित रहते किसी दूसरे उपपति (धर्म) से उत्पन्न जारज संतान तो थे ही, उन का अपना चरित्र भी सचाई व ईमानदारी का नहीं था। युधिष्ठिर की माता कुंती के गर्भ से उस के कौमार्य काल में उत्पन्न कर्ण ने जिस प्रकार लोकोत्तर पुरुषार्थ के बल पर अपने आप को उस समय का सर्वोत्तम चरित्रवान व्यक्ति बनाने की प्रबल साधना की और 'देवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्' कह कर संसार के सभी झूठे धर्मडियों के हृदय पर अपने नैतिक स्वरूप की अमिट छाया छोड़ी, उस प्रकार का प्रयत्न युधिष्ठिर ने जीवन में एक बार भी नहीं किया।

युधिष्ठिर के चरित्र को सब से पहले प्रकाश में लाने वाली घटना है द्रौपदी का बंटबारा। युधिष्ठिर के छोटे भाई अर्जुन ने अपने पौरुष व पराक्रम के बल पर भरी सभा में मत्स्य वेध कर के द्रौपदी को जीत लिया। पर द्रौपदी के आकर्षण से प्रभावित हो धर्मपुत्र ने घर पहुंच कर अपनी मां से अर्जुन का विवाह हो जाने की बात नहीं कही, अपितु बहुत चालाकी के साथ कहा, "मां आज हम एक बहुत सुंदर वस्तु लाए हैं!" इस पर कुंती ने बिना देखे ही वह चीज सब को आपस में बांट लेने की सलाह दे दी और उस 'मातृवचन' की आड़ ले कर युधिष्ठिर ने द्रौपदी को न केवल अपनी और अर्जुन की, बल्कि पांचों भाइयों की समान रूप से भोग्या बना कर ही

उन की संभली उस के तत्पुत्रस कवियों ने उस के इस अमानवीय कृत्य को भी धार्मिकता की चरम सीमा बनाने की वृष्टता की।

राजकुमार भरत के सामने भी तो माता कैकयी का आदेश था, परंतु क्या उस ने राज्य लिया? कुरु वंश के निःसंतान रह जाने पर राजमाता सत्यवती ने जब भीष्म से यह अनुरोध किया कि वह वंश चलाने के लिए अपने भाइयों की पत्नियों से संतान उत्पन्न करें, तो उन्होंने ऐसा अनैतिक काम करने से स्पष्ट इनकार कर दिया।

प्रह्लाद, विभीषण, भरत और बलि जब सिद्धांत की रक्षा करने के लिए पिता, भाई, माता एवं गुरु का विरोध कर सकते हैं और ऐसा करने के बाद भी वे धर्मात्मा बने रह सकते हैं, तब फिर युधिष्ठिर को ही मां की अनैतिक आज्ञा का विरोध करते क्यों डर लगा? और वह तो मां का कोई आदेश भी नहीं था। वस्तुस्थिति से सर्वथा अनजान कुंती ने कोई खानेपीने की चीज समझ कर ही बांट खाने को कह दिया होगा।

वास्तविकता यह है कि बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह हो जाना उन दिनों कुल के लिए कलंक की बात समझी जाती थी। स्वयं को इस कलंक से बचाने के लिए ही युधिष्ठिर ने संभवतः यह सब जाल फैलाया था। राजकुमार भीष्म ने भी काशीनरेश की कन्याओं का अग्रहरण किया था, किंतु उन्होंने बिना किसी मोह के वे कन्याएं अपने भाइयों को भेंट कर दी थीं। किंतु अर्जुन अपना मारा हुआ शिकार युधिष्ठिर को मुफ्त में देने को तैयार नहीं हुआ होगा या फिर द्रौपदी का एक बटा पांच पति बनने में भी उसे लाभ नजर आया होगा, तभी उस गांडीवधारी योद्धा ने भी स्वाभिमान को एक ओर रख कर सिर झुका दिया। यह भी संभव है कि गृहकलह से बचने के लिए अर्जुन ने यह स्वीकार कर लिया हो।

आश्चर्य की बात तो यह है कि अपने

छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी को अपने घर में रख लेने का आराप लगा कर, बाल को तो राम जान से मार डालें और छोटे भाई नहीं, बल्कि पूरे चार छोटे भाइयों की पत्नी की इज्जत पर खुलेआम डाका डालने वाला युधिष्ठिर कृष्ण का सब से अधिक कृपापात्र एवं आदरणीय महापुरुष कहलाए! पक्षपात की कैसी पराकाष्ठा है!

जुए जैसे कुकर्म में युधिष्ठिर ने दांव पर लगा कर केवल अपना राजपाट ही चौपट नहीं किया, बल्कि अपने चारों भाइयों सहित उन की साझे की पत्नी द्रौपदी तक को बाजी में हार कर अपने पक्के जुआरीपन का प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। द्रौपदी की लाज रखने वाले कृष्ण ने इस कुकृत्य के लिए युधिष्ठिर को कहीं भी जरा भी डांटफटकार नहीं दी।

सच क्या है?

कहा जाता है कि युधिष्ठिर ने आचार्य द्रोण का क्रूर वध करते समय 'अश्वत्थामा युद्ध में मारा गया, मनुष्य मारा गया हो या हाथी' कह कर अपने जीवन में केवल यही आधा झूठ बोला था। किंतु राजा विराट के यहाँ अपने अज्ञातवास का एक वर्ष बिताने की तैयारी करते समय उन्होंने चारों भाइयों तथा द्रौपदी का झूठा नाम-धाम बताने का जो पाठ पढ़ाया था और अपने नाम, जाति तथा व्यवसाय का एकदम गलत परिचय दे कर राजा विराट को जुआरा सिखाने की लंछी अवधि में उसी झूठ को जो अनेक बार दोहराया होगा, उस सब की गिनती किसी भी इतिहासकार अथवा प्रशस्ति लेखक ने नहीं की। जिस व्यक्ति के रथ का पहिया जमीन से एक बालिशत ऊंचा ही रहता हो और 'नरो वा कंजरो वा' कहते ही सजा के तौर पर जिस का रथ जमीन पर चलने लगा हो, उस चमत्कारपूर्ण व्यक्ति को झूठा कहा भी कैसे जा सकता है?

वास्तव में युधिष्ठिर को विजय नहीं,

श्मशान का चौधरीपन ही प्राप्त हुआ था, इसी लिए वह जनसाधारण की मुंह दिखा सकने में असमर्थ रहा और चुपचाप हिमालय की बरफ में गल कर उस ने आत्म-हत्या के एक परिष्कृत रूप की ही अंत में शरण ली। राज्य त्याग कर वन की ओर जाते हुए राम के पीछे अयोध्या की सारी प्रजा रोतीबिलखती दौड़ पड़ी थी, किंतु सारे भारत वर्ष में से पांडवों के साथ गया केवल एक कुत्ता! पांडवों का मन रखने के लिए कवियों ने उस कुत्ते को धर्म का अवतार बता कर संतोष कर लिया। पता नहीं, ऐसे थोथे तथा कच्चे चरित्र वाले व्यक्ति को राष्ट्र के पुण्यश्लोक, आदर्श महापुरुषों में किस लिए सम्मिलित कर लिया गया? क्या उन जैसे आचरणों द्वारा किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के उत्थान में तनिक भी सहायता मिल सकती है?

महाभारत के उस चारित्रिक ग्रंथकार-पूर्ण युग में एक अत्यंत उपेक्षित महावीर का चरित्र आज भी उज्ज्वल मणिद्वीप की भांति जगमगा रहा है। अपने युग का वह सर्वश्रेष्ठ आदर्श महापुरुष था सत्य-निष्ठ, प्रबल पराक्रमी, दानवीर कर्ण।

छलकपट का आश्रय ले कर कायरता-पूर्वक उस का वध किया गया और केवल विजयी, धूर्त व्यक्तिओं का ही गुणगान करने वाले चाटुकार खुशामदी कवियों ने हारे हुए कर्ण को आदर्श पुरुषों की पंक्ति से बाहर खड़ा कर दिया, जैसे सदाचार और चरित्र नहीं, बल्कि जैसेतैसे जीत जाना ही मानव की चरम सीमा हो।

महात्मा कर्ण का जीवन सदाचार, सत्य, शौर्य, स्वाभिमान तथा त्याग का जीवन है। धरती पर पहली सांस लेते ही उसे जन्म देने वाली कुंआरी माता कुंती ने पत्थर का कलेजा कर के नदी की गोद में सुला दिया और सूर्यपुत्र कर्ण सूतपुत्र कहलाया।

वंश की उच्चता और कुलीनता का अभिमान जन्म के साथ ही उस से छीन लिया गया। बचपन से ही उसे रथ हांकने

वाले का छोकरा कह आगमगुह Digital Preservation Foundation, Chandigarh
स्कारपूर्ण ही था। ऊंचनीच के भेदभाव भरे वाताररण में गुह द्रोण जैसे निस्पृह विद्वान उस उत्साही बालक को शस्त्र-संचालन की सर्वांगपूर्ण शिक्षा केवल इसलिए नहीं दे सके कि वह उन की दृष्टि में राजकुमार न हो कर एक सामान्य रथ हांकने वाले शूद्र का पुत्र था। किंतु कर्ण में स्वाभाविक प्रतिभा थी। सहज बल था अतः जातिविद्वेष के उस युग में उस ने केवल ब्राह्मणों को ही शस्त्रविद्या सिखाने के हठी परशुराम से संपूर्ण शस्त्रविद्या सीखी और ब्राह्मणत्व की परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर दिखाया, परंतु उस की सहिष्णुता को परशुराम सहन नहीं कर सके और उस योग्यतम शिष्य को भी उन के जाति-द्वेषी क्रोध का भाजन बनना पड़ा।

बलाभिमान को चुनौती

जिस समय अर्जुन अपने बलाभिमान के कारण रंगस्थल में सगर्व खड़ा हुआ अपने साथ युद्ध कर सकने वालों को ललकार रहा था, उस समय इसी प्रबल पराक्रमी कर्ण ने उस की चुनौती स्वीकार की, परंतु उस से डर कर युद्ध से बचने के लिए अर्जुन ने उसे 'सूतपुत्र' कह कर अपमानित किया और कुंती सब कुछ जानते हुए भी चुप बैठी रही।

गुणग्राही दुर्योधन ने कर्ण को उसी समय अंग देश का राजा घोषित कर दिया। कृतज्ञ कर्ण भी जीवन भर इस उपकार के बदले उस का सच्चा मित्र बन कर रहा।

अपने स्वयंवर में द्रौपदी ने भी उसे 'सूतपुत्र' कह कर मत्स्यवेध की प्रतियोगिता में सम्मिलित नहीं होने दिया था।

इस तरह पगपग पर अपमानित कर्ण ने जब पांडवों को राज्याधिकार का झूठा दावा करते देखा, तो केवल दुर्योधन की मित्रता के कारण ही नहीं, न्याय की दृष्टि से भी, उस ने दुर्योधन का साथ

दिया। यह असंलियत है कि पांडव राज्य के अधिकारी थे ही नहीं। महाभारत स्वयं इस बात की स्पष्ट साक्षी देता है। परंतु विषयांतर न हो, इसलिए हम कर्ण की ही चर्चा करेंगे।

कर्ण को अपनी ओर मिला कर मित्रद्रोह करने की शिक्षा देने के लिए कृष्ण ने कर्ण को अन्य लालच दिखाने के अलावा यह भी प्रलोभन दिया था कि तुम्हीं पांडवों में सब से बड़े भाई समझे जाओगे। गद्दी पर तो तुम बैठोगे ही, द्रौपदी के पतित्व में भी तुम्हें समान रूप से हिंसा मिलेगा। सदाचारी कर्ण का ही यह साहस था, कि उस ने ऐसा आकर्षक, किंतु घृणित, प्रलोभन ठुकरा दिया। जिस द्रौपदी का उपभोग करने के लिए युधिष्ठिर ने उचितअनुचित के विवेक को उठा कर ताक पर रख दिया था, उसी द्रौपदी के यौवन की रिश्तत मनस्वी कर्ण को तनिक भी विचलित न कर सकी। जिस राज्य और स्त्री के पीछे पांडव पागल हो रहे थे, वे कर्ण को कर्त्तव्यपथ से तनिक भी विचलित न कर सके। जिस युग में भीष्म जैसे व्यक्ति तक स्त्रीहरण करते थे, उस समय महा-बली कर्ण ने परपत्नी की ओर आंख तक भी नहीं उठाई। इसी लिए महाभारत में उसे स्त्री जाति का हितकारी, नित्य दानी और महारथी कहा गया है :

"सदा स्त्रीणां हितो नित्यं दादा चैव महारथः"

कर्ण ने आत्मविश्वास के साथ कहा था कि मेरा धन ब्राह्मणों (याचकों) के हित में लगा, यौवन केवल पत्नी को प्राप्त हुआ और प्राण युद्धस्थल में स्वामी के काम आए :

"विप्रार्थं च धनं क्षीणं स्वदारार्थं च यौवनम्, स्वाम्यर्थं च गताः प्राणाः..."

कर्ण की मानमर्यादा को धूल में मिला कर अपनी नाक बचाने वाली कुंती कृष्ण की प्रेरणा से जब स्वयं कर्ण को समझाने पहुंची, तो उस ने कुंती का जन्मदात्री माता के समान ही सत्कार

किया। उस सारे कुटुम्ब के लिए उसे जरा भी उल्टाई नहीं दी। अपने प्रपितामह का उसे कारण नहीं ठहराया, बल्कि उस सब को भाग्य की विडम्बना कह कर उस की इच्छा पूरी की, और किसी भी याचक को निराश न लौटाने वाले उस महादानी कर्ण ने माता कुंती को पांच पुत्रों वाली ही रहने का आश्वासन दिया। अकेले अर्जुन को छोड़ कर अन्य किसी भी पांडव को न मारने का वचन दिया, और युद्ध के मैदान में उस ने युधिष्ठिर को पकड़ कर भी जीवित छोड़ दिया। कुंती को दिए हुए वचन की उस सत्यवीर ने प्राणों की बाजी लगा कर भी रक्षा की।

उत्कृष्ट दानवीरता

केवल भिखमंगों को ही नहीं, कर्ण अपनी जान के ग्राहकों को भी अपने द्वार से निराश नहीं लौटाता था। छलीकपटी देवताओं के सम्राट, ऋषिपत्नी अहल्या के सौंदर्य का सदुपयोग (?) करने वाले देवराज इंद्र अपने पुत्र अर्जुन की सुरक्षा के लिए ब्राह्मण का वेश बना कर कर्ण से कवच, कुंडल मांगने के लिए उस के द्वार पर पहुंचे। इंद्र के आने से पहले ही कर्ण के पिता सूर्य ने उसे इंद्र के षडयंत्र से अवगत कराते हुए परामर्श दिया था कि वह अपने जीवन के प्रतीक कवच और कुंडल याचक के वेश में आने वाले इंद्र को दान न करे पर कर्ण ने सूर्य के इस परामर्श को अस्वीकार करते हुए कहा था : “मैं अपने द्वार पर आए अतिथि को निराश लौटाने की अपेक्षा मृत्यु को अधिक अच्छा समझता हूँ।”

कपटी इंद्र ब्राह्मण के वेश में उस के द्वार पर आया। कवच और कुंडलों की भिक्षा मांगी, तो कर्ण ने इंद्र को उस के कपट का परिचय कराते हुए उस का स्वागत किया। अपना कपट खुल जाने से इंद्र बहुत निराश हो गया, तो कर्ण ने उसे समझाया और निराश न होने का परा-

मर्श दिया। जो अभेद्य कवच खाल के रूप में शरीर से चिपकी हुई कर्ण को जन्म से ही प्राप्त हुआ था और उस के कानों में अस्थि मांस के साथ ही जुड़े हुए जन्मजात एवं तेजपुंज जो कुंडल उस की अजेयता के कारण थे, उन दोनों ही वस्तुओं को उस दानवीर कर्ण ने तिनके की तरह तुच्छ जान कर इंद्र को दान में दे दिया।

उसी महावीर कर्ण को युद्ध भूमि में संकटग्रस्त देख कर कृष्ण ने अर्जुन को अनीति का सहारा लेने के लिए उकसाया। युद्ध के नियमों का गला घोट कर असहाय तथा निहत्थे कर्ण पर निर्लज्जतापूर्ण प्रहार कराया। जब कर्ण ने अर्जुन को युद्ध के नियम याद दिलाए तो कृष्ण ने कुटिल हंसी हंसते हुए कहा, “कर्ण, जिस समय अकेले अभिमन्यु को असहाय अवस्था में घेर कर सात महारथी उस पर प्रहार कर रहे थे, तब तुम्हारा यह धर्मोपदेश कहाँ चला गया था?”

ये शब्द कह कर कृष्ण ने उस समय चाहे बाजी मार ली हो, पर आज यदि कृष्ण इस धरती पर होते, तो उन से पूछा जाता : ‘हे धर्मरक्षक, तुम्हारी हाँ में हाँ मिलाने वाले पांडव जो कुछ भी करें, वह तो धर्म और तुम से मतभेद रखने वाले जो कुछ भी करें, अधर्म! क्या यही तुम्हारे धर्म की परिभाषा है? क्या ऐसे ही धूर्ततापूर्ण धर्म की स्थापना करने के लिए तुम अवतार लिया करते हो! सुनो, कृष्ण, अभिमन्यु का वध उस समय किया गया, जब तुम पहले महाबली भीष्म को कपटपूर्वक मरवा चुके थे, जिस समय तुम्हारा परम कृपापात्र भक्त अर्जुन शिखंडी की आड़ में खड़ा हो कर अजेय पुरुष भीष्म के शरीर को बाण से छलनी कर रहा था, 22 वर्ष के उद्दाम युवक की तरह महाकाल बत कर पांडव सेना पर टूट पड़ने वाला वह 80 वर्ष का बूढ़ा सिंह जब तुम्हारी प्रतिज्ञा की भी धज्जियाँ उड़ा रहा था, तब तुम ने हाँ, स्वयं तुम ने उस का कपटपूर्वक वध करा के अपने कुटिल-

शिरमणि होने का परिचायक था। शिरमणि का क्रियाकर्म पहले स्वयं तुम्हारे और पांडवों के पवित्र हाथों से हुआ था। उस समय तुम्हारा यह धर्मोपदेश, जो तुम ने कर्ण को दिया, कहां रह गया था?

महाभारत में तो नहीं, किंतु संहिता ग्रंथों में यहां तक लिखा है कि जब कर्ण युद्धस्थल में घायल पड़ा था, तो कृष्ण और अर्जुन दोनों ब्राह्मण का वेश बना कर भिक्षा मांगने के लिए उस के पास पहुंचे। कहते हैं, कर्ण ने स्वयं घिसटघिसट कर पास पड़ा पत्थर उठाया और अपने ही हाथों से अपने दांत तोड़ कर उन में लगा हुआ सोना उन कटुभाषी याचकों को दान में दिया।

कृष्ण द्वारा प्रशंसित

पांडवों के एकमात्र संरक्षक स्वयं कृष्ण ने कर्ण के गुणों का वर्णन करने के पश्चात् कहा था :

“नह्यद्यतास्त्रं युधि हन्यादजर्यं
अप्येकवीरो बलभित्सवजः
गांडीवमुद्यम्य भवांश्चक्रं चाऽहं
सुदर्शनम्.
न शक्तौ स्त्रवो रणे जेतुं तथा शयुक्तं
नरर्षभम्.”

(वज्र धारण करने वाला इंद्र भी युद्धस्थल में शस्त्रधारी कर्ण को नहीं मार सकता...और तो और, अर्जुन तुम और मैं भी अपने शस्त्र गांडीव और सुदर्शनचक्र ले कर युद्ध में इसे नहीं जीत सकते.)

ऐसे महापुरुषों को कष्टपूर्वक मरवा कर कृष्ण ने कैसा कार्य किया, यह अपने शब्दों में व्यक्त न कर के हम कर्ण की मृत्यु पर संजय द्वारा कहे गए शब्द उद्धृत करते हैं :

“अर्थिनां पक्षिसंघस्य कल्पवृक्षो-
निपातितः
वदानीत्येव योऽबोचन्न नास्तीत्य-
र्थितोऽर्थभिः

सन्निभः सदा सत्पुरुषः सुदृढो द्वैरे
वृषः.”

(याचक रूपी पक्षियों का कल्पवृक्ष आज टूट गया, याचकों द्वारा मांगे जाने पर जिस ने सदा 'देता हूं' यही कहा, और याचकों के लिए जिस के मुंह से कभी भी 'नहीं' शब्द नहीं निकला। जिसे सज्जनों ने सदैव सत्पुरुष माना, यह कर्ण आज युद्ध में मारा गया.)

ऐसे परम प्रतापी तथा सच्चे अर्थों में धर्मराज, त्यागवीर, धर्मवीर, दयावीर, दानवीर, सत्यवीर, युद्धवीर तथा कर्मवीर कर्ण को आदर्श पुरुष न मान कर युधिष्ठिर जैसे कापुरुष, धर्मध्वजी एवं धर्मभीरु को आदर्श पुरुष मानना कहां तक उचित है, इस का निर्णय करते समय पुराने संस्कारों में पले हुए लोगों का ध्यान द्रौपदी के चीरहरण कांड में कर्ण के मौन रहने या सहयोग देने की ओर अवश्य ही आकृष्ट होगा।

जहां तक द्रौपदी के चीरहरण के समय कर्ण के व्यवहार का संबंध है, इस दिशा में तो निकम्मे और निठल्ले पांडव ही सब से अधिक निंदा एवं घृणा के पात्र सिद्ध होते हैं। कोई भी स्वाभिमानी पति कभी भी अपनी पत्नी को जुए में हारने जैसा घृणित कार्य नहीं कर सकता और दूसरे के द्वारा होता हुआ पत्नी का अपमान तो एक नपुंसक भी बरदाश्त नहीं कर सकता। तब फिर एक ही स्त्री के सर्वाधिकारपूर्ण पूरे पांच पति होने का दावा करने वाले पांडव तो चूड़ियां पहन कर बैठ जाएं और दूसरे उदात्त चरित्र वाले लोगों को दोषी ठहराया जाए कि उन्होंने एक नारी के सम्मान की रक्षा क्यों नहीं की! जिन की नारी है, जब वे ही मुंह में दही जमाए बैठे हैं, तो किसी दूसरे को क्या गरज पड़ी है? ऐसी दशा में कर्ण को इस के लिए दोषी ठहराना तनिक भी न्यायसंगत नहीं है।

सच तो यह है कि द्रौपदी का चीर-हरण उस के अपने अपराधों का कठोरतम

दंड था. कृष्ण की भक्त होने के कारण
द्रौपदी के व अपराध जनसाधारण को
अपराध प्रतीत नहीं होते.

चक्रवर्ती सम्राट युधिष्ठिर की हृदय-
रानी बनने की सुखद कल्पना के नशे में
उस ने अपने यहां आमंत्रित महाराज
दुर्योधन को केवल जादू के घर में परेशान
ही नहीं किया, बल्कि 'अंधा और अंधे की
ओलाद' जैसे मर्मवेधी शब्द कह कर उसे
खुलेआम अपमानित भी किया. यह किसी
भी कुलीन ललना के लिए शोभा की बात
नहीं कही जा सकती.

पता नहीं, कृष्ण ने अपनी सुशीला,
साध्वी बहन द्रौपदी के इस अनुचित कार्य
की निंदा क्यों नहीं की? क्या वह ऐसा
ही धर्म स्थापित करने आए थे?

राष्ट्र के आदर्श पुरुष

वास्तव में कृष्ण और पांडव उस युग
के 'चोरचोर मौसरे भाई,' 'तू कहे न मेरी
और मैं कहूं न तेरी,' 'तुम मुझे कहो,
काजीजी, मैं तुम्हें कहंगा हाजीजी' आदि
कहावतों के जीतेजागते उदाहरण थे. और
ऐसे शिथिल आचरणों वाले व्यक्ति कभी
भी राष्ट्र के आदर्श पुरुष कहलाने योग्य
नहीं माने जाने चाहिए.

ऐसे धर्मध्वजियों के मुकाबले में हर
प्रकार से श्रेष्ठ, महामना कर्ण का चरित्र

ही स्वतंत्र राष्ट्र की प्रतिष्ठा के अनुकूल
आचरण बनाने में हम सहयोग दे सकता
है. वास्तव में वह महावीर कर्ण ही हमारे
राष्ट्र का आदर्श पुरुष कहलाने योग्य है,
जिस के विषय में कन्नड़ के लोकप्रिय
कवि पंप ने कहा है :

“नेनेयदिरण भारत दोल् इन
पेरराहमन-अंदे चित्तिदि
नेनेबोडे कर्ण नं ने नेय कर्ण नोल-
आरदोरे! कर्णेर
कर्णन कडु नन्नि, कर्ण नलवु अंकद
वर्णन भागभेदु कर्णन
मातिनील पुदिदु कर्ण रसायन मलते
भारत”

(भारत में और किसी का स्मरण न
करो, अनन्य मन से यदि स्मरण करना
है, तो कर्ण का स्मरण करो. कर्ण की
भाति कौन है महाभारत में? कर्ण की
सत्यशीलता, कर्ण का पराक्रम, कर्ण का
त्याग—कर्ण के ही त्याग से महाभारत
कर्णरसायन बन गया है.)

ऐसे कर्ण को अपने राष्ट्र का आदर्श
पुरुष मान कर ही हम अपने और अपने
स्वतंत्र राष्ट्र के नैतिक स्तर को ऊंचा
उठा सकते हैं. कोरे भावावेश और पुरानी
मान्यताओं के थोथे आग्रह में फंसे रह कर
हम युधिष्ठिर की प्रशंसा के राग चाहे
अलापते रहें, पर क्या उस के कारनामों
का अनुकरण किया जा सकता है? ●

बच्चे तीन से कम पैदा कीजिए, पेड़ पांच से अधिक लगाइए.

भारत की सब से बड़ी समस्या है गरीबी और जनसंख्या का बेलगाम बढ़ते जाना. सभी धर्म ग्रंथों में लिखा होने पर भी कि अमुक राजा या व्यक्ति अमुक पुरुष के बीर्य से, अमुक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जनता को यही भुलावा दिया जाता रहा कि संतान भगवान की देन है.

जब तक आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी चिकित्सा पद्धति भारत में नहीं आई थी, गरीबी, भुखमरी, अकाल और अनेक महामारियों के कारण जनसंख्या सीमित रहती थी. मृत्यु दर लगातार घटती जा रही है. जहां पहले 100 बच्चों में से मुश्किल से 5-10 बच पाते थे, आज 60-70 से अधिक जीवित रहते हैं.

इस सब के कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि हो रही है और इस व्याधि को भगवान और भाग्य के भरोसे छोड़ना सामूहिक आत्महत्या के समान है. 'भगवान जिसे दो हाथ देता है, उसे खाना भी देगा,' यह सिद्धांत बिल्कुल ही गलत और भ्रामक है.

यदि आप अपनी, अपने परिवार की और देश की गरीबी रोकना चाहते हैं तो बच्चे कम पैदा कीजिए. भगवान का इस में कोई दखल नहीं है. यदि गर्भ निरोधक सही प्रकार से प्रयोग में लाए जाएं तो भगवान भी किसी स्त्री के संतान उत्पन्न नहीं कर सकते.

आज के मशीनी युग में. सैकड़ों व्यक्तियों का काम एक मशीन हजार गुना गति से पूरा कर देती है. आज वही व्यक्ति शक्तिशाली व धनी हो सकता है, जिस को ऊंचे दर्जे की शिक्षा और प्रशिक्षण मिला हो. इन सब के लिए धन चाहिए. जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही धन

प्रति बच्चा कम होता जाएगा. नतीजा यह होगा कि जिन के बच्चे कम होंगे, वे उन्हें अच्छा, महंगा प्रशिक्षण दे सकेंगे.

देश में अधिक से अधिक पेड़ लगाने की भी आवश्यकता है. क्योंकि बाढ़ें अधिक आ रही हैं, नदियों और बांधों में मिट्टी भरती जा रही है, सूखा पड़ता जा रहा है, रेगिस्तान फैलता जा रहा है. लकड़ी कम और महंगी होती जा रही है.

इसलिए आप अपने बच्चों का मोह अधिक वृक्ष उगा कर पूरा कीजिए. यह निश्चय कीजिए कि अपने जीवन में आप कम से कम पांच वृक्ष अवश्य लगा कर बड़े करेंगे. बच्चे बड़े हो कर विश्वासघात कर सकते हैं, आप को कष्ट पहुंचा सकते हैं, परंतु वृक्ष सदा आप के प्रति वफादार रहेंगे, वे आप को बराबर हर वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार फलफूल देंगे, छाया देंगे, मौसम की बदलती आंखों से आप के घर की रक्षा करेंगे.

हो सकता है आप किराए के मकान या फ्लैट में रहते हों. यदि आप निचली मंजिल में रहते हैं तो वहां भी पेड़ लगा सकते हैं—और इस पर लागत अधिक नहीं आती. यदि आप केवल ऊपरी मंजिलों में रहते हैं तो वहां गमलों में पौधे लगाइए, सब्जी बोइए, बेलें चढ़ाइए. अपनी जमीन न हो तो किसी सार्वजनिक स्थान में—स्कूल, अस्पताल, बगीचा, सड़क, धर्मशाला आदि में, प्रबंधकों से अनुमति ले कर वृक्ष लगाइए. ज्योंज्यों वे बढ़ते जाएंगे, आप को एक अपूर्व संतोष, शांति और परिपूर्ति का उत्तरोत्तर अनुभव हो जाएगा.

आज ही निश्चय कीजिए :

बच्चे दो या तीन, पेड़ पांच से पचीस.

भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा

चिरंजीलाल पाराशर

नारी की दासता, अत्याचारों की करुण गाथा

पाषाण काल से वर्तमान स्पूतनिक काल तक भारतीय नारी को अनेक सामाजिक बंधनों, बर्बर अत्याचारों, अमानवीय मर्यादाओं और ऋषियोंमुनियों द्वारा खोदी गई गहरी खाइयों तथा धर्माचार्यों द्वारा बिछाए गए कंटीले झाड़ुझंखाड़ों में से गुजरना पड़ा। इस काल में नारी ने अगिनित अत्याचारों को सहन किया।

नारी की इस सामाजिक यात्रा को तीन कालों में बांटा जा सकता है। प्रथम वीर काल, द्वितीय काव्य काल और तीसरा वर्तमान काल। परंतु इन में से किसी भी काल में नारी के चेहरे पर उल्लास दिखाई नहीं देता।

यह बात बिल्कुल सच है कि नारी भारत में ही नहीं, किसी भी देश में, किसी भी काल में स्वतंत्र नहीं रही। समय के साथसाथ समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप कभीकभी उस के कठोर सामाजिक बंधनों में थोड़ीबहुत ढिलाई भले ही कभी किसी देश में की गई हो।

एक ओर जहां आर्य ऋषिगण दोबो और तीनतीन पत्नियां रखते थे, वहां दूसरी ओर आर्य नरेश रथ भरभर कर दासियों पुरोहितों और अपने दामादों को दान में देते थे। चंद्रगुप्त से ले कर सन 1948 तक भारतीय नरेशों के महल देशी और विदेशी नारियों से भरे रहे और मुगल महलों में तो तातारी बेगमों का अपना अलग ही इतिहास बन गया। यह उस इतिहास का

उत्तरार्ध है, जो चंद्रगुप्त से ले कर हर्षवर्धन तक सम्राटों की सुंदर यवनियों (यूनानी दासियों) के बाद लिखा गया। हर्ष काल में यूनानी रमणियों का श्रीसंपन्नो के यहां मूल्य इतना बढ़ गया था कि उन की मूर्तियां तक बनने लगी थीं—वह भी किसी पुरुष को सुरापान कराते हुए या अन्य कामुक दृश्यों को ले कर।

वीरकाल : नारी का अपकर्ष पुरुष का उत्कर्ष

वास्तव में वीरकाल भारत में ही नहीं, सारे संसार में नारी के पतन की शुभ्रात है। इस काल में सभी जगह नारी का अपकर्ष और पुरुष का उत्कर्ष हुआ। मातृसत्ता से पितृसत्ता तक जो परिवर्तन हुआ था, उस की पराकाष्ठा वस्तुतः वीरकाल में ही हुई। भारत के वीरकाल (महाभारत और रामायण काल) में पुरुष देवतुल्य अमानव रूप धारण करता है, नारी उस की छाया मात्र है। स्वार्थ रहित, पतिपरायण तपस्विनी, निरोह नारी! वह नारी पति की राह नहीं रोकती, नितान्त अरुंधती है। सीता और अरुंधती। गांधारी और रुक्मिणी अपने पतियों की दासियां हैं, उन की इच्छा सेविकाएं हैं, उन की दीप्ति से प्रतिबिंबित हैं।

आगे चल कर नारी की दासता में और वृद्धि हुई और यह वृद्धि भी प्रायः सर्वत्र ही हुई। भारत में एक ओर जहां

आर्यजन महिला जीवन से खिलवाड़ कर रहे थे, ठीक उसी समय चीनी सम्राटों की ओर से पालकियां भरभर कर कुमारियां बर्बर हूण सरदारों, तिब्बती काफिलों के सरदारों और उहगर कबीले के नायकों को भेंट में दी जा रही थीं।

चीनी सम्राट के लिए अपनी प्रत्येक स्त्री का मुख देख सकना असंभव होता था। वह केवल उसी रानी से संपर्क रखता था, जिस का चित्र उस की आंखों में चमक पैदा कर देता था। और यह सब कुछ शाही चित्रकार के हाथ की बात थी। वह चाहे, जिस रानी से संतुष्ट हो कर उस के चित्र पर अपनी तूलिका की करामात दिखा दे और चाहे जिस से अप्रसन्न हो कर शाही महल की एक उपेक्षित ईंट की तरह जन्म-भर सिसकते पड़ा रहने दे। अतः उस चित्रकार की दक्षिणा क्या हो सकती है? जो वह चाहे...और रानियों को इसे अदा करना पड़ता था। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'मध्य एशिया के इतिहास' में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

लाचारी नारी की

मेसोपोटामिया में भी व्यभिचार उन दिनों अपनी चरम सीमा पार कर चुका था। किसी भी लड़की की शादी तब तक होनी असंभव थी, जब तक वह माईलिट्टा मंदिर की किसी श्रंतू (देवदासी) से यह सर्टिफिकेट साक्षी के रूप में न ले ले कि वह किसी विदेशी से संसर्ग कर चुकी है। इतिहासकार टालमी का कहना है कि सैकड़ों वर्षों तक मेसोपोटामिया में शादी प्रथा की यही दशा रही।

उन्हीं दिनों रोमन सरदार सुंदरियां प्राप्त करने के लिए जर्मन प्रांतों पर आक्रमण करते थे। जर्मन युवतियों के सब से बड़े खरीददार रोमन सामंत, जमींदार और स्पेनिश भूराजों के विलास भवन थे। हेरोडोटस ने ऐसे कई स्थानों का वर्णन किया

है, जहां नारियां बिकती थीं। पंपियाई की खुदाई से कई ऐसे घर तैम, धूम्र आदि मिले हैं, जिन पर नारियों के विलासी चित्र अंकित हैं।

ऋग्वेद काल में नारी की अवस्था कभी एक सी नहीं रही। और यही कारण है कि जहां एक ओर ऋग्वेद के प्रारंभिक मंत्र नारी की ऊष्मा तथा अधिकारों के विशेष महत्त्व पर बल देते हैं, वहीं आगे चल कर उस के अधिकारों को सीमित ही नहीं अपितु समाप्त ही कर देते हैं।

ऋग्वेद की नारी के काल को विभिन्न भागों में बांटा जा सकता है। वैदिक काल, वीरकाव्य काल, निषत् काल, सूत्र काल और राजपूत काल।

ऋग्वेद के प्रथम मंत्रों में नारी शक्ति और श्रौदाय की सीमा है। पिता की संपत्ति में पुत्री की हैसियत से उस का अधिकार है। वह स्वयंवरा है। यद्यपि यह स्वतंत्रता भी उस के लिए कभीकभी अभिशाप ही बनी है, घोषा इस का प्रमाण है।

उस काल में विवाह के अवसर पर पुरोहित आशीर्वाद देता है। "समुर और सास की साम्राज्ञी बनो और अधिकार से बोलो। द्विपद और चतुष्पदों के अर्थ कल्याणी सिद्ध होओ।"

शक्ति एवं अधिकारों की निरर्थकता

लेकिन सचाई यह है कि ऊंचाई तक भारतीय नारी कभी पहुंचती ही नहीं, न पहले, न ही पीछे। अब की बात अलग है। उसे संस्कृति का प्रतिविम्ब नहीं कहा जा सकता।

यह ठीक है कि उस समय नारी पुरुषों की भांति शस्त्र चलाना सीखती थी। युद्ध में जाती थी, उन में से कुछ कवयित्रियां भी थीं, और बहुत सी ऋग्वेद की मंत्रद्रष्टा भी बनीं। उन में से घोषा, अपाला, विश्वधारा, लोपामुद्रा, शची-मौलोमी तथा वाग्भणी आदि के नाम ऋग्वेद में सुरक्षित हैं।

इस के साथ सतीप्रथा का भी रूप इस काल में इसका ही था। आर्यावर्धन के अनुसार मृत प्राणी की चिता पर स्त्री लेट जाती थी और चिता प्रज्ज्वलित होते ही, अपने पति के हाथ से धनुष लेने वाले देवर का हाथ पकड़ लेती थी, क्योंकि आर्य विधान में उस को दस पुत्रों को जन्म देना अनिवार्य था—वे चाहे देवर द्वारा हों या पति द्वारा।

वस्तुतः यह आर्यों की पहली व्यवस्था तब थी जब कि नारियों का अभाव था। उस के बाद स्थिति बदलती गई और परिवर्तन होता गया।

आर्यों ने दूसरे लोगों की नारियां भी युद्धों में जीतनी शुरू कर दीं। गांव की लूटों में भी नारियां को एकत्र किया गया, क्योंकि इस काल में उन के शत्रुओं द्रविड़ों आदि की नारियां स्वयं रणक्षेत्र में आती थीं और आसानी से पकड़ी जाती थीं। अतः दास और दासियों की संख्या आर्य परिवार में बहुत बढ़ गई।

पहले तो ये दासियों की हैसियत से आईं, परंतु उन के नागरिक आचरण ने शीघ्र ही आर्य राजाओं के दिलों पर अधिकार कर लिया। अतः चारों ओर से इन की मांग आने लगी, राजाओं के अंतः-पुर इन नारियों से भर गए, और ये रथ भरभर दान दी जाने लगीं। फलतः अनेक मुनियों का जन्म इन्हीं के गर्भ से हुआ, जिन में से कव्य, कक्षिवान, औशिज, वत्स आदि प्रमुख हैं।

आर्यों में बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन वस्तुतः लड़ाइयों में संगृहीत नारियों के कारण ही हुआ। उस समय ऋषियों ने भी बहुविवाह करने आरंभ कर दिए। स्वयं कक्षीवान ने दो विवाह किए थे। राजा दस्यु ने सपरिकंड्व की 50 दासियां प्रदान की थीं। इसी प्रकार राजा स्वनय भावयश्व से अपने विवाह के अवसर पर ऋषि कक्षीवान ने रथों में भर कर दहेज में दासियां पाईं। और इन दासियों को भी वधू की संज्ञा ही दी गई थी, ताकि बिना विवाह के भी इन

से पतिक्रय किया जा सके, क्योंकि विवाह अनुष्ठान केवल आर्य नारी के साथ ही हो सकता था, इसी लिए इन दासियों को भी वधू की संज्ञा दी गई। अब तक भी देशी रियासियों में अनेक सवर्ण दासियां विवाह के समय दहेज में आती रही हैं और उन का अधिकार प्रयोग भी वही होता रहा है, जो पत्नी का, परंतु उन को पत्नी के अधिकार प्राप्त नहीं रहे। वैदिक काल की इन वधुओं का प्रयोग विवाह आदि के अवसरों पर पुरोहितों को दक्षिणा रूप में दिए जाने के लिए बहुत दिनों तक होता रहा। इन से प्राप्त पुत्र भी औरस संतान माने जाते थे।

यूनान में जहां दासियां रखले मात्र थीं, भारत में आर्यों ने उन्हें अविवाहिता पत्नी का नाम दिया। इस का इतना लाभ अवश्य हुआ कि यूनानियों की भांति इन का अधिक तिरस्कार न हो सका। इस प्रकार ऋग्वेद में दासदासियों का पूरा वर्णन मिलता है।

नारी मर्यादा : जुए के दांव पर

आगे चल कर नारीमर्यादा का स्तर और भी नीचे खिसकना शुरू हुआ। जुआरी लोग नारी को दांव पर रखने लगे। ऋग्वेद में प्रेमियों के अनेक संकेत होने से जान पड़ता है कि उस काल में व्यभिचार भी था। आर्य समाज में नर्तकी का भी स्थान था, जिस का पता वेद में अप्सरारों के दिए हवाले से चलता है, क्योंकि उन के हावभावों की तुलना गणिकाओं के हावभावों से की गई। उषा के प्रति कई मंत्रों में वक्ष खोले नृत्य करती नारियों का अनेक बार उल्लेख हुआ है। फिर भी उस काल की नारी उत्तर काल की सभ्यता की अपेक्षा कहीं उन्नत थी। उत्तर काल में तो नारियों का स्थान वेश्याओं जैसा था।

ऋग्वेद का निचला स्तर वीरकाव्य (रामायण महाभारत) काल से उपरले स्तर से मिला हुआ ही है। उस के अंतिम मंत्रों के देवापि, शांतनु आदि महाभारतकालीन आदि पुरुष हैं। इस युग में जुए के दांव

पर नारी को रख देना साधारण सी बात थी. मनस्विनी द्रौपदी को इस का परिणाम भुगतना पड़ा।

रामायण महाभारत काल में नारी-सम्मान में अपेक्षाकृत वृद्धि

रामायण और महाभारत काल की नारी का मान हुआ, तो केवल इसलिए कि वह अपने पुरुष की एकाकी छाया है. उस की सतत अनुगामिनी है. सीता राम की सतत छाया है. गांधारी इसलिए आदरणीय है कि अपने पति धृतराष्ट्र के अंधे होने के कारण उस ने संसार के ऐश्वर्य को देखना पसंद नहीं किया और अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली. शकुंतला और द्रौपदी के विद्रोही नाद अत्यंत निर्बल सिद्ध हुए, विशेषकर उन पतियों के प्रति, क्योंकि उन की अनेक प्रेयसियां थीं.

इस के बाद सूत्र काल या कहिए बौद्ध काल आया. वह युग शक आक्रमण तक भारत में रहा. महात्मा बुद्ध ने अनिच्छा से अपने प्रिय शिष्य आनंद के बहुत अनूययित्रिय करने पर नारी को संघ में दीक्षित होने की अनुमति दी, परंतु साथ ही यह भी कह दिया कि आनंद संघ वस्तुतः सहस्रों वर्षों तक जीवित रहता, परंतु इस में नारी के प्रवेश होने से उस की आयु क्षीण हो जाएगी और अब यह पांच सौ वर्ष से अधिक नहीं चल सकेगा. कहना न होगा कि महात्मा बुद्ध ने पुरुष की प्रकृति को भांप कर ही उक्त भविष्यवाणी की थी, वस्तुतः उन की भविष्यवाणी ठीक ही निकली.

वर्णव्यवस्था की दुरवस्था

निष्क्रमण आर्यों पर ईरानी द्वारा ने आक्रमण कर के सिंध और पंजाब के सूबों को अपने राज्य में मिला लिया. सिकंदर ने भारत पर आक्रमण (386 ईसवी पूर्व) कर पंजाब को रौंद डाला. 180 ईसवी पूर्व

डमोट्रियस ने अपने सेनापति और जामाता मिनांदर को लेकर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया. बाद में शकों ने आक्रमण कर के वर्णाश्रम धर्म को कुचल डाला और पाटलिपुत्र को पुरुषों से निःशेष कर डाला. यह युग बांपायन आपस्तंब का युग था, वसिष्ठ, पाणिनी, मनु, पतंजलि का युग था. चाणक्य, पुष्य-मित्र का युग था. गृह्यसूत्रों और धर्म-शास्त्रों का युग था. गार्गी संहिता का युगपुरुष कहता है कि इन आक्रमणों से भारतीय वर्णव्यवस्था सर्वथा छिन्नभिन्न हो गई थी.

इन आक्रमणों के बाद भारतीय समाजशास्त्री विकल हो उठे. गृह्य सूत्रों में समाज को फिर से जकड़ देने की व्यवस्था की गई, क्योंकि इस विदेशी प्रवाह से प्राण भी संकट में पड़े थे और नारियों की भी दुर्दशा हुई थी, अतः सूत्रकारों ने समाज सुधार के लिए पुनर्व्यवस्था दी. परंतु उन की यह सुव्यवस्था नारियों के लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध हुई.

बाल विवाह एवं सती प्रथा चालू

सूत्रकारों ने देखा कि आपातकाल में जितनी रक्षा पति अपनी पत्नी की कर सकता है, उतनी लड़कियों की नहीं कर सकता. इसलिए उन्होंने कन्या की शीघ्र से शीघ्र पत्नी बनाने की सुव्यवस्था की. तर्क उचित था, किंतु परिणाम कठोर रहा. फलतः समाज में बाल विवाह की नींव पड़ गई. "अष्टवर्षा भवेत् गौरी, नववर्षा च रोहिणी, दशवर्षा भवेत् कन्या, अतः ऊर्ध्वं रजस्वला." की परंपरा जमी.

जो पिता रजस्वला होने तक अपनी कन्या को रोके रखे, उसे नरक का भय दिखाया गया. उस काल में कितनी ही दुधमुर्हीं बालिकाओं के हाथों में विवाह के कंकण बंधने लगे. सती की व्यवस्था प्रारंभ हुई.

काव्य काल में कालिदास कृत 'कुमार

संभव' की नायिका पार्वती भारतीय नारी का चित्र अभिलिखित है। "प्राणं विप्रं प्रम लभस्व पत्युः"—प्राप्त करती है। इस के लिए तप करती हुई भारतीय नारी पुरुष तपस्विनों के तप को तुच्छ कर देती है। "तपस्विनां दूरमधश्चकार सा।" उस देवता नारी के लिए पिता का उपदेश है : "भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा रस्य प्रदीपं गम।" अर्थात् पति के रुष्ट होने पर भी तुम रोष न करना और "पति गृहे तव दास्यामि क्षेत्रम्" अर्थात् पति के कुल में तुम्हारा दासत्व भी उचित है।

मनु ने भी उस नारी का नियमन किया है : "प्रदानं स्वाभ्यकारणम्।" इसी पर कालिदास ने अपना पैबंद लगाया— उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।"

काव्यकालिक नारी : मनोरंजन का साधन-मात्र

इस काव्यकाल में समाजशास्त्रियों ने नारी को बिलकुल अशक्त और निर्बल बना कर केवल पति के मनबहलाव की चीज बना दिया था। यूनानी महलों की तरह यहां भी नारियों के लिए महल का पिछला कक्ष सुरक्षित रहता था, जिसे अंतःपुर या सुधांत के नाम से पुकारा जाता था। इस काल में इस कक्ष पर नियंत्रण रखने के लिए यवनी काफिले (यूनानी नारियां) राजाओं को सुलभ हो चुके थे, जिन का स्वयं नियंत्रण मौर्य काल का अंतर्विषयक, गुप्त काल का प्रतिहार और संस्कृत नाटकों का कंचुकी करता था। स्वयं ऋग्वेद तक में "गृहा चरन्ति घोषा।" गृह के आभ्यन्तर भाग में विचरने वाली नारियों का हवाला मिलता है और यूनानी महलों में जिस प्रकार अंतःपुर की प्रेमियों से बचाने के लिए मालोस्मिन नामक कुत्तों का वर्णन मिलता है, ऋग्वेद में भी इसी प्रकार के कुत्तों का वर्णन आया है।

एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के घर के सामने उपस्थित हो कर देवताओं से प्रार्थना

करता है "उस घर के समस्त प्राणी सो जायं केवल प्रेमी जागृत रहे।" इसी प्रकार वह पहरों के कुत्तों के प्रति एक मंत्र का जाप करता है, जिस से वे बेसुध हो जाते हैं। फिर वह प्रेयसी के साथ उषः-काल तक रहता है। (ऋग्वेद 1, 3, 4, 13)।

बाद में इन अंतःपुरों की रक्षा के लिए जनखों की खोज मध्य एशियाई देशों में की गई, और ये जनखे भी एक व्यवसाय का विषय बन गए। परंतु भारत में ये जनखे मुगल काल में ही प्रयोग में लाए गए। यहां अधिकतर यवनियों को महलों में रखा गया। यही यवनियां राजा के वस्त्र और अस्त्रशस्त्र रखती थीं। आखेट के समय राजा की पालकी घेर कर चलती थीं, उस के दरबार में बैठने पर पंखा लिए खड़ी रहती थीं। कालिदास ने इन के विशेष वेष का हवाला दिया है।

चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है : "प्रातः उठते ही इन का मुख देखना कल्याणकारक है।" सेल्यूकस के दूत मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त के भी दासियों से घिर कर चलने का वर्णन किया है।

यवनियों—तातारियों का प्रभुत्व

बाद में मुगलों में यवनियों का स्थान तातारी बंदियों ने ले लिया। इन के हरमों में भी दासियों का उपयोग पत्नी के ही रूप में होता था। जिन दिनों मुगल हरमों में तातारी बंदियों की मांग बढ़ रही थी, हमारे अंगरेज मित्र पुर्तगाल के व्यापारियों के साथ मिल कर अफ्रीका के दासों का व्यापार कर रहे थे। ऐसी कंपनियों में महारानी एलिजाबेथ प्रथम तक की पूंजी लगी हुई थी।

यूनानी आक्रमण काल में लगभग चार सौ वर्ष तक भारत में विदेशी शासन रहा, उस समय पर्याप्त अंतर्जातीय विवाह भी हुए, परंतु नारियों की स्थिति बिगड़ती ही गई।

पराजय का मूख्य-कारण माना जाता है। ले कर अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह तक राजस्थानी राजाओं की यह भेंट बराबर जारी रही। कहना न होगा कि इस युग में नारी की मर्यादा, उस का मान, शान और शालीनता सीना बाजारों की भेंट चढ़ गए।

कालांतर में हूणों ने गुप्तों का स्थान लिया। इन के साथ गुर्जर और अहीर आदि आए। ये अपनी कन्याओं को जन्म देते ही मार डालते थे, अतः भारत में भी यह प्रथा चल निकली और जन्म लेते ही लड़की का गला घोंटा जाने लगा। सती प्रथा का प्रचलन और भी बढ़ गया। 712 ईसवी में मुहम्मद बिनकासिम के आक्रमण से 1707 में मुगल साम्राज्य के पतन तक नारी शालीनता का इतिहास अपने रक्त में लिखती रही। यही इतिहास हजार वर्ष के जौहर का इतिहास था। भारत की बार-बार की पराजयों का मूल्य भारतीय नारी ने अपने जौहर और सतीत्व से चुकाया।

भारत में लगभग आठ सौ वर्ष तक मुसलिम शासकों का शासन रहा। इन आठ सौ वर्षों में नारी जीवन में महान परिवर्तन हुआ। समाज में उस की अवस्था और भी दयनीय हो गई। राजस्थान में कुछ दिन स्वतंत्र रहने के बाद नारी फिर रनिवास में चली गई, घुड़सवारी का स्थान पालकी ने ले लिया। उस समय इन पालकियों और नारियों के लिए भारतीय नरेशों ने जो अपने बाहुबल का प्रदर्शन किया, उसे देख कर रोम के सामंतों की लाशें भी कब्रों में कांप उठीं। नारी की असहायता पर जितनी छीनाझपटी राजस्थान में हुई, देश के किसी अन्य भाग में नहीं हुई। किसी भी नारी का रूपवती होना इस युग में वरदान नहीं, अभिशाप था। अफीम के अंटे पर अंटे चढ़ा कर मदिरा का पान कर के राजा लोग, उन के सामंत और सलाहकार नारी-अपमान में हमेशा रत रहते थे, इस का परिणाम यह निकला कि इन राजाओं की तलवारों को जंग लग गया और जिन सुंदर डोलों के लिए ये दिनरात लड़ते थे, वे इन के महलों से निकलनिकल कर निरंतर दिल्ली की ओर जाते रहे। नारी इस युग में भी भेंट बनी रही। हुमायूं से

अंधकारमय युग

नारी की इस अंधकारपूर्ण सामाजिक यात्रा में ही महान कवि सूरदास और तुलसीदास का जन्म हुआ।

प्रायः इन दोनों कवियों ने नारी-जीवन के स्तर को गिराया। एक ओर जहां तुलसीदास ने 'ढोल गंवार शुद्ध पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' का उपदेश समाज को दे कर नारी पर नर को और भी अत्याचार करने के लिए उकसाया, वहां कवि सूरदास ने अपने भक्तों को भगवान श्रीकृष्ण के प्रेम में रत गोपियों की प्रेम-कथाएं, उन के मानसिक उत्पीड़न, और हृदयदाह की ऐसी अद्भुत झांकियां सूरदास होते हुए भी प्रस्तुत कीं कि उन्हें पढ़ कर ऐसा लगता है, मानो उस काल में समस्त ब्रज में व्यभिचार का ही बोलबाला था। संभवतः किसी एक सामाजिक नेता, संत अथवा पंगवर के पीछे इतनी बड़ी संख्या में विवाहिता, अविवाहिता नारियों को पागल होते नहीं देखा गया। संभवतः किसी पौराणिक गाथा या किसी भी देश के इतिहास में ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं मिलेगा।

नारी के मर्यादा पतन में—सूर तुलसी भी सहायक

श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र को जितना निम्न स्तर पर महाकवि सूर खींच कर लाए हैं, उतना दूसरा कवि नहीं लाया। सूर के बहुत से पदों को पढ़ने से पाठक के दिमाग में एक हलचल मचती है और वह अपने आप ही यह प्रश्न करने लगता

है कि क्या श्रीकृष्ण का चरित्र इतना गिरा हुआ था? यदि हाँ, तो अनहोला जगन्नाथ जी के सूर के ये पद भगवान की भक्ति के पद तो किसी तरह माने ही नहीं जा सकते, निंदा उन में स्पष्ट है। पता नहीं सूर ने इन पदों को रच कर जनताजनार्दन का क्या हित किया? साथ ही गोकुल की नारियों और कन्याओं की इतनी भयानक विरह की कथा लिख कर तथा उन्हें कृष्णप्रेम में इतना उन्मत्त दिखा कर उन्होंने नारी समाज का क्या उपकार किया?

पाठक 'सूरसागर' के खंडिता वर्णन में लिखित निम्नलिखित कविताओं का स्वयं शब्दार्थ कर के फँसला करें कि सूर ने श्रीकृष्ण के चरित्र के प्रति कितना घोर अन्याय किया है। सूर लिखते हैं :

आए लाल जामिनी जागे तो भोर.
नील कलेवर कोमल उर पर गड़ि गए कुच
जु कठोर.
और देखिए :
आज हरि रैनि उनींदे आए.
बितु गुन माल विराजति उर पर, चंदन
रेख लगाए.
अंजन, अधर, लिलाट महावर, नैन तमोर
खवाए.
मगन देह सर पाग लटपटी जानक रंग रंगाए.
नख रेख विराजति हृदय सुभग कंकन पीठ
बनाए.

नारी कठपुतली बनी रही

यह समझिए कि मुसलमानों के आक्रमण होते ही और अंगरेजों के आगमन तक नारी के लिए एक नई व्यवस्था समाज-शास्त्री दे चुके थे। अर्थात् उस के समस्त सामाजिक अधिकार छीन कर उसे ताले के अंदर बंद किया जा चुका था। केवल शादी के समय एक बार मुँह दिखाने का अवसर उसे दिया गया था जो आगे चल कर केवल रीति मात्र के रूप में रह गया, जिस का पालन आज तक होता है।

इस काल में नारी को पूरी तरह सूफी किया गया। अतः सुपलिम महिलाओं के हाथों में एक ओर जहाँ कुरान शरीफ थमाई गई, वहाँ हिंदुओं ने उसे रामायण भेंट की। अन्य साहित्य की न आवश्यकता समझी गई और न ही उस के पाठ का उसे अधिकारी ही माना गया। फलतः नारी केवल राम नाम के तानेबाने में ही इस तरह उलझा दी गई कि वह जीवन और समाज की अन्य बातों को भूल कर पूरी कठपुतली बन गई।

इन्हीं कठपुतलियों को जौहर करते, सती होते, आत्महत्या करते या करवाते नारी की सामाजिक यात्रा का छकड़ा किसी तरह ब्रिटिश युग में आया। इस यात्रा में उस ने एक नई नारी को देखा, जो श्रमवी नारी की तरह से पाबंदियों के बंधन में बंद नहीं थी। जिस के चारों तरफ परदे का कफन लिपटा हुआ नहीं था, जिसे डाकू रहीम खाँ (टोंक का पहला नवाब) जैसा पिंडारियों का सरदार अभिभावकों के सामने आत्महत्या की आज्ञा नहीं दे सकता था। परंतु अब भी समाजशास्त्री आगे आए। उन्होंने अब भी नारी के सामने दो विकल्प रखे—“प्रथम पति परमेश्वर को प्रसन्न करना और दूसरा परमेश्वर को प्रसन्न करना।”

फलतः फिर भारत के दक्षिण के मंदिर नारी नृपुरुषों की शंकार से गुंज उठे। उत्तर के मंदिर बेलपत्तरी से ढक गए और पश्चिम के मंदिर नारी के पुत्रप्राप्ति और अटल सुहाग की कामना में चढ़ाए नारियलों से भर गए। इसी समय में नारी से नर ने उस के मोक्ष के लिए मनुष्य से पशु तक के बलिदान (पूर्वी बंगाल, कलकत्ता आदि) काली के मंदिरों में कराए।

इस काल में भी समाजशास्त्रियों ने नारी को थोड़े से संदेह के अपराध स्वरूप कठोर बंड दिए। विधवाओं की ओर देख लेने मात्र से ही अथवा शिकायत के सहारे ही दक्षिण के महापंडित नारी को घर से

निकालने के नोटिस लगा देते थे, जिस तरह नीलाम आदि के माल के लगाते हैं।

प्रणाम किया।

समाजशास्त्रियों की अतिनाटकीयता

नियत समय पर परित्यक्त नारी घर के द्वार पर धक्का दे कर बाहर निकाली जाती थी और घर का दरवाजा बंद कर लिया जाता था। बाहर खड़े दूसरे धर्मावलंबी उस पर झपटते थे। लूट के माल की तरह जिस किसी के भी हाथ वह लग जाए, वही उसे ले जाता था। भारत के स्वतंत्र होने तक नारी की यही दशा रही।

इस के अतिरिक्त पश्चिम में समाज-शास्त्रियों ने जहां पांडुरंग के प्रेम का भारी आकर्षण नारी के सामने रखा, वहां उत्तर भारत ने पुनः प्राचीन वेदमंत्रों को टटोला और उन का सहारा ले कर बालविवाह की घोषणा कर दी। फलतः एक बार फिर नारी नर का खिलौना मात्र ही रह गई। इस बार व्रतों और उपवासों की शृंखला और भी विस्तृत कर दी गई थी। नईनई कथाएं उन के साथ जोड़ दी गईं।

इस काल में पता नहीं कितनी बार उसे विधर्मी बनने का अपमान सहना पड़ा, कितनों को ध्रुण हत्याओं के पाप कमाने पड़े। इस प्रथा से उत्पन्न कुकर्मों से समाज-शास्त्री स्वयं भी कांप उठे, विचलित हो गए, क्योंकि उन की संतानों के स्वास्थ्य से क्षय के अस्पताल भर चुके थे, दमे ने उन की गरदन तोड़ दी थी। गांवगांव और गलीगली में ग्रंथे लाठियां टेके दिखाई देते थे, कोढ़ियों के गांव के गांव बस गए थे।

ब्रिटिश काल के उत्तरार्द्ध में नारी की सामाजिक यात्रा का प्रारंभ कुछकुछ उजाले में प्रारंभ हुआ। संभवतः यह नारी जागरण का उषःकाल था। इसी काल में भारतीय नारी ने प्रथम बार स्कूल की चौखट को

विभिन्न राहों से अपनी यात्रा की कुछ छूट मिली। नारी ने इस काल में पुरुषों के अनेक कार्यों में खुल कर भाग भी लिया, परंतु दुर्भाग्य से इस बार नारी स्वयं भटक गई। सदियों की दबी हुई उस की इच्छाएं बलवती हो उठीं। सदियों के दासत्व से वह ऊब उठी थी, उसे स्वतंत्रता की आवश्यकता थी, खुली आजादी की। जब नारी की शिक्षा का प्रभाव बढ़ा तो पुरुष ने उसे फैशन के तानेबाने में उलझाया। समाजशास्त्रियों की वाणी अब मौन हो चुकी थी।

ब्रिटिश काल : नारी जागरण का उषःकाल

फलतः जहां एक ओर नारी ने स्वावलंबी बनने का प्रयास किया, वहां वह फैशन के तानेबाने में भी उलझ गई और इसी लिए उसे फिर पुरुष की सहायता लेने के लिए विवश होना पड़ा। स्वावलंबी बनने का स्वप्न एक बार फिर फैशन के आवरण में लिपटना प्रारंभ हो गया। उस की विद्या और अस्मत् फिर पुरुष की दौलत पर झुकने लगी, आज के नाट्यक्लब, नृत्यगृह नारी के बीसवीं सदी के पतन के प्रमाण नहीं, तो और क्या हैं?

बीसवीं सदी की नारी : पतन का श्रीगणेश

वह आज फिर पुरुष के हाथ का खिलौना है, और उस की इस नई असमर्थता पर पुरुष प्रसन्न है। समाजशास्त्री खुश हैं। जिस नारी पर वेद के मंत्र फेल हो चुके थे, उसी नारी पर कवियों की झूठी प्रशंसा सिनेमा की चमकदमक और श्रीसंपन्नों की कोठियां और मोटरें एक नया जादू सिद्ध हुए। नारी के उत्थान और पतन का यह इतिहास कितना करुणाजनक है! ●

तुलसी और वेद

डा. गंगासहाय 'प्रेमी'

वेद पुराणों की साक्षी क्या आत्मविश्वास की कमी का कारण नहीं है?

तुलसीदास भक्ति काल के कवि थे. भक्ति भावना धर्म की अनेक विचारधाराओं में से एक है. धार्मिक साहित्य की सर्व प्राचीन पुस्तक वेद है, ऐसी धर्मांध भारतीयों की मान्यता है. इसलिए नास्तिक दर्शनों को छोड़ कर सभी दर्शन, सभी संप्रदाय और सभी मतमतांतर अपने विचारों को वेद के अनुकूल बताते हैं. भारत का धार्मिक वातावरण कुछ ऐसा है कि जो बात यहां वेदानुकूल सिद्ध हो जाती है, लोग उसे बिना हीलोहुज्जत के मान लेते हैं. महात्मा होने पर भी तुलसीदास इस बात का लोभ नहीं सह सके कि उन की मान्यताओं व उन के साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार हो. अधिकतम लोग उन के स्वर में स्वर मिला कर बोलें, इसलिए उन्होंने भी अपने साहित्य को वेदानुकूल सिद्ध करने का पूरा प्रयत्न किया है. तुलसी के समय तक धार्मिक जगत में पुराणों की मान्यता भी वेदों से कम नहीं थी. कबीर आदि संत कवियों के प्रचार से जनता के मानस में संतोंसाधुओं की बात के प्रति भी आदर जाग उठा था. इसलिए तुलसी बाबा ने अपनी बात जनता के हृदय में उतारने के लिए वेदों के साथ-साथ पुराणों और संतों को भी कष्ट दिया है. विद्वानों का आदर समाज ने सदा किया है, इसलिए कहींकहीं उन का भी स्मरण कर लिया गया है. तुलसी साहित्य में ऐसे बहुत से स्थल मिलेंगे, जिन में इन

सब को गवाह बनाया गया है:

वेद पुरान संत मत ऐह,
सकल सुकृत फल राम सनेह.

—रामचरित मानस, 51

सहसा करि पाछे पछिताहीं, कहहि वेद बुध ते बुध नाहीं. —रामचरित मानस, 355
तुलसी ने अपने साहित्य में वेद के अतिरिक्त वेद के पर्यायवाची शब्दों श्रुति और आगमनिगम को भी उद्धृत किया है. आगमनिगम शब्द कहीं साथसाथ आए हैं, कहीं एकाकी. उक्त तीनों शब्द वेद के प्रसिद्ध पर्यायवाची हैं, फिर भी हम यह बात तुलसी साहित्य से ही सिद्ध कर देना उचित समझते हैं. वेदों को त्रयी कहा जाता है, पर उन की संख्या चार है. निम्न स्थलों में श्रुति, निगम और आगम की संख्या भी चार ही बताई गई है :

चहुं जुग चहुं श्रुति नाम प्रभाऊ,
कलि विशेष नहि आन उपाऊ.

—रामचरित मानस, 49

अव्यक्तमलमनादि तरु,
त्वच चारि निगमागम भने.

—रामचरित मानस, 602

तुलसी बाबा ने वेद एवं उन के पर्यायवाची शब्दों को अपने साहित्य में 362 बार पुकारा है. ऐसा उन्होंने इस कारण किया है कि पढ़ने वाला उन को वेदसम्मत मान लेने पर विवश हो जाए. पाठकों की जानकारी हेतु उक्त शब्दों का अलगअलग विवरण दिया जाता है:

रामचरित मानस	109	34	66	209
वैराग्य संदीपनी	2	—	—	2
बरवै रामायण	2	1	—	3
पार्वती संगल	2	—	—	2
जानकी संगल	1	—	1	2
रामाज्ञा प्रश्न	2	—	—	2
दोहावली	8	1	1	10
कवितावली	22	3	—	25
हनुमान बाहुक	2	—	—	2
गीतावली	19	5	1	25
कृष्ण गीतावली	1	—	—	1
विनय पत्रिका	50	12	16	78
सर्वयोग	220	56	85	361

तुलसी ने एक स्थान पर वेदों को मन लोगन सुख दैन. —गीतावली 335
 त्रयी भी कहा है, अतः हम ने कुल संख्या रामचरित मानस के भिन्नभिन्न कांडों
 362 लिखी हैं. वह स्थल निम्न है: में उक्त शब्दों की संख्या का अनुपात इस
 अद्भुत त्रयी किधौ पठई है, प्रकार है :

कांड	वेद	निगमागम	श्रुति	योग
बालकांड	45	10	15	70
अयोध्याकांड	29	8	4	41
अरण्यकांड	3	1	7	11
किष्किंधाकांड	2	—	2	4
सुंदरकांड	—	1	2	3
लंकाकांड	5	1	3	9
उत्तरकांड	25	13	33	71
सर्वयोग	109	34	66	209

तुलसी ने वेदों का गंभीर अध्ययन नहीं किया

साधारण पाठक ही नहीं, बहुत से अध्ययन करने वालों पर भी तुलसी बाबा का जादू चल जाता है. वे तुलसी साहित्य को वेद सम्मत ही नहीं, वेदों का निचोड़ और तुलसी बाबा को वेदों का सर्वज्ञ पंडित माननेकहने लगते हैं. तुलसी साहित्य में उत्तम कृति रामचरित मानस को पांचवां वेद मानने में बहुत कुछ वेद व उस के पर्यायों को बारबार दोहराने का ही हाथ

है. तुलसी बाबा ने रामचरित मानस को जब स्वयं ही वेदपुराण सम्मत कह दिया, तब तो किसी को संशय रह ही नहीं गया. नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि, स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबंधमस्तिमंजुलमातनोति.

पर वास्तविकता कुछ और ही है. तुलसी की रचनाएं, जिन में रामचरित मानस भी है. चाहे नाना पुराण सम्मत भले ही हों पर वे वेद से मेल नहीं खातीं. तुलसी

साहित्य का गंभीर अध्ययन तो हमें यहां तक कहने को विवश करता है कि तुलसी बाबा ने वेदों का अध्ययन नहीं किया था। उन्हें वेदों की साधारण जानकारी थी। जितनी कि लोगों को दूसरों से सुन कर हो जाती है। हमारी बात से बहुत से धर्मांध लोगों के हृदय को आघात पहुंच सकता है हम इस के लिए क्षमा चाहते हैं। ध्यान रहे हम तुलसी साहित्य की अच्छाई-बुराई के विषय में कुछ नहीं कह रहे हैं।

तुलसी साहित्य का वेदानुकूलन संदिग्ध

तुलसी साहित्य में 26 स्थानों पर वेद, दो स्थानों पर निगम और दो स्थानों पर श्रुति शब्द उच्चारण के संबंध में आए हैं। इन स्थलों में वेद आदि के पढ़नेपढ़ाने और सुननेसुनाने का वर्णन है। इस से न तुलसी का वेद ज्ञान स्पष्ट होता है, न उन के साहित्य का वेदानुकूल होना। कुछ उदाहरण देखिए:

कतहुं विरुद वेदी उच्चरहीं,
कतहुं वेद ध्वनि भूसुर करहीं।

—रामचरित मानस, 196

जहां बैठि मुनि गन सहित नित सिय राम सुजान,

सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।

—रामचरित मानस, 358

वेद तथा उस के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग 79 स्थानों पर तुलसी बाबा ने इस प्रकार किया है जो साधारणतया उचित लगता है। इन में 47 स्थानों पर वेद, 14 स्थानों पर आगमनिगम और 18 स्थानों पर श्रुति शब्द प्रयुक्त हुआ है। ये स्थल ऐसे साधारण विचारों वाले हैं जिन के वेदानुकूल होने का जनसाधारण को भी ज्ञान रहता है। इन में भी 12 स्थल विवादास्पद हैं। 11 वेद वालों में व एक आगमनिगम वालों में। उदाहरणार्थ कुछ स्थल प्रस्तुत किए जाते हैं:

कहाँहि वेद इतिहास पुराना;

विधि प्रपंच गुन श्रवगुन माना।

—रामचरित मानस, 38

समांजस नियम फल फल नाना,
हरि पद रति रस वेद बखाना।

—रामचरित मानस, 58

वेद कहत, बुध कहत हैं और कहतु हों टेरि,
तुलसी प्रभु सांचो हितु तू हिये की आखिन हेरि।

—विनयपत्रिका, 554

हैं श्रुति विदित उपाय सकल,
सुर केहि केहि दीन निहोरे।

—विनयपत्रिका, 510

धरम न दूसर सत्य समाना,
आगम निगम पुरान बखाना।

—रामचरित मानस, 284

इन में वे स्थल भी सम्मिलित हैं, जिन में तुलसी ने कलियुग निंदा में ब्राह्मणों को वेद विदूषक एवं श्रुति बेचक कहा है तथा स्वयं को वेदविहीन बताया है। हम ने इस स्तंभ में ऐसे स्थलों की गणना की है, जिन के औचित्य की संभावना हो सकती है। ऊपर उद्धृत स्थलों में ऐसी साधारण बातें हैं जो सभी धर्म ग्रंथों में प्रायः होती हैं। संसार गुणश्रवगुण से मिला हुआ है, यमनियमादि का तत्त्व ईश्वर प्रेम है, ईश्वर सब से बड़ा मित्र है आदि सिद्धांत सभी धर्म ग्रंथों में होने चाहिए।

इस स्तंभ के अंतर्गत जो स्थल विवादास्पद हैं, उन में से भी कुछ देखिए:

लाभु न कछु हरि भक्ति समाना,

जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना।

—रामचरित मानस, 663

कहाँहि संत मुनि वेद पुराना,

नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।

—रामचरित मानस, 666

बिनु गुरु होइकि ज्ञान, ज्ञानकि होय विराग बिनु,

गावहिं वेद पुरान, सुखकि लहिय हरि भगति बिनु।

—दोहावली, 114

उक्त उदाहरणों में जो बातें कही गई हैं, वे साधारणतया तो ठीक लगती हैं, पर सर्वमान्य नहीं हैं। वेदों का मुख्य विषय कर्मकांड है। उपासना और कर्मकांड सब का फल ज्ञान बताया गया है, जब कि

भक्ति मार्ग वाले भक्ति को सर्वोपरि समझते हैं। उद्धव गोपी संवाद सभी भक्तों का प्रिय विषय रहा है, जिस में ज्ञान को भक्ति से नीचा ठहराया गया है।

तुलसी बाबा ने वेदों को संत, शारदा, शेष, शंकर आदि के साथ तो सैकड़ों स्थलों पर स्मरण किया है, पर 30 स्थानों पर तो उन का वर्णन इस प्रकार किया गया है, मानो वेदादि भी कोई पुरुष हों जो किसी निश्चित कार्य को करने में समर्थ न हों। जहां तक वेद कहें 'श्रुति गावें, निगम पुकारें' आदि वाले स्थल हैं, वहां तक वेदों में इस का वर्णन है, तात्पर्य लगा कर काम चलाया जा सकता है, पर जहां किसी काम के कर सकने की बात है, वहां उस की संगति वेदों से नहीं लगाई जा सकती। अयोध्या की शोभा का वर्णन या तुलसी के अवगुणों की गणना वेद भी नहीं कर सकते, इस की भी कोई तुक है? कोई अपरिचित तो यहां तक कह बैठेगा कि इस आदमी को इतना तक पता नहीं कि वेद एक पुस्तक का नाम है। कुछ इसी प्रकार के स्थल पेश हैं :

वेदों के नाम का दुरुपयोग

प्रेम प्रमोदु विनोद बड़ाई,

समउ समाज मनोहर ताई.

कहि न सकाहि सत सारद सेसू,

वेद विरंचि महेश गनेसू.

—रामचरित मानस, 230

बंदउं चारिउ वेद भव बारिधि बोहित सरिस,

जिन्हहि न सपनेहु खेद बरनत रघुवर विसद जसु.

—रामचरित मानस, 44

राम अतवर्थ बुद्धि मन बानी,

मत हमार अस सुनहि सयानी, तदपि संत मुनि वेद पुराना,

जस कछु कहाहि स्वमति अनुमाना.

—रामचरित मानस, 104

बरनत यह अमित रूप,

थकित निगम नागभूप. —गीतावली, 410

निगम सेस सारद सुक संकर,
Presevation Foundation, Varanasi, India

—गीतावली, 411

निगम सेष सारद निहोरि जो अपने दोष गनावों,

तौ न सिराहि कल्प सत लागि प्रभु कहा एक मुख गावों, —विनयपत्रिका, 530

कोटिहुं बदन नाहि बनै बरनत जग जननि शोभा महा,
संकुर्चाहि कहत श्रुति शेष सारद मंद मति तुलसी महा. —रामचरित मानस, 93

सत सारदा शेष श्रुति मिलि करि शोभा बरनि न जाई. —विनयपत्रिका, 492

कहिहैं कलुष कौन मेरे कृत करम वचन और मन के,

हाराहि अमित सेष सारद श्रुति गिनत एक एक छनके. —विनयपत्रिका, 507

तो जनाब नोट कर लीजिए तुलसी

बाबा की नई खोजें कि हमारे आप के

समान वेदों को भी खेद होता है, उन के भी मति होती है, वे भी थकते हैं, वे भी

पार नहीं पाते, उन्हें भी संकोच होता और उन्हें भी खुशामद कर के किसी गणना के

लिए राजी किया जा सकता है.

हमें तुलसी साहित्य में 143 स्थल ऐसे मिले हैं, जिन में वेद का नाम ले कर

गलत और आपत्तिजनक बातें कही गई हैं, उन बातों का वेद से कोई संबंध नहीं है.

अयोध्या वर्णन, तीर्थराज प्रशंसा, काशी महात्म्य, राम कथा आदि ऐसे ही विषय हैं, जिन का वेदों में कहीं वर्णन नहीं है.

राम भक्ति के आवेश में तुलसी बाबा चाहे कल्प भेद से रामचरित अगणित मान लें, लेकिन वास्तविकता यह है कि वेदों की

रचना के समय इन में से किसी का नाम नहीं था. वेदों में जहांजहां काशी, अयोध्या तथा राम शब्द दो एक स्थल पर आए हैं, पर उन का अर्थ क्रमशः चमकती हुई, न

जीतने योग्य तथा सुंदर है, नगरी और दशरथ पुत्र नहीं. इसी प्रकार के अन्य स्थान हैं, जिन में से कुछ का दिग्दर्शन कराया जाता है:

मज्जहिं सज्जन वृंद बहु पावन सरजू नोर,
जयाहिं राम धरि ध्यान उर संदरश्याम शरीर.
दरस परस मज्जन अर पाता,

हरई पाप कह वेद पुराना.

—रामचरित मानस, 56

सेवाहिं सुकृति साधु सुचि पावाहिं मन काम,
वेदी वेद पुरान गन कहाहिं विमल गुन ग्राम.

—तीर्थराज प्रशंसा (रामचरित मानस, 291)

जय गजवदन षडानन माता,

जगत जननि दामिनि दुति गाता,
नहिं तब आदि मध्य अवसाना,

अमित प्रभाव वेदु नहिं जाना.

—रामचरित मानस, 164

लघु सुत नाम प्रियव्रत ताही,
वेद पुरान प्रशंसहि जाही.

—रामचरित मानस, 115

सकल कामप्रद तीरथ राऊ,

वेद विदित जग प्रगट प्रभाऊ.

—रामचरित मानस, 341

जो अपराध भगत कर करई,
राम रोष पावक सो जरई.

लोकहु वेदविदित इतिहासा,

यह महिमा गावाहिं दुरवासा.

—रामचरित मानस, 348

डुइ सुत सुंदर सीता जाए,

लवकुस वेद पुरानन गाए.

—रामचरित मानस, 610

जिन को पुनीत वारि धारे सिर पर पुरारि,
त्रिपथ गामिनि जसु वेद कहैं गाइकैं.

—कवितावली, 163

संकर से नर गिरिजा सी नारी कासी वासी,
वेद कही सही ससिसेखर कृपाल की.

—कवितावली, 240

ठाकुर महेस ठकुराइन उमासी जहां,

लोभ वेद हूं विदित महिमा ठहरती.

—कवितावली, 240

सबरी सेस सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ,
नाम उधारे अमित थल वेद विदित गुन गाथ.

—दोहावली, 105

जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि
मांगत सकुचाहीं,

वेद विदित तेहि पद पुरारिपुर कीट पतंग
समाहीं.

—विनयपत्रिका, 456

अब जाना मैं अवध प्रभावा,

निगमागम पुरान अस गावा.

—रामचरित मानस, 651

अतुलित बल मृगराज मनुज

तन दनुज हथ्यो श्रुति साखी.

—विनयपत्रिका, 506

ऊपर जिन का विवरण दिया गया है,
उन की प्रशंसा या गाथा पुराणों में तो
मिल सकती है, वेदों में नहीं. वेदों में तो
गंगा का भी नाम नहीं है, सूरज की क्या
गिनती? वेदों में सिंधु शब्द अवश्य आया
है. कुछ स्थल ऐसे हैं, जिन पर हंसी आए
बिना नहीं रहती. कपट मुनि के मित्र
राक्षस पाताल केतु ने जब प्रतापमानु के
पुरोहित के रूप में रसोई तैयार की, वह
श्रुति के गाने के अनुसार थी:

उपरोहित जेवनार बनाई,

छरस चारि विधि जसि श्रुति गाई.

—रामचरित मानस, 130

ग्रंथ या पाक शास्त्र?

भला वेद न हुए, कोई पाक शास्त्र की
पुस्तक हो गई? यजुर्वेद के कुछ मंत्रों में
अन्नों के नाम अवश्य गिनाए गए हैं, पर
पाक क्रिया का ऐसा बेजोड़ वर्णन कहीं
नहीं है, जिस से कुशल रसोइया भी
सहायता ले सके.

इसी प्रकार की बात हनुमान के विषय
में है. एक ओर तो तुलसी बाबा ने उन्हें
पंख वाला बंदर कहा है, दूसरी ओर उन्हें
वेद, व्याकरण आदि का ज्ञाता बताया है:
जयति विश्व विख्यात बानेंत विरुदावली,
विदुष बरनत वेद विमल बानी.

—विनयपत्रिका, 467

जयति वेदांतविद विविधि विश्रा

विशेद वेदांग विद ब्रह्म वादी.

—विनयपत्रिका, 467

वेद पुरान प्रकट पुरुषारथ सकल सुभट

सिरमौर. विनयपत्रिका, 470

जयति निगमागम ध्याकरन करन लिपि,

काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो.

—विनयपत्रिका, 468

बंदि छोरि विरदावली निगमागम गाई.

विनयपत्रिका, 478

वेदों में रामकथा का नाम नहीं है तो हनुमान बेचारे को कौन पूछता है! रही हनुमानजी की पढ़ाईलिखाई की बात, सो क्या कहूं! हनुमान की जो कुछ मान्यता है, वह तुलसी के बाद ही आरंभ हुई है: सहज अपावन नारि पति सेवत सुभगति लहहि,

जस गावांहि श्रुति चारि अजहुं तुलसिका हरिहि प्रिय. —रामचरित मानस, 410

परम धरम श्रुति विदित अहिंसा,

पर निंदा सम अघ न गरीसा.

—रामचरित मानस, 672

श्रुति गुरु साधु सुमति सम्मत यह दृश्य सदा दुखकारी, (संसार निंदा)

तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति विपति सके को टारी. —विनयपत्रिका, 517

विषय हीन दुख मिले विपति अति सुख सपनेहु नहि पायो,

उभय प्रकार प्रेत पावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायी. —विनयपत्रिका, 558

वेद पुराण एक ही डंडे से हांके गए!

वेदों में नारी निंदा नहीं है, यह तो पुराण काल की देन है. अहिंसा परमो धर्म: का सिद्धांत तो बौद्धों का है. यज्ञों में दी जाने वाली बलि का ध्यान कर के इसे वेदविदित कौन कहेगा? इसी प्रकार संसार को सदा दुःखमय मानना और धन को उभय प्रकार दुखप्रद कहना वैदिक विचार-धारा के प्रतिकूल है. ये दोनों विचार-धाराएं भी बौद्ध धर्म की देन हैं. वेद घरबार छोड़ कर लंगोटी लगाने वालों की रचनाएं नहीं हैं, उन के दृष्टा प्रायः बाल-बच्चेदार ऋषि थे. वेदों में सैकड़ों स्थानों पर ईश्वर से धन, पशु, संतान और फसलें

देने की प्रार्थनाएं भरी पड़ी हैं.

राम कथा और राम नाम की महिमा से संबंधित वीसियों स्थल ऐसे हैं, जिन में तुलसी ने वेद का हवाला दिया है. हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि न वेद में राम कथा है, न राम नाम की महिमा गाई गई है और न राम के अनेक नाम गिनाए गए हैं. बहुत सी त्रिचारधाराओं पर तुलसी बाबा ने आंख बंद कर के वेद की मोहर लगा दी है, हम विस्तार भय से उन सब उद्धरणों को नहीं दे रहे हैं.

शायद यह भूल तुलसी बाबा से इस कारण हुई है कि उन्होंने वेद और पुराण को एक ही चीज समझ लिया है. वेदों में कथानक नहीं है, यदि है भी तो बहुत कम और अस्पष्ट, जब कि पुराणों में कहानियां ही कहानियां भरी पड़ी हैं. दूसरे वैदिक काल और पौराणिक काल की परिस्थितियों तथा विचारधाराओं में जमीनआसमान का अंतर है. तुलसी ने 86 स्थलों पर वेदों और पुराणों को एक ही डंडे से हांका है, जिन पर 51 स्थलों पर वेद, 17 स्थलों पर आगमनिगम और 18 स्थलों पर श्रुति शब्द प्रयुक्त हुआ है. कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि वेद और पुराण को एक ही जुए में जोतना कहां तक उचित था :

सेष सारदा वेद पुराना,

सकल करहि रघुपति गुनगाना.

—रामचरित मानस, 97

सुमिरत सुलभ दास दुःख सुनि हरि

चलत नुरत पट पीत संभारत, सखि पुरान निगम आगम सब

जानत द्रुपद सुता अरु बारन.

—विनयपत्रिका, 562

जोगति आगम महामुनि दुर्लभ

कहत संत श्रुति सदा पुरान, सोई गति मरन काल अपने पुर

देत सदाशिव सबहि समान.

—विनयपत्रिका, 455

रघुपति (दशरथ पुत्र) का गुणगान, स्मरण करते ही भगवान का गज, द्रौपदी

आदि भक्तों की सहायता को नंगे पांव दौड़ना और शिवशंकर को नंगरी काशी में मरने वालों को मोक्ष मिलाना, यह सब पुराणों का विषय है, वेद का नहीं। वेद में ऐसी बेसिरपैर की बातों की भरमार नहीं है।

तुलसी साहित्य में 23 स्थानों पर लोक और वेद शब्दों का साथसाथ प्रयोग हुआ है और 19 स्थानों पर वेद को विवाह, राज्याभिषेक, मृतक दाह आदि की विधि के लिए स्मरण किया गया है। इस विषय में हमें केवल इतना कहना है कि वेद में रीतिरिवाजों और संस्कारों का वर्णन नहीं है, यह तो स्मृतियों और गृह्य सूत्रों का विषय है। वेदों में वे मंत्र अवश्य हैं जो उक्त अवसरों पर बोले जाते हैं। कौन सा मंत्र किस अवसर पर बोला जाना चाहिए, इस का निर्देश भी गृह्य सूत्रों में ही मिलता है। बहुत से मंत्र ऐसे हैं, जिन का अर्थ उन के प्रयोग के अवसर से बिल्कुल मेल नहीं खाता। जैसे शनिश्चर की पूजा के लिए जो 'शं नो देवी' मंत्र बोला जाता है, उस में शनि नहीं, जल की प्रार्थना है।

शब्दों का गलत प्रयोग

तुलसी बाबा ने 11 स्थलों पर वेद, निगम एवं श्रुति शब्दों का प्रयोग 'नेति' के साथ किया है। यह नेति वाला मायला कुछ समझ में नहीं आता। इन स्थलों में राम, कृष्ण, शिव आदि की प्रशंसा, स्तुति आदि हैं। शायद इस से तुलसी का यह तात्पर्य रहा है कि वेदादि यह स्वीकार करते हैं कि इस का वर्णन हम नहीं कर सकते या इस का ज्ञान हमें नहीं है। दोचार स्थल देखिए:

मुनि जेहि ध्यान न पावौह नेतिनेति कह वेद।
कृपासिंधु, सोइ कपिन्ह सन करत अनेक विनोद। —रामचरित मानस, 585

रामस्वरूप तम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर,
आविर्गत अकथ अपार नेतिनेति नित निगम कह। —रामचरित मानस, 302

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कह श्रुति गावहीं। —रामचरित मानस, 452

किन्हीं शब्दों में यह नेति वाली विचारधारा तुलसीदास ने हमारे मत से मिलती-जुलती ही प्रकट की है। जब वेदों में राम आदि कथा है ही नहीं तो वेद बेचारे उन के वर्णन में मजबूरी दिखाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते हैं?

पर तुलसी ने भी कच्ची गोलियां नहीं खेली थीं, उन्होंने वेदों की इस नेति वाली कमी को पूरा करने के लिए उन्हें साकार रूप में कष्ट दिया है। वेदों ने तीन स्थलों पर साकार रूप में मनुष्य बन कर राम की प्रार्थना की है:

भिन्नभिन्न अस्तुति करि गए सुर निजनिज धाम,
वंदी भेष वेद तब आए जहं श्रीराम।

—रामचरित मानस, 601

देवताओं की स्तुति से काम नहीं चला तो वेद स्वयं वंदी (भाट) का वेष धारण कर के आए और स्तुति कर के चले गए: सष के देखत वेदन्ह बिनती कोन्ह उदार, अंतर्धान भए पुनि गए ब्रह्म आगार।

—रामचरित मानस, 603

सीता और राम का विवाह भी साधारण ब्राह्मणों ने नहीं पड़ा था, ब्राह्मणों के भेष में वेदों को आना पड़ा था:

होम समय तनु धरि अतुल अति सुख आहुति लेहि,

विप्र भेष धरि वेद सब कहि विवाह विधि देहि। —रामचरित मानस, 211

अब तक हम ने तुलसी साहित्य के विषय में जो आंकड़े गिनाए हैं, उन की सूची इस प्रकार है:

विषय	वेद	आगमनिगम	श्रुति	योग
उच्चारण	26	2	2	30
ग्रौचित्य की संभावना	47	14	18	79
नं. 2 में विवादास्पद	11	1	—	12

वेदों का पुरुषों के सम्बन्ध	अंग	गम	Digital Preservation Foundation, Chandigarh	30
अशुद्ध एवं आपत्तिजनक प्रयोग	78	17	48	143
लोक के साथ	23	—	—	23
पुराण के साथ	51	17	18	86
संस्कार के समय	17	1	1	19
नेति	3	7	1	11
नाम से मत कथन	8	2	4	14

इन का सर्वयोग इसलिए नहीं किया गया है कि एक स्थल कहींकहीं एकाधिक विषय से संबंध है।

पहले दिल्ली के एक मशहूर दवाखाने की शरबत की बोटलों पर एक तालिका लगी रहती थी जिस में यह निर्देश था कि इस में विभिन्न विटामिनों की मात्रा कितनी है? किसी राजकीय अधिकारी ने उस की वैज्ञानिक जांच कराई तो वह सब असत्य निकला। आजकल लोग वस्तुएं नहीं विटामिन खाना अधिक पसंद करते हैं, विशेषकर पड़ेलिखों पर विटामिन का जादू एकदम प्रभाव डालता है। इसी लिए शरबत बनाने वालों ने विटामिन की शरण ली। तुलसीदास ने भी वेद एवं उस के पर्यायवाची शब्दों की पुकार इसी लिए मचाई है कि उस समय भारतीय जनता वेदों से अनभिज्ञ होने पर भी बहुत श्रद्धालु थी।

हमारा निवेदन केवल इतना है कि तुलसी बाबा ने किसी बात को वेद सम्मत बताने से पहले उस स्थल को वेद में ढूँढ़ा नहीं था। जो बात उन के मन को अच्छी लगी उसे उन्होंने वेदादि में वर्णित कह डाला है। वेद, पुराण आदि तुलसी बाबा के तकियाकलाम बने हुए थे।

वेद, पुराण, शेष, शारदा, शंकर, संत आदि को उन्होंने इस प्रकार एक डंडे से

हांका है। इस प्रसंग में हमें अपने बड़े भाई साहब की याद बरबस आ जाती है। हमारे यह बड़े भाई प्रेमचंद के बड़े भाई साहब से कम नहीं हैं। वह पढ़ने के नाम पर प्राइमरी स्कूल से ही लौट आए हैं। उन्हें न जाने यह कैसे विश्वास हो गया है कि आजकल जो भी नवीन आविष्कार होते हैं वे सब सिविल्स और साइंस द्वारा किए जाते हैं।

हम ने कई बार समझाने का प्रयत्न किया कि सिविल्स और साइंस दोनों सर्वथा भिन्न हैं पर उन्होंने नहीं सुना।

पुराण आदि के साथ वेदों को कष्ट देने में तुलसी बाबा हमारे बड़े भाई साहब से भी आगे थे। इतना विवेचन कर के संभवतः अब हम साधिकार कह सकते हैं कि तुलसी ने वेदों का अध्ययन नहीं किया था। उन की वेदों के प्रति श्रद्धा अवश्य थी। तुलसी साहित्य में जो बातें वेदानु-कूल हैं, वे उसी प्रकार साधारण ज्ञान से संबंधित हैं जैसे बिजली वाले घर में लोग प्यूज जोड़ना जान जाते हैं।

* रामचरित मानस की पृष्ठ संख्याएं गीता प्रेस, गोरखपुर के गुटके से तथा अन्य ग्रंथों की पृष्ठ संख्याएं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड के अनुसार दी गई हैं।

रामचरितमानस में ब्राह्मणशाही

भदंत आनंद कौसल्यायन

अनपढ़ गुणहीन ब्राह्मण तुलसी के अनुसार गुणी शूद्र से भी अच्छा।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की रचना में ब्राह्मणशाही के निहित स्वार्थों का काफी हाथ है। उन्हें ब्राह्मणशाही के ढहते हुए किले से जो मार्मिक वेदना हो रही थी, वह उत्तर कांड के इस दोहे से स्पष्ट है :

बाढ़हि सुद्र द्विजन्ह सन,
हम तुम्हते कछु घाटि,
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर,
आखि देखावहि डाटि.

—उत्तर कांड : 157.

(शूद्र लोग ब्राह्मणों के साथ विवाद करते हैं—क्या हम तुम से कुछ कम हैं? जो ब्रह्म को जाने वही ब्राह्मण है, कहते हुए डांट कर आखि दिखाते हैं.)

ब्राह्मणशाही के ढहते हुए किले को गिरने से बचाने के लिए गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित द्वारा गाराचूना लगाने का प्रयास किया है। हो सकता है यह प्रयास जानबूझ कर न किया गया हो, उनके अचेतन मन की जड़ोभूत हो गई धारणाओं की अभिव्यक्ति मात्र हो। यदि ऐसा है, तब तो यह और भी चिंता का विषय है। बालकांड के आरंभ में ही उन्होंने कहा है :

बंदउं प्रथम महीसुर चरना,
मोहजनित संसय सब हरना.

—बाल कांड : 2.

(मैं सर्वप्रथम अज्ञान से उत्पन्न संदेहों को दूर करने वाले ब्राह्मणों के

चरणों को प्रणाम करता हूँ.)

इस चौपाई के प्रथम दो चरणों के एक से अधिक अर्थ हो सकते हैं। (1) मैं सर्वप्रथम अज्ञान से उत्पन्न संदेहों को दूर करने वाले ब्राह्मणों (गुणवाचक प्रयोग) के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जो अज्ञान से उत्पन्न संदेहों को दूर करने वाले हैं। पहला अर्थ तो सर्वश्रेष्ठ है, किंतु दूसरा भी क्षम्य है। हमें खेद है कि गोसाईं तुलसीदास को इन दोनों अर्थों में से एक भी अर्थ अभिप्रेत नहीं। उन को तो तीसरा ही अर्थ अभिप्रेत है, और वह यह है कि (3) मैं सभी ब्राह्मणों के चरणों को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि वे अज्ञान से उत्पन्न सब संदेहों को दूर करने वाले हैं।

राम कथा का एक बहुत ही सहत्वपूर्ण स्थल वह है, जहां 'हरि अवतार' की चर्चा है।

हरि अवतार हेतु जेहि होई,
इदमित्थ कहि जाइ न सोई.

—बाल कांड 147-1.

(हरि का अवतार जिस लिए होता है, वह कारण बिलकुल ठीकठीक नहीं कहा जा सकता.)

आगे वही कारण बताया भी है :

जब जब होइ धरम के हानी,
बाढ़हि असुर अधम अभिमानो.
करहि अनीति जाइ नहि बरनी,
सोढ़हि बिप्र धेनु सुर धरनी.
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा,

(जबजब धर्म की हानि होती है—
 नीच, अभिमानी, असुर बढ़ जाते हैं और
 वर्णनातीत अनीति करने लग जाते हैं,
 जिस से ब्राह्मण, गुरु, देवता और पृथ्वी
 दुख पाते हैं, तबतब प्रभु विविध अवतार
 धारण कर सज्जनों की पीड़ा दूर करते हैं.)

अवतारवाद

जिन के दुख से कृपानिधि हरि का
 हृदय द्रवीभूत होता है, उन में गऊ पशु
 जगत की प्रतिनिधि है. सुर अदृश्य जगत
 के प्रतिनिधि हैं और धरती जड़ प्रकृति
 की प्रतिनिधि है. मनुष्यलोक का
 प्रतिनिधित्व करने वाले एकमात्र ब्राह्मण
 ही हैं. मनुष्यों में से मात्र उन्हीं का
 आर्त्तनाद हरि के अवतार का कारण होता
 आया है.

हरि के अवतार के और भी कारण
 हैं. एक अवतार का वर्णन इस प्रकार है :

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ,
 जय अरु विजय जान सब कोऊ.
 बिप्र थाप तैं दूनऊं भाई,
 तामस असुर देह तिन्ह पाई.
 कनककसिपु अरु हाटकलोचन,
 जगत बिदित सुरपति मदमोचन.
 विजई समर बोर बिख्याता,
 धरि बराह बपु एक निपाता.
 होइ नरहरि दूसर पुनि मारा,
 जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा.

-बाल कांड : 148.3, 4.

(विष्णु के सर्वविदित जय और
 विजय नाम के दो द्वारपाल थे. ब्राह्मणों के
 शाप के फलस्वरूप दोनों भाई असुर हो
 गए. एक हिरण्यकशिपु और दूसरा
 हिरण्याक्ष. वे इंद्र के गर्व को दूर करने
 वाले थे. वे युद्धविजयी तथा विख्यात
 वीर थे. उन में से एक (हिरण्याक्ष) को
 मारने के लिए विष्णु ने वाराह का रूप
 धारण किया और दूसरे को मारने के

ऐसा भयानक था ब्राह्मण का शाप.
 वह 'हरि' के एक बार 'सूअर' और दूसरी
 बार 'नरसिंह' बनने का कारण बना. बात
 यहीं समाप्त नहीं होती, क्योंकि आगे
 उल्लेख है :

मुकुत न भए हते भगवाना,
 तीन जनम द्विज बचन प्रमाना.

-बाल कांड 149-1.

(भगवान के द्वारा मारे जाने पर भी
 वे मुक्त न हुए, क्योंकि ब्राह्मणों ने उन्हें
 तीन जन्म तक का शाप दे दिया था.)

क्या इस से ब्राह्मण का शाप भगवान
 के मोक्षदायक बाण से भी अधिक बलवान
 सिद्ध नहीं होता? इसी प्रकरण में वह
 लिखते हैं :

नारद थाप दीन्ह एक बारा,
 कल्प एक तेहि लगि अवतारा.

(एक बार ब्राह्मण नारद ने स्वयं
 भगवान को शाप दे दिया. इसलिए एक
 कल्प में उसी के कारण जन्म ग्रहण करना
 पड़ा.)

भगवान भी ब्राह्मण के शाप, उस के
 अधिकार से बाहर न रह सके. इसी शाप
 का आगे भी उल्लेख है :

थाप सीस धरि हरषि हिय,
 प्रभु बहु विनती कीन्ह.

-बाल कांड.

(भगवान ने उन का शाप सिर
 पर रख कर प्रसन्न मन से उन की बहुत
 विनती की.)

हम चार कदम भी आगे नहीं बढ़
 पाते कि राजा प्रतापभानु के बारे में
 पढ़ते हैं :

गुरु, सुर, संत, पितर महिदेवा,
 करइ सदा नृप सब के सेवा.

-बाल कांड : 182-2.

(राजा, गुरु, देवता, संत, पितर तथा
 पृथ्वी के देवताओं अर्थात् ब्राह्मणों की सदा
 सेवा किया करता था.)

ब्राह्मण अगर 'गुरु' हो तो सेवा समझ

में आती है, संत पुरुष हो, तो भी समझ में आती है, किंतु वह कुछ भी न हो, केवल ब्राह्मण होने मात्र से ही सेवा का अधिकारी है। महिदेव अर्थात् पृथ्वी का देवता जो है! वह फिर लिखते हैं :

नाना बापी कूप तड़ागा,
सुमन बाटिका सुंदर बागा.
बिप्र भवन सुर भवन सुहाए,
सब तीरथन्ह विचित्र बनाए.

—बाल कांड 182-4.

(उस ने सभी तीर्थों में अनेक बाव-लियां, कुएं, सरोवर, फूलवारी, सुंदर बाग और ब्राह्मणों के लिए घर तथा देवताओं के मंदिर बनवाए.)

ब्राह्मणों के रहने के लिए पृथक घर क्यों? क्या ब्राह्मण उस युग के 'अछूत' थे? एक कपटी 'मुनि' तक राजा प्रताप-भानु से कहता है :

कालउ तब पद नाइहि सीसा,
एक बिप्रकुल छांड़ि महीसा.
तपबल बिप्र सदा बरिआरा,
तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा.
जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा,
तौ तय बस विधि बिस्नु महेसा.
चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई.
सत्य कहउ कोउ भुजा उठाई.
बिप्र श्राप बिनु सुनु महिपाला,
तोर नास नाहि कवनेहुं काला.

—बाल कांड : 194-1,3.

(तुम्हारे चरणों में काल भी आ कर सिर झुकाएगा, एक ब्राह्मण कुल ही अप-वाद रहेगा. तप का बल होने के कारण ब्राह्मण सदा बलवान हैं. उन के कोप से कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता. हे राजन, यदि तू ब्राह्मणों को वश में रख सको, तो समझो कि ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश भी तुम्हारे वश में हैं. मैं दोनों हाथ उठा कर सत्य कहता हूं कि ब्राह्मणों से कोई पार नहीं पा सकता. हे राजन, तेरा नाश यदि होगा, तो केवल ब्राह्मण के शाप से ही होगा.)

राजा भानुप्रताप भी इस से इनकार

नहीं करता :
सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा,
द्विज गुरु कोप कहहु को राखा.

—बाल कांड : 165-3.

(राजा ने मुनि के पांव पकड़ कर कहा, यह कथन सत्य है. ब्राह्मण और गुरु के कोप से कौन रक्षा कर सकता है?)

राजा के प्रार्थना करने पर मुनि ने उसे ब्राह्मणों को वश में करने के उपाय बता कर कहा :

एहि बिधि भूप कष्ट अति थोरे,
होइहहि सकल बिप्र बस तोरे.
करिहहि बिप्र होम मख सेवा,
तेहि प्रसंग सहजहि बस देवा.

—बाल कांड 198-1.

(हे राजन, इस प्रकार थोड़े से कष्ट से ही सारे ब्राह्मण वश में हो जाएंगे. फिर वे होम और यज्ञ करेंगे और उस से सारे देवता भी वश में हो जाएंगे.)

ब्राह्मणों की चापलूसी

ब्राह्मणों के प्रसन्न रहने से, सारे देवता भी वश में रहें, तो उन्हें प्रसन्न रखना कौन नहीं चाहेगा!

ब्राह्मणों ने निरपराध राजा भानु प्रताप को अज्ञानवश शाप दे दिया. उन्हें विश्वास हो गया था कि राजा ने उन्हें ब्राह्मण मांस खिलाने का प्रयास किया. लेकिन जब ब्राह्मणों को आकाशवाणी के द्वारा वास्तविकता का बोध हुआ तो बोले :
भूपति भावी मिटइ नहि,
जदपि न दूषन तोर.
किए अन्यथा होइ नहि,
बिप्र-श्राप अति घोर.

—बाल कांड : 204.

(राजन, यद्यपि इस में तुम्हारा अप-राध नहीं है, तथापि होनहार नहीं मिट सकती. ब्राह्मणों का शाप बड़ा घोर है. यह किसी तरह अन्यथा हो ही नहीं सकता.)

मतलब, यह सुप्रोम कोर्ट का निर्णय

है, जिस के आगे फिर कोई दलील, अपील नहीं चल सकती।

इस का प्रमाण भी तुरंत ही मिलता है :

सत्यकेतु कुल कोउ नहि बांचा,
बिप्र आप किमि हीइ असांचा.

—बाल कांड 204-3.

(सत्यकेतु के कुल में कोई भी नहीं बचा. ब्राह्मणों का शाप असत्य कैसे हो सकता है.)

क्या आतंकवाद के इस से अधिक भयानक प्रचार की कल्पना की जा सकती है? यह प्रकरण रावण और विभीषण आदि के जन्म का है. उन सभी के बारे में लिखा है :

उपजै जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल
अनूपः
तदपि महोसुर आप बस भए सकल
अधरूप.

—बाल कांड : 206.

(यद्यपि वे पवित्र, निर्मल और अनुपम पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न हुए थे, तथापि ब्राह्मणों के शाप से सब पाप के अवतार हुए.)

आतंकवाद का प्रचार

इतना तो तब हुआ, जब राजा भानु-प्रताप निरपराध था, वह वास्तव में अपराधी रहा होता, तो न जाने ब्राह्मणों का शाप क्याक्या कर गुजरता.

रावण राज्य का चित्र खींचते हुए तुलसी कहते हैं :

सुभ आचरण कतहु नहि होई,
देव बिप्र गुहमान न कोई.

—बाल कांड 214-4.

(कहीं कुछ भी शुभ आचरण नहीं रह गया था. देवताओं, ब्राह्मणों तथा गुरुओं को कोई नहीं पूछता था.)

ब्राह्मणों की पूछ, शुभ आचरण का अनिवार्य अंग है. बिना उस के शुभ आचरण की कल्पना असंभव है. इतना ही नहीं,

उन्होंने ब्राह्मणों के मुख से अपने चरित-नायक का जो स्तुति कराई है, वह भी विचारणीय है :

जयजय सुरनायक जन सुखदायक
प्रणतपाल भगवंता,
गो द्विज हितकारी जय असुरारी
सिधुसुता प्रिय कंता.

(हे देवताओं के स्वामी, भक्तों के सुखदायक प्रणतपाल भगवान्, आप की जय हो. आप गौश्री और ब्राह्मणों का हित करने वाले हैं, दैत्यों के बैरी हैं और लक्ष्मीपति हैं.)

तुलसी के भगवान् गौश्री और ब्राह्मणों का विशेष हित करने वाले हैं!

भगवान् के अवतार लेने के कारण वह फिर लिखते हैं :

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज
अवतार,
निज इच्छा निर्मित तनु माया गन
गो पार.

—बाल कांड : 224.

(यद्यपि भगवान्, माया, गुण और इंद्रियों से परे हैं, तो भी उन्होंने ब्राह्मण, गऊ, देवता और संतों के हित मनुष्य रूप धारण किया.)

यहां ब्राह्मणों का उल्लेख सब से पहले और संतों का उल्लेख गौश्री तथा देवताओं के भी बाद है.

राम जन्म हो गया, तो राजा का दान देना स्वाभाविक है. उस का उल्लेख है :

तब नंदी मुख खाढ़ करि जातकुरम
सब कोन्ह,
हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह
कह दीन्ह.

—बाल कांड : 225.

(राजा ने नंदी मुखश्राद्ध कर के जातकर्म संस्कार किया और फिर सुवर्ण गाय, वस्त्र और मणि ब्राह्मणों को दान दिए.)

अब तुलसी के इस राम का शरीर सौंदर्य देखिए :

उर मनिहार पदिक की सोभा,
बिप्र चरन देखत मन मोभा।

CC-0. Agamganga Digital Preservation Foundation, Chandigarh.

—बाल कांड : 230-3.

(उन के हृदय में मणिष्यों का हार और चौकी सुशोभित है, तथा ब्राह्मणों के चरणों का चिह्न मन को मोहित कर लेता है।)

भगवान की छाती पर भी ब्राह्मण चरण का चिह्न ही था और कोई शुभ चिह्न नहीं!

विश्वामित्र राम लक्ष्मण की याचना के लिए राजा दशरथ से मिलने आए हैं। इस अवसर पर लिखा है :

मुनि आगमन सुना जब राजा,
मिलन गयउ लै बिप्र समाजा।

ब्राह्मणों को साथ लिए बिना कहीं किसी का स्वागत तक न हो सकता था।

विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को साथ लिए जनकपुरी की ओर बढ़े चले आ रहे हैं। रास्ते में गंगा का दर्शन होता है। इस अवसर पर लिखा है :

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए,
विविध दान महिदेवन्ह पाए।

—बाल कांड : 244-2.

(फिर ऋषियों सहित भगवान नहाए। पृथ्वी के देवताओं—ब्राह्मणों ने नाना प्रकार के दान पाए।)

राजा जनक विश्वामित्र से मिलने के लिए आ रहे हैं, तो वहां भी :

संग सचिव सुचि भूरि भट,
भूसुर बर गुरु ग्याति।

मले मिलन मुनिनायकहि,
मुदित राउ एहि भांति।

—बाल कांड : 247.

(राजा जनक प्रसन्न वित्त हो मंत्री, अनेक योद्धा और ब्राह्मण गुरु तथा घराने के लोगों को साथ ले कर विश्वामित्र से मिलने के लिए चले।)

राजा जनक का धनुष टूट चुका है। राम के वक्षःस्थल पर जयमाला पड़ चुकी है। सभी प्रसन्न हैं :

नार्चाहि गावाहि बिबुध बधूटी,

बारबार कुसमांजलि छदी।

जह तेह बिप्र बंद धुति करही,
बंदी बिरदावली उच्चरही।

—बाल कांड : 297-2.

(अप्रसराएं नाच गा रही हैं। बारबार फूलों की डालियां बरस रही हैं। ब्राह्मण लोग वेद ध्वनि कर रहे हैं, भाट लोग स्तुति गान कर रहे हैं।)

यहां भी ब्राह्मण लोग ही वेद ध्वनि कर रहे हैं। दूसरा कर ही कौन सकता था!

परशुराम के साथ वार्तालाप के समय लक्ष्मण की वाणी कितनी यथार्थवादी है :

बधे पाप अपकीरति हारे,
सारतहुं पां परिय तुम्हारे।

कोटि कुलिस सम बचन तुम्हारा,
व्यर्थ धरहु धनु बान कुंठारा।

—बाल कांड : 305-4.

(आप को मार डालने से पाप लगेगा। आप से हारने में अपकीर्ति है। आप मारें तब भी आप के पांव ही पड़ना होगा। आप का वचन ही करोड़ों वज्रों के समान है। आप तो धनुष बाण तथा कुल्हाड़ा व्यर्थ ही धारण करते हैं।)

ब्राह्मण सर्वोपरि

जाति विशेष के प्रत्येक सदस्य के संबंध में समस्त समाज की ऐसी धारणा हो और वह दृढ़ हो गई हो, तो फिर समाज को और किस सुरक्षा की आवश्यकता है?

लक्ष्मण ने कहा :

मिले न कबहुं सुभट रन गाढ़े,
द्विज देवता धरहि के बाढ़े।

—बाल कांड : 308-4.

(आप को युद्ध में कभी अच्छे योद्धा नहीं मिले। ब्राह्मण और देवता घर बैठे ही बड़े बनते हैं।)

यह ब्राह्मणशाही के खिलाफ विद्रोह का स्वर था, इसलिए राम से आगे की पंक्तियां कहलवा कर तुलसी ने इस स्वर का गला घोट दिया है :

हमहि तुम्हहि लखबि कस जाय। Digital Preservation of Unpublished Manuscripts
कहहुं न कहां चरन कहं माया। पहुंची, तो राजा दशरथ की रानियों ने :

(हे नाथ, हमारी तुम्हारी बराबरी कैसे? कहिए न कहां हम चरणों के समान और कहां आप मस्तक के समान!)

धनुष टूट गया। परशुराम हतप्रभ हो तपस्या करने के लिए बन चले गए। तब विश्वामित्र ने राजा जनक से कहा : तदपि जाइ तुम्ह करहुं अब जथा वस व्यवहार। बूझि बिप्र कुल बृद्ध गुरु वेद बिदित अचार।

—बाल कांड 319.

(यद्यपि एक प्रकार से अब विवाह तो हो ही गया, तो भी तुम कुल की मर्यादा के अनुसार सब व्यवहार करो। ब्राह्मण वंश में बृद्ध लोगों तथा गुरुओं से पूछ कर वेदानुकूल आचार करो।)

यहां भी वंश के बड़े लोगों और गुरुओं के रहते हुए भी बिना ब्राह्मणों के गुजारा नहीं। सब से पहले उन्हीं का उल्लेख है।

वसिष्ठ खुश हो कर दशरथ की स्तुति कर रहे हैं :

तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर सेवी,
तसि पुनीत कौसल्या देवी।

—बाल कांड 326-2.

(आप गुरु, ब्राह्मण, गौ और देवताओं के सेवक हैं और वैसी ही पवित्र महारानी कौसल्या देवी हैं।)

ब्राह्मण सेवा

क्या यह ऊपर से चतुर्मुखी दीखने वाली सेवा, अंततोगत्वा ब्राह्मणों की सेवा ही नहीं ठहरती? गुरु प्रायः ब्राह्मण रहते हैं, इसलिए गुरु सेवा का मतलब भी ब्राह्मण सेवा ही है। ब्राह्मण सेवा तो ब्राह्मण सेवा है ही। गो सेवा का भी प्रचलित अर्थ ब्राह्मण को गो दान देना ही रह गया है और सेवा का मतलब तो ब्राह्मण सेवा रहा ही है।

दिए दान आनंद समेता,
चले बिप्रवर आसिष देता।

—बाल कांड : 327-4.

(उन्होंने आनंदित हो कर दान दिए, और बिप्रवर आशीर्वाद देते हुए विदा हुए।) बारात की तैयारी में भी :

बाहन अपर अनेक विधाना,
सिबिका सुभग सुखासन जाना।
तिन्ह चढ़ि बिप्रवर वृंदा,
जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा।

—बाल कांड 332-2.

(सुंदर पालकियां और विमान, जिन में बैठने की सुविधा थी तथा कई तरह की और सवारियां भी थीं। उन पर सवार हो कर श्रेष्ठ ब्राह्मणों के झुंड चले। वे ऐसे मालूम देते थे, मानो संपूर्ण बंदों के छंद मूर्तिमान हो कर जा रहे हैं।)

सब जनकपुरी में पहुंच गए हैं। यहां भी वही एक बात :

बिप्रवृंद बंदे दुहुं भाई,
मनभावती असोसै पाई।

—बाल कांड 340-3.

(फिर दोनों भाइयों ने ब्राह्मण समाज को नमस्कार किया और मनमाने आशीर्वाद प्राप्त किए।)

राम विवाह की तैयारी हो रही है, तो इस अवसर पर भी :

सुभग सुआसिनी गावहि गीता,
करहि बेद ध्वनि बिप्र पुनीता।

—बाल कांड 345-2.

(सौभाग्यवती स्त्रियां सुंदर गीत गाने लगीं और ब्राह्मण लोग पवित्र पाठ करने लगे।)

फिर तुरंत देखिए :

समय समय सुर बरखाहि फूला,
सांति पढ़हि महिसुर अनुकूला,

—बाल कांड 351-3.

(समय समय पर देवता फूल बरसाते हैं। ब्राह्मण लोग अनुकूल शांति पाठ करते हैं।)

CC-0. Agamhigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रामचरितमानस में पूजाग पुर
ब्राह्मणों का उल्लेख है, लेकिन क्षत्रियों
का उल्लेख जातिगत दृष्टि से कितनी बार
है? वैश्यों का तो प्रायः है ही नहीं। शूद्रों
का जहां कहीं भी उल्लेख हुआ है, वहां
साथ ही यह घोषणा भी है कि वे नीच
जाति के हैं।

तुलसी के अनुसार वेदों को भी
ब्राह्मण वेष ही धारण करना पड़ता है :

बिप्र वेष धरि वेद सब कहि बिबाह
बिधि देहि.

—बाल कांड 365.

(वेद ब्राह्मणों का वेष धारण कर
संपूर्ण विवाह विधि बता देते थे.)

आगे दान दिए जाने की चर्चा है.
कहना अनावश्यक है कि दान मात्र ब्राह्मणों
को ही मिलने वाला है :

चारि लच्छ बर धेनु मंगाई,
काम सुरभि सम सोल सुहाई.
सब बिधि सकल अलंकृत कोहीं,
मुदित महषि महिदेवन्ह दीन्हों.

—बाल कांड 363-1, 2.

(कामधेनु के समान शील वाली
सुंदर चार लाख गाएं मंगवाईं. उन सभी
को सब तरह के गहने पहनाए और प्रसन्नता
के साथ राजा ने ब्राह्मणों को दान दीं.)

सीता की विदा के समय जनक उसे
पहुंचाने के लिए चले हैं :

भूसुर सचिव समेत समाजा.
संग चले पहुंचावन राजा.

—बाल कांड 371-2.

(ब्राह्मण, मंत्रीगण और समाज सहित
राजा पहुंचाने के लिए चले.)

राम सोने जा रहे हैं, तो भी ब्राह्मणों
के चरणों का स्मरण अनिवार्य है.

सुमरि संभु गुरु बिप्रपद किए नौंद
बस नैन.

—बाल कांड : 391.

रामचरितमानस में ब्राह्मण पूजा

कभीकभी तो ऐसा संदेह होता है कि

रामचरितमानस, राम के महत्त्व से भी
अधिक ब्राह्मणों का महत्त्व सिद्ध और
स्थापित करने वाला महाकाव्य है.

राम के राज्याभिषेक के लिए जो
तैयारियां आवश्यक हैं, उन में एक आदेश
यह भी है :

पूजहू गनपति गुरु कुलदेवा,
सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा.

—अयोध्या कांड, 6-4.

(गणेश तथा कुल देवताओं की पूजा
करो और ब्राह्मणों की सब तरह सेवा
करो.)

राम के वन गमन के समय भी तुलसी
ब्राह्मणों को नहीं भूलते :

कहि प्रिय बचन सकल समझाए,
बिप्र बृंद रघुबीर बोलाए.
गुरु सन कहि बरषासन दीन्हें,
आदर दान बिनय बस कीन्हें.

—अयोध्या कांड 80-1.

(राम ने प्यारे वचन कह कर सब
को समझाया. फिर ब्राह्मणों को बुलवाया
और गुरु से कह कर उन्हें वर्षों के लिए
भोजन दिया और आदर, दान तथा
विनय से उन्हें प्रसन्न किया.)

ब्राह्मणों को दान देने का कोई असमय
है ही नहीं. तभी तो ऐसे दुःखद समय में
भी वर्षों के लिए भोजन दिया और लिया
जा रहा है.

वन में राम वाल्मीकि मुनि से कह
रहे हैं :

मंगल मूल बिप्र परितोषू,
दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू.

—अयोध्या कांड 126-2.

(ब्राह्मणों का प्रसन्न होना ही मंगल की
जड़ है. ब्राह्मणों का क्रोध करोड़ों कुलों
को भस्म कर डालता है.)

मंत्री सुमंत राम को वन गमन के
लिए विदा कर के अकेला लौट आया है,
तब उस की दशा का वर्णन इस प्रकार है :

पैठत नगर सचिव सकुचाई,
जनु मारेसि गुरु बांभन गाई.

—अयोध्या कांड : 147-2.

सकुचाता था मानो उस ने गुरु, ब्राह्मण और गाय मार डाले हों।)

यहाँ भी ब्राह्मण को सामान्य व्यक्ति से विशिष्ट सिद्ध करने का प्रयास है।

दशरथ के श्राद्ध के समय भी तुलसी ब्राह्मण को नहीं भूलते।

सिंहासन भूषण बसन अन्न धरनि धन धाम,

दिए भरत लहि भूमिसुर भे परि- पूरन काम।

-अयोध्या कांड : 171.

(भरत ने ब्राह्मणों को सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथ्वी, धन, मकान, सब दिए: उन्हें ले कर ब्राह्मण पूर्ण काम हो गए।)

तुलसी ने ब्राह्मणों की तुलना में जिन्हें 'नीच' कहा है, उद को चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी। भरत और गुरु के प्रेमपूर्ण मिलाप का वर्णन है :

लोक बेद सन्न भांतिहि नीचा,

जासु छांह छुई लेइअ सींचा।

तेहि भरि अंक राम लघु आता,

मिलत पुलक परिपूरित गाता।

-अयोध्या कांड 194-2.

(लोक और वेद में जो सब तरह से नीच हैं और जिस की छाया के भी छू जाने से स्नान करना होता है, उस निषाद से राम के छोटे भाई भरत लिपट कर मिल रहे हैं, और उन का शरीर पुल-कायमान हो रहा है।)

'रेख में मेख' का प्रयास

लाख लिपट कर मिलें, लाख पुल-कायमान हों, क्या उस से तुलसी की इस रेख में मेख लग सकती है कि निषाद आदि, लोक और वेद में सब तरह से नीच हैं और उन की छाया के छू जाने मात्र से भी स्नान करना होता है। एक निषाद ही क्या, दूसरों की भी खबर ली है :

स्वपच सबर खस जमन जड़ पावरं

राम कहत पावन परम होत भुवन बिछ्यात।

अयोध्या कांड : 195.

(चांडाल, भंगी, शंबर, खस, यवन, मूर्ख, नीच, कोल, भील, किरात इत्यादि सभी राम नाम लेने से परम पवित्र हो जाते हैं; यह बात सारे संसार में प्रसिद्ध है।)

नीच और मूर्ख शब्दों के साथ इन जातियों की गणना करना, क्या यह सिद्ध नहीं करता कि तुलसी इन पूरी जातियों को हीन समझते हैं?

आगे स्वयं गुहाराज कह रहे हैं :

कपटी कायर कुमति कुजाती,

लोक बेद बाहर सब भांती।

अयोध्या कांड 196-1.

(मैं कायर, कपटी, कुमति, कुजाति और हर तरह से लोक और वेद से बाहर हूँ।)

कौन सा अपशब्द बचा है, जिस का उपयोग गुहाराज अपने लिए नहीं कर रहा है? वह लोक और वेद से बाहर होने पर भी ब्राह्मणशाही के जाल की कितनी बड़ी मछली है?

यहाँ एक किरात कह रहा है :

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई,

लेहि न बासन बसन चोराई।

हम जड़जीव जीवंगन घांती,

कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।

-अयोध्या कांड : 251-2.

(हमारी यही बड़ी भारी सेवकाई है, जो हम कपड़े और बरतन न चुरा लें। हम मूर्ख लोग हजारों जीवों की हत्या करने वाले हैं और कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि तथा नीच जाति के हैं।)

ध्यान देने योग्य है कि भील ये शब्द केवल अपने लिए ही नहीं, अपनी पूरी जाति के लिए इस्तेमाल कर रहा है।

सामान्य रूप से तुलसी के स्त्री प्रशंसक होने की ख्याति नहीं ही है, किंतु ब्राह्मणों की स्त्रियाँ हों, तो वे तो पूज्य हैं हीं।

गुरुतिय पद बंदे दुहु भाई,

—अयोध्या कांड : 245-1.

(राम तथा लक्ष्मण दोनों भाइयों ने गुरुओं की स्त्रियों को नमस्कार किया. साथ ही उन ब्राह्मण स्त्रियों को भी, जो संग आई थीं.)

भरत राम को वन से वापस लौटा लाने में असमर्थ हो कर स्वयं अयोध्या लौट आए हैं, और राज्यानुशासन कर रहे हैं. वह भी ब्राह्मणों से कहते हैं :

भूसुर बोलि भरत कर जोरे,
करि प्रनाम कर विनय निहोरे.

अंचनीच कारजू मल पोचू,
आयसु देव न कर संकोचू.

—अयोध्या कांड : 3-23-2.

(भरतजी ने ब्राह्मणों को बुला कर उन्हें हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और बड़ी नम्रता से अनुग्रह की प्रार्थना कर कहा : आप लोग अंचनीच, अच्छाबुरा जो कुछ कार्य हो, उस के लिए मुझे आज्ञा दीजिएगा. संकोच न कीजिएगा.)

अच्छेबुरे का लाइसेंस

ब्राह्मण की आज्ञा हो तो अच्छाबुरा कोई भी कार्य हो सकता है!

राम सीता को खोजते फिर रहे हैं. रास्ते में पूर्व जन्म का गंधर्व एक राक्षस मिलता है. उस की कथा यों है कि एक बार इंद्र की सभा में उस ने गान किया. उस पर दुर्वासा मुनि प्रसन्न नहीं हुए. गंधर्व ने उन्हें अनभिज्ञ कह दिया. बस दुर्वासा ने उसे शाप दे दिया और बेचारे को राक्षस का जन्म ग्रहण करना पड़ा. उसी पूर्व जन्म के गंधर्व को तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम क्या शिक्षा दे रहे हैं :

सुनु गंधर्व कहउं मैं तोही,
मोहि न सुहाइ ब्रह्म कुल द्रोही.

—अरण्य कांड : 39-4.

(हे गंधर्व, सुन, मैं तुझे कहता हूं, मुझे ब्राह्मण कुल द्रोही अच्छा नहीं लगता.)

भूसुर सेव,
मोहि समेत विरंचि सिव बस ताके
सब देव.

—अरण्य कांड : 40.

(जो कोई कपट का त्याग कर मन, वचन और कर्म से ब्राह्मण की सेवा करता है, उस के बस में मुझ सहित ब्रह्मा, शिव और सब देवता हो जाते हैं.)

सापत ताड़त परुष कहंता,
बिप्र पूज्य अस गावर्वाह संता.
पूजिय बिप्र सोल गुन होना,
सूद न गुन गन ग्यान प्रवीना.

—अरण्य कांड : 40-1.

(ब्राह्मण चाहे शाप दे, मारे या कटु वचन कहे, तो भी वह पूज्य होता है. ब्राह्मण शील और गुणों से हीन हो, तो भी उसे पूजना चाहिए और शूद्र गुण और ज्ञान में निपुण हो, तो भी उसे नहीं पूजना चाहिए, ऐसा संत पुरुष कहते हैं.)

स्वयं राम के मुंह में डाली गई जाति स्वार्थ मूलक, समाज हित विरोधिनी, इन विषैली चौपाइयों की और किसी तरह व्याख्या हो ही नहीं सकती, सिवा इस के कि यहां पहुंच कर ब्राह्मणों के निहित स्वार्थों ने एकदम तंगा रूप धारण कर लिया है. यदि शील और गुणों से हीन होने पर भी ब्राह्मणों की पूजा करना और गुणों तथा शील ज्ञान में प्रवीण होने पर भी शूद्रों की पूजा न करना ही संत मत है, तो फिर असंत मत और किसे कहते हैं?

ब्राह्मणों को अनावश्यक महत्त्व दिलाने का एक और प्रमाण है :

मसक दंस बोते हिमत्रासा,
जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा.

—किष्किंधा कांड : 19-4.

(मच्छर और डांस ठंड के दुख से ऐसे नष्ट हो गए, जैसे ब्राह्मण से द्वेष करने पर कुल नष्ट हों.)

यह ब्राह्मणशाही की प्रतिष्ठा का एक अद्भुत प्रयास है :

ब्रह्म अस्त्र तेहि सधा,

कपि मन कोहि विचार.

जौं न ब्रह्म सर मानऊं,
महिमा मिटई अवार.

—सुंदर कांड : 19.

(मेघनाद ने हनुमान को पकड़ने के लिए उन पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया. यह देख कर हनुमान ने मन में विचार किया यदि मैं ब्रह्मास्त्र न मानूंगा, तो इस अस्त्र की महिमा मिट जाएगी.)

भाई को समझाने में असमर्थ रह कर विभीषण शत्रु पक्ष में राम के पास चला आया है, तो राम कहते हैं :

सगुन उपासक परहित निरत नीति
दृढ़ नेम,
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज
पद प्रेम.

—सुंदर कांड : 49.

(जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, जो परोपकार करने में तत्पर हैं, जो नीतिमान और दृढ़ नियम वाले हैं और जिन का ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम है, वे मनुष्य मुझे प्राण के समान प्यारे हैं.)

महिमा चरणों की

यदि किसी व्यक्ति या जाति में प्रथम तीनों गुण हों, किंतु मात्र चौथा गुण— ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम न हो, तो उस की क्या स्थिति होगी? ब्राह्मणों के चरणों में प्रेम होने में ऐसी कौन सी विशेषता है, अथवा उस से ऐसा कौन सा समाज हित होता है कि उस के कारण वह व्यक्ति अथवा समाज राम को 'प्राण के समान प्यारा,' हो जाता है?

राम ने विस्तार से युद्ध के बारे में कहा है :

कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा,
एहि सम विजय उपाय न दूजा.

—लंका कांड : 102-5.

(ब्राह्मणों और गुरुओं की पूजा अथवा ब्राह्मण गुरुओं की पूजा अभेद कवच है. इस के समान विजय का दूसरा उपाय

नहीं है.)

इंद्र ने राम के लिए रथ भेजा है, जिस से अब वे भी विरथी नहीं रहे हैं. इस अवसर पर भी :

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा,
बिप्र चरन पंकज सिर नावा.

—लंका कांड : 114-1.

(ऐसा कह कर और ब्राह्मणों के चरण कमलों में शीश झुका कर रघुनाथ ने रथ चलाया.)

ब्राह्मणों के चरण कमलों के समान अमोघ कवच और दूसरा कौन सा होगा?

राम रावण का वध कर और विभीषण को राजतिलक दे अयोध्या लौट आए हैं. इस अवसर पर भी :

सकल द्विजन्ह मिलि नायऊ माथा,
धरम धुरंधर रघुकुल नाथा.

—उत्तर कांड : 13-3.

(धर्म के आधार, रघुवंश के स्वामी राम ने सब ब्राह्मणों से मिल कर उन के चरणों में प्रणाम किया.)

धर्मभोर पाठकों पर यह रोब गांठा जा रहा है कि 'धर्म के आधार' राम भी ब्राह्मणों को समयअसमय नमस्कार करते हैं.

राम के अयोध्या के राजसिंहासन को सुशोभित करने का अवसर आया है, तो वसिष्ठ की आज्ञा है :

सब द्विज देहु हरषि अनुशासन,
रामचंद्र बैठैह सिंहासन.

—उत्तर कांड : 21-3.

(सब ब्राह्मण प्रसन्न हो कर आज्ञा दो कि रामचंद्रजी सिंहासन पर बैठें.) राम-राज्य स्थापित हो गया. उस की विशेषताओं का वर्णन है :

सब उदार सब पर उपकारी,
बिप्र चरन सेवक नरनारी.

उत्तर कांड : 44-4.

(सभी उदार हैं. सभी परोपकारी हैं. सभी नरनारी ब्राह्मणों के चरणों के सेवक हैं.)

प्रतीत होता है कि सारा औदार्य और सारा परोपकार ब्राह्मणों के चरणों की सेवा

तक ही सीमित है। अतः ही महाभारत-पञ्चदश स्कन्धों में अस्मत् पुरुषों के लक्षण इस प्रकार

गिनाए गए हैं :

मातु पिता गुरु बिप्र न मानहि,
आपु गए अरु घालहि आनहि.
बिप्रद्रोह सुर द्रोह विसेषा,
दंभ कपट जिय धरे सुवेषा.

—उत्तर कांड : 62-3, 4.

(वे माता पिता गुरु, और ब्राह्मणों को नहीं मानते। आप तो गण्य होते हैं ही औरों को भी ले डूबते हैं। वे विशेषकर ब्राह्मणों और देवताओं से द्वेष करते हैं। दंभ और कपट तो उन में भरा रहता है किंतु वे ऊपर से अच्छा वेष बनाए रखते हैं।)

इन दो चौपाइयों में ब्राह्मणों को न मानने वालों के लिए अपशब्दों के सभी पर्याय इकट्ठे नहीं किए गए हैं?

आगे भी श्री रामचंद्रजी ने कहलवाया है :

पुन्य एक जग महं नहीं दूजा,
मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा.
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा,
जो तजि कपट करइ द्विज सेवा.

—उत्तर कांड : 67-14.

(संसार में पुण्य एक ही है, दूसरा नहीं, वह है—मन, कर्म और वचन से ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करना। जो कपट छोड़ कर ब्राह्मणों की सेवा करता है, मुनि तथा देवता उसी के अनुकूल रहते हैं।)

शूद्रों की निंदा :

ब्राह्मण समाज के लिए तुलसी इस से अधिक और क्या लिख और कर सकते थे? इस सारे ब्राह्मण माहात्म्य को निम्न-लिखित चौपाइयों के साथ पढ़िए, जो तुलसी ने एक पूर्व जन्म के शूद्र से कहलवाई है :

अधम जाति में विद्या पाए,
भयं जथा अहि दूध पित्राए.
मानी, कुटिल कुभाग्य कुजाती,

—उत्तर कांड : 163-3, 4.

(नीच जाति का मैं, विद्या पाने पर वंसा हो गया, जैसे दूध पिलाने पर सांप हो जाता है। अभिमान, कुटिल, कुभाग्य-वाला, कुजाति मैं दिन रात गुरु का द्रोह करता था।)

इस से बढ़ कर शूद्रों की और क्या निंदा हो सकती है?

अंत में उस शूद्र को ब्राह्मण का जन्म मिल जाता है। इस का उल्लेख है :

चरम देह द्विज कैं मैं पाई,
सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई.

—उत्तर कांड : 181-2.

(अंत में मुझे वह ब्राह्मण शरीर मिला, जो पुराण तथा वेदों के अनुसार देवताओं को भी दुर्लभ है।)

ब्राह्मण की निंदा करने का फल सुनिए :

द्विज निंदक बहु नरक भोग करि,
जग जनमइ बायस सरीर धरि.

—उत्तर कांड : 207-12.

(ब्राह्मण का निंदक बहुत से नरक भोग कर, कोवे का शरीर धारण कर जन्म लेता है।)

इस में संदेह नहीं कि तुलसी ने राम-चरितमानस में ब्राह्मण पक्षपात का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। यह पक्षपात या तो उन की अपनी जड़ धारणाओं की अभिव्यक्ति है या फिर ब्राह्मण समाज के निहित स्वार्थों की रक्षा का जान-बूझ कर किया गया साहित्यिक प्रयास है। लेकिन हमें डर है कि भावी इतिहास लेखक का फंसला कहीं यह न हो कि ऐसा कर के तुलसी ने स्वयं ब्राह्मणों का भी अहित ही किया है।

संतोष का विषय है कि जनता जागरूक है और अब रामचरितमानस की विपरीत शिक्षाओं का प्रभाव दिनों दिन घट रहा है।

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

**बच्चे तीन से कम पैदा कीजिए,
पेड़ पांच से अधिक लगाइए.**

भारत की सब से बड़ी समस्या है गरीबी और जनसंख्या का बेलगाम बढ़ते जाना। सभी धर्म ग्रंथों में लिखा होने पर भी कि अमुक राजा या व्यक्ति अमुक पुरुष के वीर्य से, अमुक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जनता को यही भुलावा दिया जाता रहा कि संतान भगवान की देन है।

जब तक आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी चिकित्सा पद्धति भारत में नहीं आई थी, गरीबी, भुखमरी, अकाल और अनेक महामारियों के कारण जनसंख्या सीमित रहती थी। मृत्यु दर लगातार घटती जा रही है। जहां पहले 100 बच्चों में से मुश्किल से 5-10 बच पाते थे, आज 60-70 से अधिक जीवित रहते हैं।

इस सब के कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि हो रही है और इस व्याधि को भगवान और भाग्य के भरोसे छोड़ना सामूहिक आत्महत्या के समान है। 'भगवान जिसे दो हाथ देता है, उसे खाना भी देगा,' यह सिद्धांत बिल्कुल ही गलत और भ्रामक है।

यदि आप अपनी, अपने परिवार की और देश की गरीबी रोकना चाहते हैं तो बच्चे कम पैदा कीजिए। भगवान का इस में कोई दखल नहीं है। यदि गर्भ निरोधक सही प्रकार से प्रयोग में लाए जाएं तो भगवान भी किसी स्त्री के संतान उत्पन्न नहीं कर सकते।

आज के मशीनी युग में। सैकड़ों व्यक्तियों का काम एक मशीन हजार गुना गति से पूरा कर देती है। आज वही व्यक्ति शक्तिशाली व धनी हो सकता है, जिस को ऊंचे दर्जे की शिक्षा और प्रशिक्षण मिला हो। इन सब के लिए धन चाहिए। जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही धन

प्रति बच्चा कम होता जाएगा। नतीजा यह होगा कि जिन के बच्चे कम होंगे, वे उन्हें अच्छा, महंगा प्रशिक्षण दे सकेंगे।

देश में अधिक से अधिक पेड़ लगाने की भी आवश्यकता है। क्योंकि बाढ़ें अधिक आ रही हैं, नदियों और बांधों में मिट्टी भरती जा रही है, सूखा पड़ता जा रहा है, रेगिस्तान फैलता जा रहा है। लकड़ी कम और महंगी होती जा रही है।

इसलिए आप अपने बच्चों का मोह अधिक वृक्ष उगा कर पूरा कीजिए। यह निश्चय कीजिए कि अपने जीवन में आप कम से कम पांच वृक्ष अवश्य लगा कर बड़े करेंगे। बच्चे बड़े हो कर विश्वासघात कर सकते हैं, आप को कष्ट पहुंचा सकते हैं, परंतु वृक्ष सदा आप के प्रति वफादार रहेंगे, वे आप को बराबर हर वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार फलफूल देंगे, छाया देंगे, मौसम की बदलती आंखों से आप के घर की रक्षा करेंगे।

हो सकता है आप किराए के मकान या फ्लैट में रहते हों। यदि आप निचली मंजिल में रहते हैं तो वहां भी पेड़ लगा सकते हैं—और इस पर लागत अधिक नहीं आती। यदि आप केवल ऊपरी मंजिलों में रहते हैं तो वहां गमलों में पौधे लगाइए, सब्जी बोइए, बेलें चढ़ाइए। अपनी जमीन न हो तो किसी सार्वजनिक स्थान में—स्कूल, अस्पताल, बगीचा, सड़क, धर्मशाला आदि में, प्रबंधकों से अनुमति ले कर वृक्ष लगाइए। ज्योंज्यों वे बढ़ते जाएंगे, आप को एक अपूर्व संतोष, शांति और परिपूर्ति का उत्तरोत्तर अनुभव हो जाएगा।

आज ही निश्चय कीजिए :

बच्चे दो या तीन, पेड़ पांच से पचीस।

भारतीय नारी

रतनलाल बंसल

धर्म के नाम पर युगोंयुगों से शोषित

हमारे देश में नारी समाज की उन्नति के लिए, पुरुषों के समान ही उन्हें भी स्वाधिकारी बनाने के लिए जब कभी रंच मात्र भी प्रयत्न किया जाता है, तभी रूढ़िवादी समाज की ओर से उस का घोर विरोध होना प्रारंभ हो जाता है। कहा जाता है, "नारी तो इस देश में युगयुग से पूजनीय रही है। हमारे देश जैसा आदर नारी को और मिला कहां है? हमारे शास्त्र वचन तो देखिए। अब क्या हमें पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित तथाकथित सुधारकों से 'नारी के प्रति व्यवहार' सीखना होगा? कृपया हमारे गृहस्थ जीवन की पवित्रता में हस्तक्षेप मत कीजिए। हम तो इस संबंध में अपने धर्मशास्त्रों के अनुसार ही चलना चाहते हैं और चलेंगे।"

उपरोक्त तर्क में नारी के प्रति घोर भक्ति भावना प्रदर्शित की जाती है और फिर ऊपर से संस्कृत के दोचार बहु-प्रचलित श्लोक भी उस के प्रमाण में उपस्थित कर दिए जाते हैं। अतः साधारण जनता प्रायः मान जाती है कि सचमुच ही ऊपर कही गई बातें बिल्कुल ठीक हैं।

किंतु यदि हम अपने इतिहास का अध्ययन और मनन करें और उन तथाकथित धर्मशास्त्रों को आंख खोल कर पढ़ें, जिन की मर्यादा रक्षा के नाम पर यह उछलकूद मचाई जाती है, तो हम उपरोक्त कथन के सर्वथा विपरीत निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। प्राचीन काल के विभिन्न

युगों में भारतीय नारी पर धर्म और व्यवस्था के नाम पर कैसे बर्बर प्रत्याचार होते रहे हैं, इस की कुछ झांकियां दिखा देना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

बहुपत्नीत्व

नारी की अधोगति ऋग्वेद के अंतिम काल से ही प्रारंभ हो जाती है। इस से पूर्व नारी की स्थिति पुरुषों के समान ही रही होगी, ऐसा जान पड़ता है। घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, शची पौलोमी, वांगम्रणी इत्यादि नारी द्रष्टाओं के मंत्र ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। किंतु इसी युग में बहुपत्नी प्रथा रहने का प्रमाण भी मिलता है। शची पौलोमी दूत वाक्यावली में कहती है : "जैसे सूर्य आकाश के मर्धा पर चढ़ता है, मेरा सौभाग्य भी अध्वान्मुख हो चला है; मेरी सपत्नियां धूलधूसरित हैं, मेरे पुत्र दिशाओं के स्वामी हैं, मेरा पति इंद्र मेरे हवि से शक्ति धारण करता है।"

उपरोक्त मंत्रार्थ में "मेरी सपत्नियां धूलधूसरित हैं" जैसे वाक्य प्रमाणित करते हैं कि बहुपत्नी प्रथा प्रचलित हो चुकी थी और नारी समाज इस प्रथा का विरोधी था। आशय यह है कि दांपत्य जीवन में नारी की इच्छा का कोई मूल्य नहीं रह गया था। ध्यान रहे कि यह भारतीय नारी समाज के लिए सर्वोत्तम काल रहा है।

इस के पश्चात धर्म के नाम पर पुरुषों

के अधिकार धीरेधीरे बढ़ते जाते हैं और नारी पूरी तरह पराधीन हो जाती है। केवल

मात्र भोग एवं पुत्र के लिए ही उस की उपयोगिता है। ऐसे अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं कि बलात्कार पुरुषों का—ऐसे पुरुषों का भी जो समाज में अपनी विद्वता, आध्यात्मिकता एवं जपतप के लिए आदरणीय माने जाते थे, जो समाज के नेता थे—एक स्वभाव सा बन गया था। महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 104 में, इस का बीभत्स प्रमाण मिलता है। कथा यह है कि उतथ्य ऋषि की पत्नी ममता आसन्नप्रसवा है। किंतु उतथ्य का छोटा भाई और देवताओं का कुलगुरु, महाविद्वान बृहस्पति उस से संभोग का प्रस्ताव करता है। ममता अपने आसन्नप्रसवा होने के कारण बृहस्पति से लाख अनुनयविनय करती है कि वह ऐसे समय उसे न छेड़े। किंतु बृहस्पति उस पर बलात्कार करता है।

यह पूर्वकालिक कथा भीष्म अपनी माता सत्यवती को सुनाते हैं और बृहस्पति के प्रति क्षोभ व रोष का एक भी शब्द कहना तो दूर, उसे निरंतर बुद्धिमान, तेजस्वी, विद्वान आदि विशेषणों से ही स्मरण करते हैं।

इस के पश्चात् इसी अध्याय में ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि की कथा है, जो अपनी पत्नी एवं अन्य नारियों के साथ सार्वजनिक मार्गों पर दिनदहाड़े पशु आसन से मैथुन करता है। इस से दुखी हो कर जब उस की पत्नी प्रद्वेषी उसे त्याग देने का निश्चय करती है, तो दीर्घतमा व्यवस्था दे देता है कि नारी पति को नहीं त्याग सकती, पति के मर जाने पर भी दूसरा पति नहीं कर सकती, पति जो धन छोड़ गया हो, उसे भोग नहीं सकती इत्यादि।

उपरोक्त कथा प्रमाणित करती है कि अपनी नारकीय वासनाओं को पूरी करते रहने के हेतु धर्म एवं व्यवस्था का सहारा लेना केवल आधुनिक धर्मध्वजियों की ही सूझ नहीं है, बल्कि इस संबंध में

हमारे ऋषिमुनि पर्याप्त संख्या में अपने

महाभारत आदि पर्व (संभव पर्व), अध्याय 122, में पांडु ने अपनी पत्नी कुंती को विवाह प्रथा के जन्म का कारण बताते हुए जो कथा सुनाई है, उस में भी उद्दालक ऋषि की पत्नी को उस के पति एवं पुत्र के सम्मुख ही एक अन्य ब्राह्मण मैथुन के हेतु बलात् खींच ले जाता है। उद्दालक का युवा पुत्र श्वेतकेतु जब अपने नेत्रों के सम्मुख अपनी माता पर हो रहे इस बलात्कार के प्रति रोष प्रकट करता है, तो धर्मध्वजी महर्षि उद्दालक कह उठते हैं :

“हे पुत्र क्रोध न करो—यह तो सनातन धर्म है।”

श्वेतकेतु ने इस पर भी सनातन धर्म की अवमानना कर के और पिता की आज्ञा की भी सर्वथा उपेक्षा कर के स्त्री समाज के संरक्षण के हेतु कुछ व्यवस्थाएं दीं। किंतु श्वेतकेतु भी आखिर था तो उद्दालक का ही पुत्र। व्यवस्थाओं के अंतर्गत उस ने भी स्पष्ट कर दिया :

“पुत्र उत्पन्न करने के लिए पति द्वारा मैथुन के लिए प्रेरित की हुई स्त्री यदि पति की आज्ञा नहीं मानेगी, तो उस को भ्रूण हत्या का पाप लगेगा।”

नारी : भोग्या मात्र

उपरोक्त प्रमाण बताते हैं कि हमारे उस गौरव युग में नारी केवल भोग्या थी, केवल कामवासना की पूर्ति का साधन। वह किसी भी अवस्था में हो, किंतु पुरुष की—किसी भी पुरुष की—इच्छा को अमान्य नहीं कर सकती थी।

एक युग में हमारे यहां बेटों और बहनों को भी भोग्या मान लिया गया था। ब्रह्माजी द्वारा अपनी पुत्री के पीछे कामांध हो कर भागने की कथा सभी जानते हैं। संतोष यह है कि ब्रह्माजी की उस चेष्टा को निंदनीय भी बता दिया गया है। किंतु

अभी कुछ दिन पूर्व वेदकाल के विद्वान् अन्वेषक श्री भगवान्महाराज उपाध्याय ने कतिपय ऐसे उदाहरण खोज कर प्रस्तुत किए हैं, जिन से सिद्ध होता है कि बहनों से विवाह करना तो हमारे समाज में सर्वथा उचित मान लिया गया था. उपाध्याय ने जो उदाहरण दिए हैं, उन में से कुछ ये हैं :

वेण के पिता अग ने अपनी पितृकन्या सुनीता से विवाह किया.

विवस्वान के दूसरे पुत्र मनु ने श्रद्धा से विवाह किया और श्रद्धा महाभारत में विवस्वान की कन्या कही गई है.

अंगिरस कुलीय भरत ने अपनी तीनों बहनों से विवाह किया.

इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि आज हम चाहे 'सगोत्र विवाह बिल' पर धर्म का नाम ले कर कितना ही शोरगुल मचाएं, किंतु जिन पूर्वजों की गौरव रक्षा के लिए हम यह धमाचौकड़ी मचाते हैं, उन्होंने तो सगी बहनों को भी पत्नीत्व की सीमा से मुक्त नहीं किया था.

संतान के नाम पर

ऊपर बताया जा चुका है कि श्वेतकेतु ने अपनी माता पर हो रहे बलात्कार से क्षुब्ध हो कर जो नई व्यवस्थाएं दी थीं, उन में से एक यह भी थी कि पत्नी पति द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए मंथन के हेतु प्रेरित किए जाने पर इनकार नहीं कर सकेगी. इस व्यवस्था के नाम पर ऋषियों और राजाओं का यह पेशा सा हो गया था कि वे अपनी पत्नियों को पुत्रेच्छा के नाम पर चाहे जिस के पास संभोग के हेतु भेज देते थे और बेचारी पत्नी इनकार नहीं कर सकती थी. पुत्र के हेतु अन्य व्यक्तियों के पास अपनी पत्नी को भेजने की प्रथा का नाम ही नियोग था. नियोग के इतने अधिक उदाहरण हैं कि हमारे इतिहास प्रसिद्ध पूर्वजों में तो कम ही ऐसे निकलेंगे, जो नियोग से उत्पन्न न हों. महर्षि दयानंद

सरस्वती ने भी नियोग को आर्ष प्रथा कहा है. नियोग एक निकृष्टतम प्रथा थी और यहां उस के एकदो ऐसे उदाहरण पेश किए जाते हैं, जो सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों को बलात नियोग कराना पड़ता था.

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 104, के अनुसार दीर्घतमा ऋषि के पास उस युग के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा महाराजा बलि ने अपनी पत्नी सुदेष्णा को भेजा. दीर्घतमा अंधा था, अतः सुदेष्णा को उस के पास जाने की रुचि नहीं हुई और उस ने अपनी एक दासी को दीर्घतमा के पास भेज दिया. किंतु राजा बलि को जब यह रहस्य ज्ञात हुआ, तो उस ने सुदेष्णा को पुनः दीर्घतमा से पुत्र उत्पन्न कराने के लिए विवश किया और सुदेष्णा को अंत में यह स्वीकार करना ही पड़ा.

महाभारत, आदि पर्व के 121 वें अध्याय में जब पांडु अपनी पत्नी कुंती को किसी अन्य पुरुष से पुत्र उत्पन्न कराने की आज्ञा देते हैं, तो कुंती गिड़गिड़ाती हुई कहती है :

“हे धर्मात्मा, कमल के समान नेत्र वाले पति में अनुरक्त धर्मपत्नी से तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए.”

“हे महाबाहो, भरतवंश में वीर, पांडु, तुम्हें ही मुझ में अपने पराक्रम से युक्त पुत्र धर्मपूर्वक उत्पन्न करने चाहिए.”

“हे मनुष्येश्वर, मैं तो तेरे साथसाथ स्वर्ग तक गमन करना चाहती हूं. हे कुरुनंदन, संतानोत्पन्न करने के लिए तो तुम्हें ही मेरे साथ संभोग करना चाहिए.”

“मैं तो तुम्हारे सिवा अन्य किसी का चिंतन मन से भी नहीं कर सकती हूं. तुम से भी श्रेष्ठ मनुष्य कौन सा है, जिस से मैं नियोग करूं?”

किंतु क्या इतना गिड़गिड़ाने पर भी अपने वैभव के हेतु एक उत्तराधिकारी की लालसा में उन्मत्त पांडु कुंती की प्रार्थना स्वीकार कर सके?

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 105, में महर्षि व्यास से अंबिका आदि के नियोग

कराने की कथा भी यही सिद्ध करती है कि ये रानियां भारी दंडविषय हैं। उनके अपराधों पर डींग मार दी जाती है। इस पाप कर्म के लिए तत्पर हुई थीं। लिखा है :

“व्यास ने माता का प्रिय साधने के लिए अंबिका के साथ संगम किया, किंतु काशीराज पुत्री अंबिका मारे भय के उन की ओर न देख सकी।”

दूसरी रानी अंबालिका तो व्यास को देखते ही कालीपीली पड़ गई थी, किंतु व्यास ने फिर भी उसे मुक्ति नहीं दी। उलटा यह शाप दे दिया :

“हे अंबालिके, मुझ कुरूप को देख कर तू जो पांडु (पीली) पड़ गई है, सो तेरा पुत्र भी पांडु ही होगा।”

किंतु पुत्र के लिए जिन स्त्रियों को इतना घोर कष्ट दिया जाता था, उन पर ऐसा अत्याचार किया जाता था, वे उस पुत्र पर भी अपना अधिकार नहीं रखती थीं।

“माता तो चर्म की पिटारी है, पुत्र तो पिता का ही होता है।”

एक और स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार गाय, घोड़ी, अंटनी आदि को संतानें इन पशुओं की नहीं, बल्कि उन का पालन करने वाले स्वामी की होती हैं, उसी प्रकार पत्नियों से उत्पन्न संतान पति की होती हैं, माता की नहीं।

पशुओं के समकक्ष नारी

इस प्रकार नारी को पशुओं के समकक्ष माने जाने की हमारी परंपरा काफी पुरानी है। तुलसीदास ने ही ‘ढोल, गंवारा, शूद्र, पशु, नारी’ लिख कर कोई विशेष अपराध नहीं किया था।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने एक ओर पुरुष को नारी पर बलात्कार करने, उसे अन्य पुरुषों से व्यवहार करने के लिए विवश करने और उस की संतान को छीन लेने का अधिकार दिया है, तो याज्ञवल्क्य स्मृति और नारद स्मृति में

विधवा को अपने पति की संपत्ति में अधिकार भी अधिकार देना निषेध है। मनु स्मृति इस संबंध में मौन है। नारद ने विधवा विवाह की अनुमति फिर भी दी है, किंतु मनु ने उस का निषेध किया है, और दूसरी ओर उस के पालनपोषण की कोई व्यवस्था नहीं की है। मनु ने तो ऐसी पत्नी को पति द्वारा त्याग दिए जाने की भी व्यवस्था दे दी है, जिस ने केवल कन्याएं ही उत्पन्न की हों। मनु सोच ही नहीं सके कि केवल कन्याओं के जन्म का कारण पत्नी का ही नहीं, पति का भी कोई दोष हो सकता है। ऐसे विचारहीन व्यवस्थापकों के बनाए हुए नियमों की रक्षा के लिए आज हमारे देश के धर्मध्वजी खड़गहस्त हो उठे हैं।

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 82, में शर्मिष्ठा ययाति से तत्कालीन नारी के अधिकारों के संबंध में कहती है :

“हे राजन, भार्या, दास और सुत—तीनों धन के स्वामी नहीं हैं। जिस के अधिकार में रह कर (पति, स्वामी या पिता) ये धन उपार्जित करते हैं, वह धन उस का ही होता है।”

आशय यह है कि बेचारी स्त्री मेहनत मजदूरी कर के भी अपना पालनपोषण नहीं कर सकती थी। उस का स्वयं उपार्जित धन भी छीन लिया जाता था।

इस प्रकार नारी भी एक चल संपत्ति के समान थी। उस के स्वतंत्र स्वावलंबी होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। मनु ने लिखा है :

“कुमारावस्था में उस की (स्त्री की) रक्षा पिता करता है, युवावस्था में उस का पति और वृद्धावस्था में उस का पुत्र। उस का स्वतंत्र रहना किसी भी समय उचित नहीं।”

स्त्री संपत्ति थी, उस की इस प्रकार सदैव किसी न किसी के द्वारा रक्षा की जानी आवश्यक ही थी। यदि उसे स्वरक्षा का अधिकार दिया जाता तो पुरुषों का उस पर ऐसा अबाध बलात्कार किस प्रकार

चल सकता था?

नाट्य की संपत्ति सुने छोड़ने की प्रवृत्ति भावना इतनी व्याप्त हो गई थी कि युग के श्रेष्ठतम पुरुष भी उस से नहीं बचे थे। युधिष्ठिर जैसे धर्मराज द्वारा पत्नी को जुए के दांव पर लगा देना इस का प्रमाण है।

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 221, में कृष्ण की बहन सुभद्रा पर जब अर्जुन आसक्त हो जाते हैं और कृष्ण से सुभद्रा को प्राप्त करने का उपाय पूछते हैं, तो विष्णु के अवतार, योगीराज और धर्म की स्थापना के लिए अवतीर्ण कृष्ण ने सुभद्रा को प्राप्त करने का यह उपाय अर्जुन को बताया था :

“हे पुरुषोत्तम, क्षत्रियों में स्वयंवर विवाह की रीति है। किंतु उस में यह तुम को वरेगी या नहीं, यह निश्चित नहीं है, क्योंकि मनुष्यों की रुचि किसी आधार पर नहीं है।

“क्षत्रियों में शूरवीरों के लिए बलपूर्वक हरण कर ले जाना भी विवाह का अच्छा हेतु माना गया है—यह धर्म के जानने वाले जानते हैं।”

“हे अर्जुन, अब तू इस कल्याणी, मेरी बहन का, अपहरण ही कर ले, क्योंकि यह स्वयंवर में किसे वरना चाहती है, इसे कौन जान सकता है।”

कृष्ण को आशंका थी कि सुभद्रा किसी अन्य व्यक्ति से विवाह न कर ले या अर्जुन को अपने मनोनुकूल न माने, अतः उसे अपहृत करने का परामर्श दिया गया, जिस का अर्जुन ने पालन कर के अपने पौरुष का परिचय दिया।

स्त्रियों को बलात् हर ले जाने की प्रथा, जिस के लिए रावण को इतना धिक्कारा जाता है, कितनी धर्मसम्मत मान ली गई थी, उपरोक्त कथा इस का एक ज्वलंत प्रमाण है।

हमारे यहां माने गए आठ प्रकार के विवाहों में धन द्वारा खरीद कर लाई गई अथवा बलात् हरण कर के लाई गई

कन्या से विवाह भी जायज माना गया है। एक भी सत्तक आन और समुत्तिकार ने ऐसे विवाह को अवैध घोषित नहीं किया। करते भी कैसे? धर्म का उल्लंघन करने से नरक में जाने का भय जो था! धर्मध्वजियों का आग्रह है कि आज की पीढ़ी उसी कायरता को अपना ले।

कन्यादान का विकृत रूप

और यह कन्यादान क्या है? अन्य संपत्ति के साथसाथ कन्यादान भी होने लगा, क्योंकि वह पिता की संपत्ति थी। संतान को संपत्ति माने जाने की बर्बर भावना हमारे यहां इतनी प्रचलित रही है कि ऋग्वेद के शुनःशेफ प्रकरण के अनुसार अजीगर्त नामक ऋषि ने अपने पुत्र शुनःशेफ को बलि देने के हेतु बेच दिया था। मोरध्वज अपने पुत्र पर आरा चला कर गोरवान्वित हुए थे और अभी कल तक सहस्रों नवजात शिशु मनौती माने जाने के नाम पर नदियों में बहा दिए जाते थे, लड़कियां मंदिरों में वेश्यावृत्ति करने के लिए भेंट कर दी जाती थीं, जो देवदासियां कहलाती थीं, और अबोध बालकों को साधुओं को भेंट करने की प्रथा तो आज भी इस देश में कहींकहीं मिल जाएगी।

कन्यादान की भावना का मूल स्रोत भी यही है। हमारे धर्मग्रंथ ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जहां पुरोहितों, महर्षियों और दामादों को अन्य संपत्ति के साथसाथ कन्याएं भी दान की गई हैं। दामादों को अपनी कन्या के साथ अन्य कन्याएं भी भेंट की जाती थीं। हमारे देश की नई पीढ़ी अब अपने प्राचीन धर्म एवं संस्कृति से पतित हो कर मानवीय अधिकारों को धर्माज्ञाओं से अधिक महत्त्व देने लगी है। अतः अब तो रियासतों में भी इस प्रथा को अपराध ठहरा दिया गया है। किंतु प्राचीनकाल में भगवान कृष्ण जैसे धार्मिक महापुरुषों को भी यह पाप कृत्य करने में

संकोच नहीं था।

महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 219, में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए दहेज के विवरण में यहां दस सहस्र गायों, एक सहस्र घोड़ियों, एक लाख घोड़ों को दिए जाने का वर्णन है, वहां 'कमलनेत्र भगवान कृष्ण ने उबटन लगाने में कुशल, नवीन वय वाली, कांतिमयी, सुंदर वेशधारिणी, सुवर्णों के आभूषण कंठ में धारण किए हुए, थोड़ेथोड़े गुह्य रोमों से युक्त, गोरे वर्ण की, सेवा में चतुर सहस्रों अलंकृत स्त्रियां भेंट में प्रदान कीं।'

भेंट में दी गई स्त्रियों के रूप एवं साजसज्जा का जो मोहक विवरण है, उस से पाठक आसानी से समझ सकते हैं कि इन का क्या उपयोग हुआ होगा।

असुरक्षित नारियां

वास्तव में उस समय प्रजा की किसी बहनबेटी की इज्जत सुरक्षित नहीं थी। केवल सुंदर होने के अपराध में ही राजा उसे बलात हरण कर के चाहे जिसे दान में दे देता था। इसी प्रकार एक राजा की सुंदरी कन्या को दूसरे राजा बलात छीन ले जाते थे। समाज में नारी का सम्मान इतना गिर गया था कि बलात्कार करने वाला घृणा का नहीं, आदर का पात्र समझा जाता था।

मातापिता द्वारा अपनी पुत्री के साथ भी कैसा भीषण व्यवहार किया जाता था, इस का एक उदाहरण महाभारत के उद्योग पर्व में मिलता है। उस में गालव ऋषि की कथा कही गई है। गालव को अपने गुरु विश्वामित्र को गुरुदक्षिणा में देने के हेतु 'चंद्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण के 800 घोड़े, जिन के कान कृष्ण वर्ण के हों' चाहिए थे। गालव अपने मित्र गरुड़ के साथ राजा ययाति के यहां जाते हैं, जिस से कि गुरुदक्षिणा का कुछ प्रबंध कर सकें। किंतु राजा ययाति अपनी कन्या माधवी को गालव की भेंट कर अपना पीछा

छुड़ा लेते हैं। अपनी कन्या के संबंध में राजा ययाति कहते हैं—'देख, मेरी एक कन्या है—अपूर्व सुंदरी और सभी गुणों से संपन्न। त्रिलोक में कोई ऐसा नहीं, जो उसे वरण करने की इच्छा न रखता हो। सुर, असुर, आर्य, अनार्य सभी को मोह लेने की अभूतपूर्व शक्ति उस में है। मैं अपनी उस पुत्री को आप के अर्पित कर रहा हूं, आप उसे किसी भी राजा को बेच कर सहज ही गुरुदक्षिणा जुटा सकते हैं।'

अपनी कन्या के लिए 'किसी भी राजा को बेच कर' कहने में न ययाति को ही लज्जा आई और न वेदवेदांगों के पारंगत महर्षि गालव को।

गालव ने माधवी के साथ क्या व्यवहार किया, इस की कथा तो और भी घृणास्पद और रोमांचक है। उन्होंने एकएक कर के तीन राजाओं के पास माधवी को किराए पर उठा दिया। गालव जिस रसिकता के साथ राजाओं के दरबार में माधवी के रूपयौवन की प्रशंसा करते हैं और अपने काल के प्रसिद्ध धर्मात्मा नरेश भी जिस रसिकता के साथ उस में योग देते हैं, उसे पढ़ कर सहज ही मन खराब होने लगता है। बिल्कुल ऐसा प्रतीत होता है कि बूत फरोशों में या उन के दलालों में वात्सलाप हो रहा हो। इक्ष्वाकुवंशी राजा हर्यस्व ने माधवी को देख कर गालव से कहा था :

“छः उन्नत स्थानों (हाथ, पांव, कुच, नितंब, चक्षु और स्कंध) में उन्नत है और सात सूक्ष्म स्थानों (केश, दांत, त्वचा, हाथपांव की उंगलियां और उन के पोरे) में सूक्ष्म है। तीन गंभीर स्थानों (जिन स्थानों से आशय है, उन का नाम कैसे लिखा जाए?) में गंभीर है और पांच रक्त स्थानों (करतल, नेत्रप्रांत, तालु, जिह्वा और अधरोष्ठ) में रक्तवर्ण है।”

उपरोक्त विवरण प्रमाणित करता है कि बेचारी माधवी को उस के विक्रेताओं द्वारा प्रत्येक राज दरबार में नंगा करके के

दिखलाया गया था।

हमारे देश में धर्म के नाम पर शताब्दियों तक सहमरण के रूप में नारी हत्या, नारियों की जीवित जला देने की जो नारकीय प्रथा प्रचलित रही है, उसे तो समाप्त हुए अभी कुछ ही दिन बीते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जब राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों के फलस्वरूप इस घोर बर्बर प्रथा के निषेध के लिए कानून बना, तो आज हिंदू कोड बिल के विरुद्ध हमारे देश के धर्मध्वजी जैसा शोर मचा रहे हैं, उस से लाख गुना शोर उस समय सती निषेधक कानून के विरुद्ध मचाया गया था। भारत की अनेक रियासतों के राजाओं ने पर्याप्त धन व्यय कर के उस कानून को समाप्त करा देने का प्रयास किया था। इस संबंध में विलायत तक अपील की गई थी, यद्यपि समुद्रयात्रा उस समय घोर अपराध थी। अपील में कहा गया था कि यदि सती प्रथा रोक दी गई, तो संपूर्ण देश में व्यभिचार फैल जाएगा तथा महान हिंदू धर्म की जड़ हिल जाएगी।

भारतीय नारी समाज के सौभाग्य से जिन विचारपतियों के सम्मुख यह अपील पेश हुई, उन के निकट महान हिंदू धर्म की जड़ हिल जाने की अपेक्षा कोटिकोटि नारियों की प्राण रक्षा का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था, अतः अपील खारिज कर दी गई और कानून ज्यों का त्यों रहा।

अमानुषिक सतीप्रथा

आज भी हमारे देश में ऐसे मूर्खों की कमी नहीं है, जो उस सती प्रथा पर गौरव प्रकट करते हैं और उन का वश चले, तो उसे पुनर्जीवित करने का भी स्वप्न देखते हैं। उन का दृढ़ विश्वास है कि नारियां स्वच्छा से जल मरती थीं और उन के पुण्य प्रताप से ही अग्नि उत्पन्न हो जाती थी। किंतु ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा राजा राममोहन राय इत्यादि ने सती प्रथा

की आंखों देखी भयानक घटनाओं पर जो कुछ लिखा है, वह प्रकट करता है कि यह सब अपने पापाचार की छिपाने का एक निर्लज्ज ढोंग मात्र था। विधवा को भांग और धतूरा पिला कर कच्चे बांस की मचिया में उसे दबा कर चिता पर अत्यधिक राल और घी डाल कर जलाया जाता था और ढोल, मृदंग, शंख इत्यादि जोरजोर से बजाए जाते थे कि कहीं उस की करुण चीखपुकार किसी व्यक्ति के हृदय में प्रवेश कर, उसे इन ज्वालाओं से मुक्त करने के लिए उद्यत न कर दे।

छोटीछोटी बच्चियों की हत्या तो हाल तक हमारे देश की अनेक जातियों में प्रचलित रही है, क्योंकि पुत्री का पिता कहलाता सम्मान के लिए घातक समझा जाता था।

संभव है कि कुछ परिवारों या जातियों में आज भी यह प्रथा हो, क्योंकि न तो हमारे देश से अभी तक धर्म प्रेम ही समाप्त हो गया है और न प्राचीन संस्कृति के प्रेमी ही। वास्तव में रूढ़िवादी धर्म एक ऐसा विष है, जिसे ग्रहण कर के मनुष्य राक्षस हो गया है। अपनी संतान तक की हत्या करने में उसे हिचक नहीं होती।

नारी समाज पर अत्याचार करना बलात्कार, विक्रय और उन की हत्या तक कर देना ही जिन लोगों का धार्मिक कर्तव्य हो, वे नारी की उन्नति के लिए किए गए रंच मात्र प्रयास को भी कैसे सहन कर सकते थे? सती प्रथा को रोकने वाले कानून के विरुद्ध जो घनघोर आंदोलन चलाया गया, उस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लड़कियों को शिक्षा देने का जैसा प्रबल विरोध किया गया था, उस की स्मृति तो आज भी अनेक वयोवृद्ध सज्जनों को होगी। हमारे देश में पहलेपहल कुछ ईसाई मिशनरियों ने बालिकाओं को शिक्षा देने वाले शिक्षालय स्थापित किए थे, ये मिशनरी राजा की जाति के थे। “सबरथ को नहिं दोष गुसाई” तुलसीदास कह ही गए हैं, अतः उन का कोई प्रत्यक्ष

विरोध इस देश के धर्मध्वजियों ने उसी प्रकार नहीं किया, जिस प्रकार अंगरेजों ने के संपूर्ण राज्यकाल में कोई भी गौभक्त अंगरेज छावनियों के लिए की जा रही विराट गौहत्या का विरोध करता नहीं दिखाई दिया—यद्यपि न जाने कितने हिंदू-मुसलिम बलबे इसी नाम पर हमारे इस गौभक्त देश में हो चुके हैं।

अशिक्षा और परदा

सन 1848 में महाराष्ट्र के एक महा-प्राण व्यक्ति, जोतिबा फुले, ने बंबई प्रांत की प्रथम कन्या पाठशाला पुना में स्थापित की, क्योंकि वह बालिकाओं को भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा देने के पक्षपाती थे, तो महाराष्ट्र के धर्मध्वजियों ने श्री फुले का उग्रतम विरोध किया। इस प्रबल विरोध के कारण कोई भी व्यक्ति श्री फुले की पाठशाला में अध्यापन करने का साहस नहीं दिखा सका। इतना ही नहीं, बल्कि धर्मध्वजियों के जोर दिए जाने पर श्री फुले के पिता ने भी उन से ऐसा पाप कृत्य करने के कारण संबंध विच्छेद कर लिया। इस पर भी जब श्री फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई को ही पढ़ा लिखा कर कन्या पाठशाला में शिक्षिका की पूर्ति कर ली, तो धर्मप्राण सज्जन रास्ते में सावित्रीबाई पर ईंटपत्थर फेंक कर अपने पौरुष और धार्मिक वृत्ति का परिचय देते थे।

परदा प्रथा के विरुद्ध किए गए आंदोलन का धर्म के नाम पर जैसा विरोध किया गया और किया जाता है, वह भी प्रत्यक्ष ही है। इस के पश्चात् शारदा बिल, जो बालविवाहों को रोकने के लिए एक अत्यंत हलका कदम था, धर्मध्वजियों के कोप का निशाना बना और शोर मचाया गया कि यदि इस कानून पर अमल किया जाएगा, तो बस हिंदू धर्म अपने संपूर्ण प्राचीन गौरव, संस्कृति और इतिहास के

साथ ऐसे गहरे समुद्र तल में पहुंच जाएगा कि धर्म उन उन्नत जातियों की आशा नहीं रहेगी। आज हिंदू कोड बिल के विरुद्ध भी ठीक यही तर्क दोहराए जा रहे हैं।

उपरोक्त प्रमाणों एवं धर्मशास्त्रों की कथाओं को पढ़ कर अनेक पाठकों के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि नारियों के प्रति हमारे समाज के प्राचीन व्यवस्थापक ऐसी ही दृष्टि बूझि रखते थे, तो वे “जहां नारी की पूजा होती है...” जैसे उदार वाक्य कैसे लिख सके? ऐसे पाठकों से हमारा यही निवेदन है कि हमारे धर्मशास्त्रों में नारी के प्रति श्रद्धा और पूजनीय भावनाओं को व्यक्त करने वाले तो ऐसे वाक्य दोचार ही मिलते हैं, किंतु “नारी नरक का द्वार है,” नारी के चरित्र और पुरुष के भाग्य का कोई भरोसा नहीं...” आदि नारी की निंदा करने वाले कई वाक्य भरे पड़े हैं।

इस के अतिरिक्त पूजा तो उस बलि पशु की भी होती है, जिसे बलि देने वाला अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए घोर यातनाएं दे कर मार डालता है। हमारे यहां की नारी पूजा भी लगभग ऐसी ही थी।

किसी विद्वान ने लिखा है : “धर्म याजक और पुरोहित स्त्रियों के सब से बड़े शत्रु रहे हैं और स्त्रियां उन की सब से बड़ी मित्र।” नारी को शिक्षा से वंचित कर देने का आशय यह था कि वह न केवल इन अत्याचारों को मूक भाव से सहन करती रहे, बल्कि इन को सहन करने में ही गौरव सुख का भी अनुभव करती रहे। भारतीय नारी भी आज तक इसी भ्रमजाल में फंसी रही है, किंतु प्रश्न तो यह है कि क्या प्रगति और विज्ञान के इस युग में भी हम ऐसी मानवता विरोधी मान्यताओं को केवल इसी लिए मानते रहेंगे कि वे किसी प्राचीन काल में प्रचलित रही हैं? हमें आज इसी का उत्तर देना है। ●

भ्रष्टाचार

● सखा बोरड़

जनजीवन का स्थायी स्वभाव बन गया है

आज देश के हर कोने से भ्रष्टाचार को आवाज उठ रही है और प्रत्येक नागरिक इस के कारण दुखी नजर आ रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो भ्रष्टाचार हमारे देश के जनजीवन का एक स्थायी स्वभाव बन गया हो। यह बात नहीं कि इसे खत्म करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा रहा है, किंतु भ्रष्टाचार की नींव इतनी गहरी चली गई है कि इस पर की जाने वाली चोटों से इस पर किसी भी प्रकार का असर होता दिखाई नहीं देता। बल्कि जो व्यक्ति भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए नियुक्त किए जाते हैं, कुछ समय बाद वे स्वयं भी सिर से पैर तक इसी दलदल में फंस जाते हैं।

कितने आश्चर्य की बात है कि एक ऐसे देश में जहां धर्म और नैतिकता के व्याख्यान सैकड़ों हजारों वर्षों से निरंतर दिए जा रहे हों, जहां उपदेशों के ग्रंथ भरे पड़े हों और जहां मोक्ष व मुक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता हो, वहां के नागरिक ज्यादा से ज्यादा संख्या में भ्रष्टाचारी बनते जा रहे हैं? क्या हमारी संस्कृति में उच्च स्तर से किया गया धर्म और नैतिकता का जयघोष हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए कुछ भी महत्व नहीं रखता? क्या बड़े-बड़े आदमियों की बातें हमारे प्राचीन ग्रंथों अथवा हमारी वाणी तक ही रह गई हैं? हमारा व्यावहारिक जीवन ऐसा बनता जा रहा है कि उस में

उन आदर्शों की छाया भी नहीं दिखती। और इसलिए एक ओर अतीत के आदर्शों की कहानियां, दूसरी ओर वर्तमान में फैले हुए भ्रष्टाचार का कटु सत्य। भ्रष्टाचार हमारे देश का एक व्यवहार बन गया है और इसलिए हमें उस पर गंभीरता से सोचना है।

भ्रष्टाचार का सीधा सा अर्थ यही लगाया जाता है कि ऐसा आचरण जो देश, समाज या व्यक्ति की प्रगति में बाधक हो, जो उन को नुकसान पहुंचाए, ऐसा कार्य, जो समाज या राज्यसत्ता के नियमों के विरुद्ध हो। घूस लेना या घूस देना इसलिए भ्रष्टाचार है कि उस से राज्य के नियमों का उल्लंघन होता है, क्योंकि वह कार्य-समाज के मान्य आचरण के विरुद्ध है, उस से राष्ट्र की प्रगति में बाधा पड़ती है। यह एक बहुत बड़ी व्याख्या है और इस के अंतर्गत वह छोटे से छोटा आचरण भी, जो समाज या राज्यसत्ता के हितों के विरोध में हो जाता है। रिश्वत लेना, पक्षपात करना, झूठ बोलना, न्याय में देर करना, खानेपीने की चीजों में मिलावट करना जैसे सभी कार्य भ्रष्टाचार के ही उदाहरण हैं। इस तरह भ्रष्टाचार का दायरा बहुत बड़ा बन जाता है।

सरकार में फैले भ्रष्टाचार की आज-कल बहुत चर्चा है। इस से संबंधित इतने अधिक काम हैं कि उन की एक साथ, एक जगह गिनती करना संभव नहीं हो

सकता. फिर भी हम इस के कई उदाहरण देंगे. किन्तु उस से पहले एक अन्य बात पर ध्यान देना आवश्यक है और वह है भ्रष्टाचार के प्रमाण की बात. जब भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध कुछ कहा जाता है तब उस के कानूनी प्रमाण मांगे जाते हैं, जब कि सब को यह विश्वास है कि भ्रष्टाचार अबाध गति से चालू है. यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि प्रत्यक्ष व्यवहार के लिए भी कानूनी प्रमाणों की आवश्यकता होती है. और इस तरह बात को या तो टालने की कोशिश की जाती है या फिर भ्रष्टाचार की पोल खोलने वालों को किसी न किसी तरह फांसने की कोशिश की जाती है ताकि वे फिर बोलने का साहस न करें.

कानून ग्रंथा है

ग्राम व्यक्ति भ्रष्टाचार के बारे में अधिक से अधिक यह कर सकता है कि वह लोगों का ध्यान आकर्षित करे, किन्तु उस से यदि कानूनी ढंग से प्रमाण मांगे जाएं तो शायद वह न दे सकेगा, क्योंकि प्रमाण देने को जिस तरह की प्रणाली हमारे देश में प्रचलित है वह अत्यंत पेशीदा है. यदि एक जेबकतरा रंगे हाथों पकड़ लिया जाता है, तो भी उस पर मुकदमा चलाया जाता है, उस के लिए अनेक गवाहियां मांगी जाती हैं और सब घटनाओं को प्रमाणित करने की कोशिश की जाती है. जिस व्यक्ति ने जेबकतरे को पकड़ा है उसे अदालत में घसीटा जाता है और नाहक हैरान किया जाता है. इस तरह अपराधी व्यक्ति को भी कानूनी दांव-पेचों के द्वारा बच कर निकल जाने का पूरा मौका दिया जाता है. लेकिन प्रमाण की बात ज्यों की त्यों रहती है, कानून को शायद प्रत्यक्ष काम से कोई वास्ता नहीं है.

अगर प्रमाण मिल भी जाएं, तब भी या तो कोई कड़ी कार्रवाई नहीं की जाती अथवा फिर लीगपोती की जाती है जिस,

से खतरा और भी अधिक बढ़ जाता है. कभी तो सजा इतनी कम दी जाती है कि एक बार मजाक सा ही प्रतीत होती है. 4-5 साल तक खानेपीने की चीजों में मिलावट कर एक व्यापारी लाखों रुपये कमा लेता है और साथ ही न जाने कितने व्यक्तियों के स्वास्थ्य को खराब करने का जिम्मेदार होता है. वह कभी पकड़ में आ गया, तो 100-200 रुपये जुर्माना हो जाता है. क्या इस तरह भ्रष्टाचार खत्म हो सकता है? असंभव. बल्कि इस से तो वह और ज्यादा बढ़ता है. सरकार भ्रष्टाचारियों को बढ़ावा देती है, क्योंकि स्वयं उस का पेट उन से भरता है.

कलकत्ता न केवल हमारे देश का ही सब से बड़ा शहर है, बल्कि विश्व के अधिकतम जनसंख्या वाले शहरों में भी इस का तीसरा या चौथा स्थान गिना जाता है. राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक सभी दृष्टियों से यह हमारे देश का प्रतिनिधित्व कर सकता है. 50-55 लाख की आवादी वाला यह शहर भ्रष्टाचार के उदाहरणों के लिए बहुत ही उपयुक्त होगा. भ्रष्टाचार यहां के जनजीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है, जब कि इस के विरोध में सब से अधिक आवाजें भी यहीं उठाई जाती हैं.

यहां 'हल्ला' नाम का एक भ्रष्टाचार बड़ा मजदार है. शहर में कम पूंजी वाले ऐसे छोटेछोटे व्यवसायी बहुत अधिक हैं, जो कम पूंजी के कारण दुकान नहीं कर सकते, किन्तु कुछ सामान के साथ फुटपाथों पर बैठ कर अपना रोजगार चलाते हैं. हालांकि फुटपाथ पर बैठ कर रोजगार करने से राहगीरों को असुविधा होती है और कानून भी भंग होता है, तब भी सारे फुटपाथ फल बेचने वाले, सब्जी बेचने वाले, कपड़े वाले, चाकू, पेनसिल, गिलास वाले, रूमाल वाले, खिलौने वाले घेरे रहते हैं. पुलिस इन फेरी वालों को फुटपाथ से हटाने के लिए रोज लारी में बैठ कर

सड़कों पर चक्कर लगाती है। रोजरोज ऐसा होता है, लेकिन ज़ाफ़रान फेरी वाले ही हटते नजर आते हैं और न पुलिस वाले ही अपना चक्कर बंद करते हैं। इस का कारण यह है कि इन पुलिस वालों को फेरी वालों से पैसे मिलते हैं और इसलिए उन को यों ही छोड़ दिया जाता है। बतौर ड्यूटी यह चक्कर अवश्य लगा लिया जाता है। जो फेरी वाला पैसे नहीं देता, उसे पकड़ लिया जाता है और उस की चीजों पर हाथ साफ किया जाता है।

पुलिस की कार्यकुशलता

जो फेरी वाले पैसे देते हैं उन को पुलिस का आदमी पहले ही कह देता है कि श्रमक समय 'हल्ला' आने वाला है, तुम यहां मत बैठना। पुलिस की लारी चक्कर लगा कर चली जाती है और दूसरे ही क्षण फेरी वाले फुटपाथ पर नजर आते हैं। प्रत्यक्ष रूप से ऐसा होता है और लोग हल्ले का तमाशा देखते हैं। गन्ने वाला रस निकालता होता है कि पुलिस की लारी से उतर कर बिना वरदी का एक आदमी भाग कर आता है और 5-7 गन्ने उठा कर ले जाता है। किसी फल वाले से फल लिए जाते हैं, किसी आम बेचने वाले को पकड़ लिया जाता है और इस तरह यह तमाशा बेरोकटोक चलता रहता है। जो बंधे हुए पैसे देते हैं, वे ठाठ से आधे फुटपाथ रोक कर बेंच, टेबिल, कुरसी, पानी की टंकी आदि रख कर अपना व्यापार चलाते हैं।

सजा तो यह है कि यह काम कलकत्ते में बड़े पैमाने पर होता है। आप हावड़ा स्टेशन से बाहर निकलिए और किसी रिक्शा में बैठिए। आप देखेंगे कि झट एक लड़का आ कर रिक्शा वाले से पैसे मांगता है। यह लड़का पुलिस का ही आदमी होता है, पुलिस बिना पैसे लिए रिक्शा वाले को या घोड़ागाड़ी वाले को आगे नहीं जाने देती। छोटीछोटी गलियों में माल से लदी

बड़ीबड़ी लारियों का जाना या ठहरना मना है, लेकिन डाइवर् पुलिस वाले को कुछ पैसे पकड़ा देता और फिर रास्ता साफ़। चाट वाला पुलिस वाले को दोचार पत्ते खिला देता है और फिर दिन भर सड़क को चाट के पत्तों से खराब करने की छूट उसे मिल जाती है। सिनेमा के टिकट खूले आम पुलिस की आंखों के सामने ब्लैक में बेचे जाते हैं और कुछ भी नहीं होता, क्योंकि पुलिस वाले का कमीशन बंधा होता है। और इस तरह सब की आंखों के सामने भ्रष्टाचार होता रहता है, फिर भी सरकार को कानूनी प्रमाण चाहिए! ऐसे प्रमाण जिन के लिए 6 महीने तक अदालत में घूमना पड़े, जिन के कारण धमकियां सुननी पड़ें और व्यर्थ में हैरान होना पड़े।

पुलिस ही नहीं, सरकार के किसी अन्य दफ्तर में चले जाइए, चपरासी आप से बखशीश मांगेगा, भेंट मांगेगा और यदि आप नहीं देंगे, तो वह आप के काम में दखल देगा। कुछ दे दीजिए और आप का काम आसान, ऊपर से लंबा सलाम भी। मैं जिस आफिस में काम करता हूं वह आफिस लाइफ इनश्योरेंस के मकान में है। वहां लिफ्ट चलाने वाले इतने भ्रष्ट हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। होली, दिवाली, दुर्गापूजा आदि पर उन को बखशीश देनी पड़ती है। नहीं तो हर समय पीछे पड़े रहते हैं, जानबूझ कर लिफ्ट को खराब कर देते हैं। इनश्योरेंस कंपनी को कई बार इस के बारे में लिखा गया, किंतु उत्तर तक नहीं आता। राशनकार्ड बनाने वाले व्यक्ति को 1-2 रुपए दीजिए और 3 की जगह 5 व्यक्ति लिख दिए जाएंगे। कहीं से कोई रिकार्ड निकलवाना हो, क्लर्क को कुछ थमाइए और आप का काम चुटकियों में बन जाएगा। किसी फाइल को नीचे दवाना हो, नीचे वाली को सब से ऊपर लाना हो, तो देखिए 10-20 रुपयों का चमत्कार।

कहां तक गिनाया जाए। सरकारी

कर्मचारी इतने भ्रष्ट हो गए हैं कि ऐसा महसूस होता है कि आपदा का सीधा प्रभाव ही जीवन यही हो सचचरित्रा व ईमानदारी को बातें तो केवल कल्पना ही लगती हैं. और सिर्फ यही नहीं कि नीचे के कर्मचारी ही भ्रष्ट हों, बड़ेबड़े अफसर तक भ्रष्टाचार के रंग में रंगे नजर आते हैं. कोई शरणार्थियों के कैंप में गड़बड़ी करता है, कोई कोटा निर्धारित करने में पक्षपात करता है, कहीं परमिट का भ्रष्टाचार है तो कहीं लाइसेंस के भानले में जेबें गरम की जाती हैं. पास्तपोर्ट बनाने वालों के घरों में आजकल चांदी बरस रही है. कहीं सरकारी ठेकेदारों द्वारा बनाए गए भकानों से सालभर बाद ही टपकने वाला पानी भ्रष्टाचार की कृष्ण कहानी है, कहीं इकम या सेल्स टैक्स की धांधली के किस्से सुनाई देते हैं, कहीं से जीप व एरोप्लेन कांड की आवाजें गूंजती हैं. यह सब खुले आम होता है, आप और हम करते हैं, फिर भी प्रमाण मांगे जाते हैं.

यह कैसा न्याय है?

और तो और न्यायालय भी भ्रष्टाचार की जहरीली हवा से अछूते नजर नहीं आते. किन्तु वही प्रमाण वाली बात सामने आती है. कानूनी प्रमाण होने चाहिए. यह नहीं कि आप ने किसी चोर को चोरी करते पकड़ा है, तो उसे सजा हो जाएगी. आप से उल्टेसीधे सवाल किए जाएंगे, प्रमाण मांगे जाएंगे. चोर को कैसे पकड़ा? आप ही ने क्यों पकड़ा? पकड़े जाने के समय चोर का मुंह किधर था? उस ने कौन से रंग की कमीज पहन रखी थी? और हो सकता है कि कानूनी टेक्नीकल दावपेंच में आ कर आप खुद ही चोर प्रमाणित हो जाएं. ऐसेऐसे मुकदमे होते हैं, जिन में सत्य जरा भी नहीं होता. फिर भी ऐसे मुकदमे मजे से साल 2 साल से 5 साल तक चलते हैं. वकीलों की जेबें भरती हैं, समय की बरबादी होती है और नाहक

हैरानी अलग. क्या यही न्याय है? खास प्रदर्शन के उपरान्त को चान्दनी से पैसे लेते हुए देखा जा सकता है. बदले में अपराधी को पानबीड़ी को सुविधा हो जाती है. शायद आप को आश्चर्य हो. झूठी गवाही देने के लिए आप को पेशेवर गवाह भी मिल जाएंगे.

हमारे देश का इस से बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि आंखों के सामने ही इस तरह के भ्रष्टाचार पनपते हैं और फिर भी शासन के अधिकारी प्रमाण मांगते हैं. आखिर प्रमाण कहते किसे हैं? ये जो लालफीताशाही, भाईभतीजावाद, घूसखोरी, पक्षपात आदि इतने बड़े पैमाने पर नज़र आ रहे हैं, ये सब पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं? क्या प्रमाण का यह अर्थ है कि कानूनी दावपेंचों द्वारा अपराधी को बच निकलने का अवसर दिया जाए? क्या प्रमाण का यह मतलब है कि व्यर्थ की हैरानी मोल ली जाए?

सरकार में फैला हुआ यह भ्रष्टाचार देश के नागरिकों की दुर्बलता का परिणाम है. एक ओर वे खुद नाजायज तरीकों से स्वार्थ की पूर्ति में लगे हैं और इस तरह भ्रष्टाचार को बढ़ाने में सहयोग देते हैं, दूसरी ओर उन में इतनी ताकत नहीं कि वे भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए कोई सक्रिय कदम उठा सकें. भ्रष्टाचार का रोना वे अवश्य रोते हैं, उस का परिणाम भी वे भुगतते हैं, किन्तु जब भी चुनाव का समय आता है वे उन्हीं भ्रष्ट नेताओं को चुन कर भेजते हैं, जो खुद इसी रोग से पीड़ित होने के कारण अपने कर्मचारियों को कुछ भी नहीं कह पाते. वे तो निरंतर अपना ही पेट भरने में लगे रहते हैं.

और जब हम इस प्रश्न पर और भी अधिक गंभीरता से सोचते हैं कि इस तथाकथित धर्मप्रधान देश में भ्रष्टाचार का इतना बोलबाला क्यों है तो हमारे सामने कई चिंतनीय कारण आ जाते हैं, जिन्हें हम राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक कारण कह सकते हैं.

राजनीतिक कारणों में प्रमुख कारण यह है कि आज जिन व्यक्तियों के हाथों में शासन का बागडोर है व खुद भ्रष्ट हैं जहां किसी भी राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता उस राष्ट्र के सब से अच्छे व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिए, वहां प्रजातंत्र के नाम पर ऐसे ऐसेगरे व्यक्ति भी संसद व विधान सभाओं में बैठे नजर आते हैं, जिन्हें अपना नाम तक लिखना नहीं आता, जो आधुनिक युग की प्रगति के सम्मुख केवल कूपसंडूक हैं। जब ऐसे व्यक्ति किसी देश की जनता का नेतृत्व करते हैं, तो फिर सरकार के कर्मचारी भ्रष्ट क्यों नहीं होंगे? चुनाव के समय पानी की तरह रुपए बहा कर, हर तरह की बेईमानी कर के व झूठ बोल कर, जो नेता संत्रियों की कुरसियों के चक्कर काटते हैं, उन से कभी आशा नहीं की जा सकती कि वे ईमानदारी से अपना कर्तव्यपालन करेंगे। फिर तो यथा राजा तथा प्रजा वाली कहावत ही पूरी उतरती है। दूसरा कारण यह है (और जो पहले कारण का पूरक भी है) कि राजनीतिक दृष्टिकोण से हमारे देश की अधिकांश जनता सोई हुई है। वह इस बात को सोचने का कष्ट नहीं करती कि उस का हित किस तरह के व्यक्तियों में निहित है। इस बात के पीछे है शिक्षा का अभाव। और शिक्षा का अभाव प्रजातंत्र का सब से बड़ा खतरा है।

ग्रंथविश्वासों का बोलवाला

सामाजिक दृष्टिकोण से भी हमारा देश ग्रंथविश्वासों से इतना जर्जर रहा है कि यहां के लोगों को कभी स्वस्थ विचार-धारा अपनाने का अवसर नहीं मिला। व्यक्ति जो कुछ अपने परिवार, संप्रदाय व समाज में रोज देखता है, उसी का प्रभाव उस के नागरिक जीवन पर पड़ता है। सामाजिक भ्रष्टाचार में पनपने वाला, युगयुग से धर्म की जंजीरों में बंदी भारत का निवासी यदि इस वैज्ञानिक युग में भी

अपने चरित्र को मोक्ष व स्वर्ग की तराजू में तोलने का नज़राना देता तो यह निश्चित है कि उस के राष्ट्रीय जीवन में भी एक विद्रुति आएगी, वह उस क्षेत्र में भी उतना ही भ्रष्ट व गिरा हुआ नजर आएगा जितनी भ्रष्टता धर्म के ठेकेदारों द्वारा उस के मस्तिष्क में भरी गई है।

लेकिन भ्रष्टाचार के पीछे छिपा मूल कारण आर्थिक है। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि जिस देश के बच्चेबच्चे को अनावि काल से यह पाठ पढ़ाया जाता रहा हो कि काम और ग्रथ नरक के हेतु हैं, वहीं ये सब बातें हैं, किंतु धन ही व्यावहारिक जीवन का सत्य है। मानव-जीवन धन और काम (सेक्स) की क्रियाप्रतिक्रियाओं का इतिहास रहा है और रहेगा। भले ही किन्हीं काल्पनिक विश्वासों को बढ़ावा देने के लिए वह आदर्शों के स्वर्ग की स्थापना करता रहे किन्तु सच्चाई यह है कि वह इस धरती का ही प्राणी है। उसे भूख लगती है, उसे कपड़ों की आवश्यकता होती है, उसे रहने को मकान की जरूरत होती है, वह परिवार बना कर रहता है, सामाजिक प्राणी कहलाता है, राज्य में रहता है और इस तरह उस के चारों ओर आवश्यकताएं व कर्तव्य घेरा डाले रहते हैं और साथ ही वह हर व्यक्ति को सुखी बनाना चाहता है और सुख के लिए धरती के प्राणी की दैनिक जरूरतों का पूरा होना जरूरी है। इस युग में वह भी साधु बन कर रहने का ढोंग कर चाहे आचार्य बन जाए, किन्तु संसार से दूर वह किसी भी हालत में नहीं रह सकता, यानी धन की आवश्यकता उस के जीवन की सब से बड़ी आवश्यकता है।

हर बात में धन चाहिए। किस बात के लिए नहीं चाहिए, यह बताइए? किन्तु आप एक साधारण सरकारी कर्मचारी हैं। जिसे मात्र 125 रुपए मासिक मिलते हैं। आप की बीवी है, 3-4 बच्चे हैं, कुंवारी बहिन है और महंगाई का जमाना है। आप का काम 100-125 रुपए से चले भी तो

कैसे! और यहीं से भ्रष्टाचार की कहानी शुरू होती है। फिर दुनिया के अनेक देशों की पारस्परिक तुलनाएं, सामाजिक स्तर में भयानक अंतर, बढ़ता हुआ जीवनस्तर, इन सब का ऐसा चक्र चलता है कि आप के पास इस के अलावा दूसरा कोई उपाय ही नहीं रहता कि आप नाजायज ढंग से पैसा कमाएं। इस में किस का दोष है? यदि अमरीका के हर तीसरे व्यक्ति के पास एक कार होने की बात हमारे सामने रोज आती है, तो क्या हम अपनी पत्नी के लिए कम से कम एक अच्छी सी साड़ी भी नहीं ला सकते? आप का धर्म और आप की नैतिकता किस काम आएंगे? यदि आप के बच्चों को ठीक तरह से शिक्षा नहीं मिल पाती है, यदि आप को भरपेट खाना नहीं मिलता है, तो फिर जीना बेकार है।

नागरिक भी उत्तरदायी

साथ ही नागरिकों का भी दोष है कि वे खुद हर तरह के उपायों से अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। यह कहना कि केवल सरकारी कर्मचारी ही भ्रष्टाचार के लिए जिम्मेदार हैं, पूरी सच्चाई की बात नहीं होगी। नागरिक खुद भी चाहते हैं कि लंबी लाइन में खड़े हुए बिना ही जल्दी से टिकट प्राप्त कर लें और तब आप बुकिंग क्लर्क के हाथ में कुछ थमाते हैं। आप चाहते हैं कि आप का माल सब से पहले रवाना हो और तब आप स्टेशनमास्टर की जेब गरम करते हैं। आप चाहते हैं कि किसी चीज का लाइसेंस आप को मिल जाए और आप अफसर की स्त्री के लिए बढ़िया सी साड़ी खरीद देते हैं। आप अपना पेट भरना चाहते हैं और इसलिए दूसरों की जेबें भरते हैं। आप खुद भ्रष्ट हैं और इसलिए दूसरों को भी भ्रष्ट करना चाहते हैं। आप को लाभ चाहिए और इसलिए दूसरा भी आप से लाभ उठाता है। आखिर ताली एक हाथ से नहीं बजा करती, इस-

लिए हम और आप भी भ्रष्टाचार के लिए एक-दूसरे को जिम्मेदार बताने लगेंगे। सरकारी कर्मचारी और इस जिम्मेदारी के पीछे आर्थिक कारण हैं, जिन के निवारण के बिना किसी जिम्मेदारी का कोई अर्थ ही नहीं होता।

भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए कई कदम एक साथ उठाने की आवश्यकता है। केवल आलोचना करने से अथवा किसी एक पहलू को पकड़ कर बैठ जाने से ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।

सब से पहली बात तो यह है कि सरकारी कर्मचारियों के जीवनस्तर को ऊंचा उठाया जाए। उन को तनखाहें बढ़ाई जाएं और जीवन को अन्य सुविधाएं उन को दी जाएं, ताकि आर्थिक दृष्टिकोण से वे निश्चित हो सकें। वही व्यक्ति समाज का भला कर सकते हैं, जिन के सामने आर्थिक समस्याएं न हों। 100-125 रुपए पाने वाले क्लर्क से, जिस के परिवार में 7-8 प्राणी हैं, अगर आप यह उम्मीद रखें कि वह ईमानदारी से अपना काम करेगा, तो आप का सोचना सही नहीं है। वह निश्चित रूप से भ्रष्टाचार के द्वारा अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। कौन ऐसा व्यक्ति है जो धन के पीछे न दौड़ता हो। केवल उपदेशों से पेट नहीं भरता, इसलिए अर्थ की सहायता को समझते हुए समुचित आर्थिक विकास की आवश्यकता है। यह सब से प्रमुख बात है, क्योंकि भ्रष्टाचार की हर बात के पीछे आर्थिक रहस्य छिपा रहता है, इसलिए आर्थिक दृष्टिकोण से जब तक सरकारी कर्मचारी निश्चित नहीं हो जाते, तब तक अन्य कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता।

भ्रष्टाचार को खत्म करने के लिए दूसरा उपाय है कठोर दंड व्यवस्था। आज दंड देते समय भी मानवीय मूल्यों के प्रश्न हम उठाते हैं, किंतु जो समाज के हित के शत्रु हैं, उन के लिए किसी भी प्रकार की दया नहीं करनी चाहिए। दंड में भी नरमी की बात करना भ्रष्टाचार को और अधिक

बढ़ावा देता है। गुर्गमो बाविसमो प्रकाशवति कि ठीक समय पर चाटी की जाए।

चार के मामले में पकड़ा जाए, उसे इतना कठोर दंड देना चाहिए कि वह दूसरों के लिए उदाहरण बने और भविष्य में लोग उस काम को दोबारा करने का साहस न करें।

जब हम यह बात पढ़ते व सुनते हैं कि नेहरूजी ने एक बार यह घोषणा की थी कि उन का बस चले तो वह ब्लैकमार्केटियर को निकटतम लैंपपोस्ट पर लटका दें, तो मन को कुछ धीरज बंधता है कि चलो, एक व्यक्ति तो ऐसा है जो भ्रष्टाचार का दिल से विरोधी है। लेकिन वह बात कहने वाला नेहरू और भारत का प्रधान मंत्री नेहरू शायद अलगअलग व्यक्ति हैं। देश के शासन की पूरी बागडोर पिछले 13 वर्षों से उन के हाथों में है, फिर भी भ्रष्टाचारी व्यक्तियों की संख्या दिनोदिन बढ़ती जा रही है। क्यों नहीं, वह एक सिर्फ एक भ्रष्टाचारी को कनाटप्लेस में लैंपपोस्ट से लटका देते? दूसरे दिन भ्रष्टाचार खुद ही खत्म हो जाएगा। लेकिन भ्रष्टाचार की बात करने पर खुद नेहरूजी एक साधारण कर्मचारी की तरह प्रमाण की बात उठाते हैं या फिर कमिशन का गठन करने का सुझाव देते हैं। ये कमिशन खोखले सिद्धांतों का खोखली प्रतिक्रियाएँ मात्र हैं। इन की लंबोलंबी रिपोर्टें अलमारी की ही शोभा बढ़ा सकती हैं। जब तक क्रियात्मक रूप से लड़ाई नहीं की जाती, भ्रष्टाचार का दानव नहीं मर सकता। यदि कोई सरकारी कर्मचारी घूस लेता हुआ पकड़ा जाए, तो उसे उसी समय नौकरी से हटा देना चाहिए उस के लिए जांच करना, प्रमाण इकट्ठे करना व्यर्थ है। जो कर्मचारी खाने-पीने की चीजों में मिलावट करने में सहयोग देता हो और इस तरह जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ करता हो, उसे पकड़ कर सब के सामने गोली से उड़ा देना चाहिए। एक भ्रष्ट व्यक्ति की जान सारे राष्ट्र को सबक सिखा सकती है, बशर्ते

हमारे देश में प्रचलित कानून में भी आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। ये कानून व्यक्ति के हितों की रक्षा करने के बजाए उन के लिए अधिक कठिनाइयाँ ही पैदा करते हैं। पहले तो भिन्नभिन्न कानूनों की संख्या इतनी अधिक है कि एक अच्छे से अच्छे वकील को भी सब के बारे में जानकारी नहीं होती। साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है। हर विषय में बेकार के कानून यहां मिलेंगे। और उस पर भी मजे की बात तो यह है कि सभी कानून कमियों से भरे पड़े हैं और अधिकांश अस्पष्ट हैं। जिस के मन में जो आता है, वैसा ही उस का अर्थ निकाल लेता है। इस तरह के कानून नागरिकों का भला किस प्रकार कर सकते हैं, समझ में नहीं आता। और फिर यहां के कानूनों से न्याय भी शीघ्रता से नहीं मिलता। मामूली से केस का 2-4 साल चलना आसान बात है। उस का परिणाम यह होता है कि न्याय मिलता ही नहीं। शीघ्र न्याय के लिए स्वस्थ कानून चाहिए। कईकई भ्रष्ट सरकारी कर्मचारी तो कानून के दांवपेंच लगा कर ऐसे साफ निकल जाते हैं मानो कुछ हुआ ही न हो। प्रत्यक्ष के लिए भी प्रमाण को जो प्रणाली है, उसे खत्म कर देना चाहिए।

यदि ऐसा नहीं किया जा सके तो नैतिकता व शुद्ध आचरण की लंबोलंबी बातें बनाने का हमें कोई अधिकार नहीं है। आदर्शों के उपदेश किसी का पेट नहीं भर सकते। ये उपदेश धर्म के ठेकेदारों को ही शोभा देते हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति में हराम का खाने व जनजीवन को भ्रष्ट करने की खुली छूट मिली हुई है। राजनीति थोथे आदर्शों से नहीं चलती। उस के लिए चाहिए वृद्ध संकल्प, कठोर अनुशासन की भावना और रचनात्मक कार्य करने की क्षमता। ●

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज की भर्त्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईमानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहाना पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो. क्यों? भगवान खुश होंगे. तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है.” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए. बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए. बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है. रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता. बिना रोजगार गरीबी नहीं

मिटती. मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता.

पूँजी धन संचय किए बिना नहीं बनती. धन बिना मेहनत किए नहीं आता. और आमदनी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता. व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती. सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जबरन कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती.

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है. जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेंगे, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी.

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरपेट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीति-बाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते. उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे. और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी. याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बैर है. पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजी-पति का बैर बना दिया है.

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए. पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लगिए. दूसरों को रोजगार दीजिए. यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर. वैसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता. इस से केवल राजनीति-बाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है.●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए.

रामचरितमानस में नारी

भदंत आनंद कौसल्यायन

नारी के निरादर करने वाले व्यक्ति क्या प्रशंसा के पात्र है?

रामचरितमानस का उत्तर भारत में ही नहीं, अन्यत्र भी जहां कहीं इस का पारायण होता है, अद्भुत प्रभाव है। इस का वही प्रभाव, इस की वही सामर्थ्य इस बात का जोरदार तकाजा करती है कि अपनी जिन मान्यताओं की तुलसीदास ने रामचरितमानस में स्थापना की है, जिन आदर्शों को जीवन का ध्रुवतारा बना कर उन की ओर निर्देश किया है, उन का न केवल इतिहास के एक विद्यार्थी की दृष्टि से ही, बल्कि एक सामान्य जीवन शोधक और जीवन आराधक की दृष्टि से भी हम उन मान्यताओं तथा उन आदर्शों का नए सिरे से मूल्यांकन करें। निश्चय ही रामचरितमानस की गिनती उन मुर्दा ग्रंथों में नहीं की जा सकती जिन की कोई भी इतिहास का विद्यार्थी बंठाबंठा शव परीक्षा करता है। वह तो उन जीवित सद्ग्रंथों में से है जो न केवल आज के युग को प्रभावित कर रहे हैं, बल्कि जिन का प्रभाव सुदीर्घ भविष्य तक बना रहने वाला है।

हम यहां इस बात का अध्ययन करना चाहते हैं कि मातृशक्ति अथवा स्त्रियों के संबंध में तुलसीदास की क्या मान्यताएं थीं और जिन आदर्शों की ओर उन्होंने सीधे अथवा व्यंजना से संकेत किया है, आधुनिक मान्यताओं की कसौटी पर कसे जाने पर वे किस हद तक प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं।

प्रत्येक महान ग्रंथ के कुछ मंत्र होते

हैं जो उस ग्रंथ अथवा उस के रचयिता की मूल भावनाओं को समझने में सहायक होते हैं। रामचरितमानस के ऐसे अनेक मंत्रों में से एक है :

“कोहे प्राकृत जन गुन गाना,
सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।”

(बाल कांड, 204)

(साधारण जनो का गुणगान करने से सरस्वती सिर धुनधुन कर पछताने लगती है।)

यह चौपाई पुकारपुकार कर कह रही है कि तुलसीदास को जनसाधारण का गुणगान करना एकदम अभिप्रेत नहीं था। रामचरितमानस में जहांजहां भी जनसाधारण अथवा उन के प्रतिनिधियों का चरित्रचित्रण है, वह तुलसीदास के अद्भुत काव्य कौशल का परिचायक होते हुए भी प्रसंगवश ही है। तुलसीदास के रामचरितमानस का आध्यात्मिक उद्देश्य राम का गुणगान है और सामाजिक उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र तथा वैसे ही कौशल्या, सीता, भरत, हनुमान, आदि आदर्श पात्रों की रचना।

आगे की पंक्तियों में हम तुलसीदास के स्त्री पात्रों की ही चर्चा करेंगे। अन्य पात्रों की चर्चा भी प्रसंगवश अनिवार्य होगी ही।

बाल कांड का आरंभ ही है। तुलसीदास सब छोटेबड़ों की वंदना कर रहे हैं। सियापति रामचंद्र की ओर संकेत करते हैं :

“सिय निंदक अधशोध नसाये,

लोक बिसोक बसावुनाये” (बाल कांड, 67-4)

(बाल कांड, 31-2)

(उन्होंने सीता की निंदा करने वाले धोबी के पाप समूह का नाश कर उसे शोक रहित बैकुण्ठ लोक में बसा दिया.)

विरोधाभास

कथा कुछकुछ यही तो है न कि एक धोबी ने रामचंद्र की निंदा की कि जिस सीता को रावण गोद में उठा कर ले गया था और जो बहुत दिन तक उस के घर में रही, उसी को रामचंद्र ने पुनः अंगीकार कर लिया. यह स्थल उस प्रसंग को विस्तृत आलोचना करने का नहीं है, किंतु यदि यह प्रश्न पूछा जाए कि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र के इस त्याग के मूल में राजनीति की नहीं, लोकाराधना की नहीं, किंतु स्वच्छ नीति की कौन सी उदात्त भावना है, तो सचमुच उत्तर आसान नहीं. मातृशक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की इतनी अवहेलना! इस बंदनक्रम में है :

“जनकमुता जगजननि जानकी,
अतिसय प्रिय कृष्णानिधान की.
ताके जुग पदकमल मनावौ,
जासु कृपा निरमल मति पावौ.”

(बाल कांड, 33-4)

(जनक की कन्या, जगत की माता और कृष्णानिधान रामचंद्र की अत्यंत प्यारी जानकी के दोनों चरणकमलों को मैं प्रणाम करता हूं. उन की कृपा से मैं निर्मल बुद्धि पाऊं.)

यहां जो प्रणाम है, वह जगत की माता जानकी को है. किसी प्राकृत देवी को तो कभी हो ही नहीं सकता.

तुलसीदास के रामचरितमानस की यह विशेषता है कि यह अध्यात्म के ऊंचे से ऊंचे स्तर से प्राकृत जनों के स्तर तक चढ़ताउतरता रहता है. रामचंद्र के प्राकृत रूप का वर्णन पढ़िए :

“नारि बिरह दुख लहेउ अपारा,
भयउ रोषु रन रावनु मारा.”

(बाल कांड, 67-4)

(जन्होंने रामचंद्र ने धोबीवियोग का अपार दुख पाया था और क्रोधित हो कर रावण को रण में मारा था.)

विषयांतर न हो जाए, इसलिए यह आगे की कथा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है :

“एक बार त्रेता युग माहीं,
संभु गए कुंजन रिषि पाहीं,
संत सती जगजननि भवानी,
पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी.”

(बाल कांड, 69-1)

(त्रेता युग में एक बार महादेवजी अग्रस्त्य मुनि के पास गए. उन के साथ सती जगतजननी भवानी भी थीं. ऋषि ने उन को सारे जगत का ईश्वर जान कर उन की अच्छी तरह पूजा की.)

इस स्थल पर महादेवजी तथा रामचंद्र के आपसी संबंध को ले कर जगत-जननी भवानी के मन में एक संदेह पैदा हो जाता है.

“संकर जगत बंछ जगदीसा,
सुर नर मुनि सब नावत सीसा,
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परमाना,
कहि सच्चिदानंद परधामा.”

(बाल कांड, 72-3,4)

(जिन शिवजी की वंदना सारा जगत करता है, जो सारे जगत के स्वामी हैं और जिन को देवता, मनुष्य, मुनि सब सिर नवाते हैं, उन्होंने एक राजपुत्र को सच्चिदानंद और मोक्षधाम कह कर प्रणाम किया.)

यह एक प्रकार से सारे अवतारवाद पर ही की गई शंका है. स्वयं तुलसीदास ने इसे अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है :

“ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल
अनीह अमेद,
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न
जानत वेद.”

(बाल कांड, 73)

(जो ब्रह्मा सब में व्याप्त तथा माया,

जन्म, कला, चेष्टा और खंड से रहित है
 और जिस वेद भी नहीं जानते, वह क्या

देह धारण कर के मनुष्य हो सकता है?)

अंतरयामी शिव ने भवानी की यह
 शंका जान ली, बोले :

“सुनहु सती तव नारि सुभाऊ,
 संसय अस न धरिय उर काऊ.”

(बाल कांड, 73-3)

(हे सती, सुनो, तुम्हारा स्त्री का
 स्वभाव है. ऐसा संदेह मन में कभी नहीं
 करना चाहिए.)

संदेहपरकता

ज्ञान का इतिहास साक्षी है कि संदेह
 ही उस का जनक है. किंतु यहां संदेह
 करना ही मना नहीं किया गया है, किंतु
 उसे स्त्री स्वभाव कह कर स्पष्ट रूप से
 स्त्री जाति की भी श्रवमानना की गई है.

इस संदेह को मिटाने के लिए शिव,
 भवानी को राम की परीक्षा लेने का
 आदेश देते हैं. भवानी सीता का रूप धारण
 कर रामचंद्र की परीक्षा लेने का प्रयास
 करती हैं. इस पर तुलसीदास की टीका है :

“सती कीन्ह चह तहहं दुराऊ,
 देखहु नारि सुभाऊ प्रभाऊ.”

(बाल कांड, 75-3)

(स्त्रियों के स्वभाव का प्रभाव तो
 देखो कि सती ने उन—सर्वज्ञ—से भी
 छिपाव करना चाहा.)

यह सती का व्यक्तिगत दोष नहीं है
 —यह स्त्रियों का स्वभाव ही है.

वापस लौटने पर जब भवानी से शिव
 ने पूछा कि बताओ तुम ने कैसे क्या परीक्षा
 ली, तो भवानी यथार्थ बात प्रकट न कर
 थोड़ा झूठ बोल बंठती हैं :

“कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं,
 कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाई.”

(बाल कांड, 78-1)

(स्वामिन, मैं ने कुछ परीक्षा नहीं
 ली. आप ही की तरह उन्हें प्रणाम किया.)

किंतु शिव सब जान लेते हैं. तब
 भवानी को स्वाभाविक दुख होता है. यह

दुख यों व्यक्त हुआ है :

“सती हृदय अनुमान किय सब
 जानेउ सर्वज्ञ,
 कीन्ह कपटु में संभु सन नारि सहज
 जड़ अज्ञ.”

(बाल कांड, 80)

(सती ने अपने जी में अनुमान किया
 कि सर्वज्ञ शिव ने सब जान लिया. मैं ने
 शिव से कपट किया है. स्त्रियां स्वभाव से
 ही मूर्ख और नासमझ होती हैं.)

यहां फिर स्त्रियों का साधारणीकरण
 कर के एक स्त्री के ही मुंह से उन्हें मूर्ख
 और नासमझ कहलाया गया है. जो स्वभाव
 से ही मूर्ख और नासमझ है, क्या उन्हें
 किसी भी विधि से विज्ञ और समझदार
 बनाया जा सकता है? नहीं.

शिव ने स्वयं ही भवानी को रामचंद्र
 की परीक्षा लेने के लिए भेजा था. वह पति
 की अनुज्ञा पा परीक्षा लेने चली गई—
 यही उन का महान अपराध हो गया.
 क्योंकि रामचंद्र की परीक्षा लेने के लिए
 भवानी ने सीता का रूप धारण कर लिया
 था इसलिए शिव ने अब उन्हें पत्नी रूप
 में ग्रहण करना अनुचित जान भवानी को
 त्याग दिया. निस्संदेह यह रामभक्ति की
 पराकाष्ठा और शायद उस की एक आदर्श
 कसौटी भी है. किंतु इस सारे कथानक में
 मातृशक्ति नारी को क्या स्थिति रहती
 है, यह भी तो विचारणीय है. भवानी का
 दुख और उन की समझ के अनुसार उन
 का मूल कारण इस प्रकार व्यक्त हुआ है :

“मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना,
 पुनि पति बचन मूषा करि जाना,
 सो फल मोहि बिधाता दोन्हा,
 जो कछु उचित रहा सोइ कोन्हा.”

(बाल कांड, 82-1, 2)

(मैं ने रामचंद्र का अपमान किया.
 फिर पति के वचन को झूठा माना. सो
 उस का फल बिधाता ने मुझ को दिया
 और जो उचित था वही किया.)

भवानी सीता का रूप धारण कर
 रामचंद्र के आगेपीछे चलने लगी थी. यही

भवानी द्वारा रामचंद्र का अपमान हुआ, हमें लगता है अवमान शब्द पर्याप्त होता, अपमान कुछ अधिक गंभीर है, किंतु आत्मग्लानि में ऐसा होता ही है। जो बात यहां ध्यान देने की है, वह यह कि भवानी को अपना मिथ्याभाषण करने का अनुताप नहीं है, उन्हें सब से अधिक अनुताप पति के वचन को ही झूठा मानने का है। पति के हर वचन को बिना सोचेसमझे त्रिकाल सत्य मानने में कौन सी और कहां की आदर्श-वादिता है? हो सकता है कि इस की कोई पराध्यात्मिक व्याख्या की जा सके, किंतु सामाजिक दृष्टि से तो यह कोई बड़ा कल्याणकारी आदर्श प्रतीत नहीं होता। यह तो पति के किसी भी कथन पर प्रश्न-चिह्न लगाना ही पाप हो गया।

आत्मदाह

भवानी के इस अपराध से शिव भवानो की ओर से एकदम विमुख हो गए। निस्संदेह यह शिव के त्याग का ज्वलंत उदाहरण है। किंतु इस त्याग का भवानी के लिए यही अर्थ था कि उन्हें सत्तासी हजार वर्ष तक अकथनीय दारुण दुख सहन करना पड़ा।

अब आगे दक्ष के प्रजापति बनने की कथा और भवानी के वहां जाने की कथा बड़ी ही कारुणिक है। शिव ने भवानी को समझाया :

“जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा,
जाइअ बिनु बोलेहु न सदेहा।
तदपि बिरोध मान जंह कोई,
तहां गये कल्याण न होई।”

(बाल कांड, 85-2)

(इस में संदेह नहीं कि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बुलाए भी जाना चाहिए। परंतु जहां कोई विरोध मानता हो उस के घर जाने में भलाई नहीं होती।)

असंभव नहीं था कि यदि शिव ने भवानी को त्यागा न होता तो भवानी शिव की बात अवश्य मान लेतीं, किंतु जब नारी

को पति सर्वथा त्याग दे तो वह पिता के घर भी कैसे न जाए! किंतु यह जाना सुखद नहीं ही हुआ। लिखा है :

“दच्छ न कछ पूछी कुशलाता,
सुतिहि बिलोकि जरे सब गाता।”

(बाल कांड, 86-2)

(दक्ष प्रजापति ने अपनी पुत्री सती भवानी को कुछ कुशलवार्ता नहीं पूछी। उलटे उन्हें देख कर उस का सारा शरीर जल गया।)

सती को क्रोध आना स्वाभाविक था। यद्यपि पति ने उन्हें त्याग दिया था, तो भी वह पति की श्रवहेलना कैसे सहन कर सकती थीं? लिखा है :

“जगदातमा महेंसु पुरारी,
जगतजनक सब के हितकारी।
पिता मंदमति निंदत तेही,
दच्छ सुक्र संभव यह देही।
तजिहौ तुरंत देहि तेहि हेतु,
उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतु।
अस कहि जोग अग्नि तनु जारा,
भयउ सकल मष हाहाकार।”

(बाल कांड, 87-3,4)

(त्रिपुर के शत्रु शिव महाराज सारे जगत की आत्मा हैं। वह सब के उत्पन्न करने वाले और हितकारी हैं। मेरा मूर्ख पिता दक्ष उन की निंदा करता है। और यह मेरा शरीर उसी पिता के अंश से उत्पन्न हुआ है, इसलिए चंद्रमा को धारण करने वाले और वृषकेतु शिव का ध्यान करते हुए मैं इस शरीर को अभी छोड़ देती हूं। इतना कह कर सती ने योग की अग्नि से अपना शरीर भस्म कर डाला। यह देख कर सारे यज्ञ मंडप में हाहाकार मच गया।)

यदि शिव के ईश्वरत्व की तथा भवानी के जगदंबा होने की बात को थोड़ी देर के लिए भूल कर दोनों को सामान्य पति और पत्नी के रूप में ग्रहण किया जाए, तो इस पौराणिक कथानक का इतना ही सार निकलता है कि पति परित्यक्ता तथा पिता द्वारा अनादृत नारी के लिए तुलसी-

CC-0. Agamganga Digital Preservation Foundation, Udaipur, India

दास की कल्पना के अनुसार जल मरने के अतिरिक्त—भले ही वह योगाग्नि हो—दूसरा मार्ग नहीं।

अब भवानी पर्वतराज की कन्या हो कर जन्म ग्रहण करती है। जन्मांतरवाद समस्त भारतीय चिंतन की सामान्य मान्यता है। तदनुसार पार्वती की इस जन्म में भी सब से बड़ी आकांक्षा यही है कि वह अपने पूर्वजन्म के पति शंभु को ही प्राप्त करें। काश, शंभु को भी कुछ ऐसी ही प्रार्थना होती। शंभु के लिए भी पार्वती के प्रिया होने में संदेह नहीं है। किंतु तपस्या पार्वती को ही करनी पड़ती है। और वह तपस्या कैसी है?

“संवत सहस्र मूल फल खाए,
सागु खाइ शत बरष गंवाए.
कछु दिन भोजन बारि बतासा,
किए कठिन कछु दिन उपवासा.
बेलपाति महि परं सुखाई,
तीन सहस्र संबल सोइ खाई.
पुनि परिहरे सुखानेउ परना,
उमहि नाम तब भयउ अरपरना.”

(बाल कांड, 97-2,4)

(एक हजार बरस तक उन्होंने फल-मूल खाए और फिर सौ बरस सागपात खा कर बिताए। कुछ दिन जल और वायु पर ही बीते। फिर कुछ दिन कठिन उपवास किया। तीस हजार बरस तक उन्होंने धरती पर पड़े हुए सूखे बेलपत्र ही खाए। फिर सूखे पत्ते (पर्ण) भी छोड़ दिए। उस से उमा का नाम अर्पण हुआ।)

इतनी तपस्या करने पर भी शिव के पार्वती से दूरदूर रहने के संकल्प में कोई अंतर नहीं पड़ता। तब स्वयं रामचंद्र को आग्रह करना पड़ता है :

“अब बिनती मम सुनहु सिव जौ मो
पर निज नेहु,
जाइ बिबाहु सैलजाहि यह मोहि
मांगे देहु.”

(बाल कांड, 100)

(उन्होंने कहा कि हे शिव, यदि मुझ पर तुम्हारा स्नेह है तो तुम अब मेरी

बिनती सुनो, तुम मुझे इसी मांगने दो कि जा कर पार्वती के साथ विवाह कर लो.)

शिव के गले यह बात उतरनी नहीं। किंतु वह उसे स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि :

“मातु पिता गुर प्रभु के बानो,
बिनाहि बिचार करिअ सुभ जानी.”

(बाल कांड, 100-2)

(माता, पिता, गुरु तथा प्रभु की आज्ञा का बिना विचारे ही उसे शुभ मान कर पालन करना चाहिए.)

प्रेम परीक्षा

बालकों के लिए तो यह बात निस्संदेह व्यावहारिक है, क्योंकि उन में अपने हित-अहित को स्वयं जाननेसमझने का विवेक जाग्रत नहीं होता। किंतु सभी के लिए यह विचारहीन आज्ञापालन का उपदेश तो कुछ विशेष विवेकवर्धक बात नहीं मालूम देता।

यह सब होने पर भी शिव का मन संतुष्ट हुआ प्रतीत नहीं होता। अभी भी वह सप्त ऋषियों से कह रहे हैं :

“पारवती पहि जाइ तुम्ह प्रेम परीक्षा
लेहु,
गिरिहिं प्रेरि पठयेहु भवन दूरि करेहु
संदेहु.”

(बाल कांड, 101)

(तुम पार्वती के पास जा कर उस के प्रेम की परीक्षा लो और हिमवान को भेज, पार्वती को घर भिजवा कर मेरे संदेह को दूर करना.)

यदि हम शिव को पुरुष पक्ष का और पार्वती को स्त्री पक्ष का प्रतिनिधि मानें तो सचमुच जन्मजन्मांतर तक तपस्या करते रहने के बाद, स्वयं रामचंद्र के आग्रह करने के बाद भी यह प्रेम परीक्षा और संदेह की बात बड़ी ही निर्मम और अत्यंत विघातक है।

जो भी हो, शिवपार्वती विवाह राम-चरितमानस का एक बड़ा ही सरस, कुतूहल वर्धक प्रकरण है। जनरंजन और मनोरंजन के साथसाथ आराधना ज्ञानार्जन की अविरल

धारा भी.

पार्वती की माता मैना पार्वती को शिव को सौंप रही है. उन की विनम्र प्रार्थना है :

“नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु,
छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसन्न बर देहु.”

(बाल कांड, 125)

(हे नाथ, यह उमा मुझे मेरे प्राणों के समान है. अब इसे अपने घर की दासी बनाइए. अब इस के सब अपराधों को क्षमा करना. बस, प्रसन्न हो कर यही वर दीजिए.)

और पार्वती को भी गोद में बैठा कर सनेहु कहा है :

“करेहु सदा संकर पद पूजा,
नारि धरम पति देव न दूजा.”

(बाल कांड, 125-2)

(हे पुत्री, तू सदा शिव के चरणों की सेवा करना. नारियों के धर्म में पति के सिवा दूसरा देवता नहीं है.)

पराधीनता

समय और स्थानभेद से भले ही कुछ अंतर हो, अन्यथा न केवल भारतीय समाज, बल्कि सर्वत्र ही नारी की स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही रही है, विशेष रूप से जब से मातृसत्ता युग समाप्त हुआ है. तभी तो अगली ही चौपाई में तुलसीदास की भी पीड़ा पार्वती जननी मैना के मुख से फूट पड़ी है :

“कत बिधि सृजीर नारि जग माहीं,
पराधीन सपनेहु सुख माहीं.”

(बाल कांड, 125-3)

(पता नहीं विधाता ने नारी को यह कैसा जन्म दिया है. बेचारी पराधीन को स्वप्न में भी सुख नहीं.)

अब शिव और पार्वती पतिपत्नी के रूप में रह रहे हैं. कैसा प्राकृत वर्णन है.

“कराहि बिबिध बिधि भोग बिलासा,
गनन्ह समेत बसाहि कैलासा.

हर गिरिजा बिहार नित नएऊ,
एहि बिधि बिपुल काल चल गएऊ.”

(बाल कांड, 126-3)

(शिव और पार्वती तरहतरह के भोग-विलास करते हुए अपने गणों के साथ कैलाश पर रहने लगे. शिव और पार्वती नित्य नए बिहार करते थे. इस प्रकार बहुत सा समय बीत गया.)

कैलाश निवास के समय पार्वती शिव से रामकथा सुनना चाहती हैं. वह शिव से बहुतबहुत निहोरा करती हुई कहती हैं :

“जदपि जोषिता नहि अधिकारी,
दासी मनक्रम वचन तुम्हारी.
गूढ़ तत्व न साधु दुरावाहि,
आरत अधिकारी जंह पारवाहि.”

(बाल कांड, 133-1)

(यद्यपि कोई भी स्त्री इस के सुनने की अधिकारी नहीं है, किंतु मैं तो मन, वचन और कर्म से तुम्हारी दासी हूं. साधु-जन जब सुनने के लिए आतुर किसी अधिकारी को पाते हैं तो गूढ़ बात भी छिपा कर नहीं रखते.)

पार्वती को अपनी प्रार्थना दोहरानी पड़ती है :

“अब मोहि आपनि किंकरि जानी,
जदपि सहज जड़ नारि अयानी.
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहु,
जो मो पर प्रसन्न प्रभु अरहहु.”

(बाल कांड, 143-2,3)

(यद्यपि स्त्रियां स्वभाव से ही मूर्ख और ज्ञानहीन होती हैं, पर अब आप मुझे अपनी दासी जान कर, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो जो कुछ मैं ने आप से पूछा है वह सब कहें.)

यह हर स्त्री पात्र का स्वयं अपने मुंह से स्त्रियों को स्वभाव से ही अनधिकारणी, मूर्खा और अज्ञानी कहना तथा बारबार कहना किसे नहीं खटकेगा?

रामजन्म हो चुका है. चारों भाइयों के जन्म की कथा इस बात का प्रमाण है कि प्रायः सभी संप्रदायों ने अपनेअपने इष्टदेवों के जन्म को कुछ न कुछ अलौ-

किक परिधान पहनाया है। राम व लक्ष्मण बड़े होते हैं। विश्वामित्र अपने यज्ञों के रक्षार्थ राजा दशरथ से याचना कर राम व लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते हैं। लिखा है :

“चले जात मुनि दीन्ह देखाई,
मुनि ताड़का क्रोध करि धाई।
एकहि वान प्राण हरि लीन्हा,
दोन जानि तेहि निज पद दीन्हा।”

(बाल कांड, 241-3)

(जातेजाते मुनि ने ताड़का राक्षसी दिखा दी। वह राक्षसी इन तीनों का उस रास्ते निकलना सुन कर क्रोधित हो दौड़ी। रामचंद्र ने एक ही बाण से उस के प्राण हर लिए और उसे गरीबनी जान निज पद दे दिया।)

आत्मतुच्छता

यदि रामचंद्र को ईश्वर मान, तुलसी-दास के ‘ईस’ के बारे में कुछ विचार ही न किया जाए, तब तो खैर कुछ कहना ही नहीं। अन्यथा इस में कहां का आर्य शीर्ष है कि निशस्त्र दौड़ी चली आती एक अबला को दूर से ही बाण मार कर उस की हत्या कर दी गई? और फिर आगे यह लिखना क्या जले पर नमक छिड़कने के समान नहीं है कि उसे गरीबनी जान अपना पद अर्थात् बैकुंठ दे दिया?

ताड़कावध की बात को यहीं छोड़ हम आगे बढ़ें। थोड़ी ही दूर जाने पर लिखा है :

“आश्रम एक दीख मग माहीं,
खग मृग जीव जंतु तंह नाहीं।
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी,
सकल कथामुनि कही बिसेखी।”

(बाल कांड, 242-6)

(मार्ग में उन्होंने एक आश्रम देखा जिस में कोई पशुपक्षी और जीवजंतु नहीं थे। वहां एक शिला को देख कर रामचंद्र ने मुनि से पूछा। मुनिवर ने सारी कथा विस्तार से कह सुनाई।)

कथा का संक्षेप इतना ही है :

“गौतम नारि साप बस उपल देह
धरि धोर,
चरण कमल रज चाहती कृपा करहु
रघुबीर।”

(बाल कांड, 243)

(हे रघुबीर, गौतम की स्त्री ने शाप के कारण बड़े धीरज से पत्थर का शरीर धारण कर रखा है। यह आप के चरण-कमलों की धूल चाहती है। इस पर कृपा कीजिए।)

विस्तृत कथा इतनी ही है कि इंद्र और चंद्रमा ने मिल कर गौतम ऋषि तथा गौतम नारी दोनों को ठगा। गौतम नारी ने इंद्र को गौतम ऋषि समझ कर ही उस से सहवास किया था। बाद में गौतम ऋषि के आने पर और इंद्र से पूछने पर उसे पता लगा कि वह ठगी गई हैं। असाधारण विकट परिस्थिति में अहल्या ने झूठ का आश्रय लिया। ऋषि ने उसे शाप दे दिया कि तू पत्थर हो जा।

अहल्या दो अपराधों की अपराधिनी थी—परपुरुषगमन की तथा झूठ की। पर-पुरुषगमन उस ने वंचिता हो कर किया था और झूठ बोलने का अपराध भयवश। इन दो अपराधों के लिए ही उसे युगों-युगों तक पाषाण हो कर पड़े रहना पड़ा। क्या सारे पौराणिक साहित्य में कोई एक भी उदाहरण है जहां कोई ऋषिमुनि इसी तरह के समान अपराध के लिए किसी के शाप के कारण पाषाण बन गया हो?

युगोंयुगों से पत्थर बनी पड़ी रहने के बाद रामचंद्र के चरणस्पर्श से जब अहल्या प्राणवान होती है तो वह प्रार्थना करती है :

“मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन
रावनरिपु जन सुखदाई।”

(बाल कांड, 243, छंद)

(मैं अपवित्र नारी हूं और आप जगत को पवित्र करने वाले रावनरिपु हैं और भक्तों को सुख देने वाले हैं।)

चंद्रमा अपवित्र नहीं हुआ, वह चंद्र देवता बना रहा। इंद्र अपवित्र नहीं हुआ,

वह इंद्र देवता बना रहा। अगस्त्य अपवित्र नहीं हुआ। अश्वत्थामा का प्रसन्न होना भी अशुभ माना जाता है।
 रहा। एकमात्र अहल्या ही अपवित्र हुई। इस का सिवा इस के दूसरा कौन सा कारण बताया जा सकता है कि वह नारी है?

रामलक्ष्मण का जनकपुरी जाना, धनुष तोड़ना, परशुराम संवाद आदि रामचरितमानस के अत्यंत प्रासाद गुणपूर्ण स्थल हैं। रामचंद्र जब जनकपुरी जाते हैं तो वहां सीता की सखियों में से एक रामचंद्र के बारे में विश्वास प्रकट करती हुई कहती है :

“परसि जासु पदपंकज धूरी,
 तरी अहल्या कृत अधभूरी.
 सो कि रहहि बिनु सिव धनु तोरें,
 यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें.”

(बाल कांड, 255-3)

(जिन—रामचंद्र—के चरणकमलों की धूल लगते ही घोर पापिन अहल्या भी तर गई, क्या वह शिव के धनुष को तोड़े बिना रहेंगे! यह भरोसा भूल कर भी न छोड़ना चाहिए.)

रामचंद्र के घोर पापिन अहल्या का निस्तार करने की बात उन के जनकपुरी पहुंचने से भी पहले वहां पहुंच गई। किन्हीं चंद्रों तथा इंद्रों द्वारा वंचिता नारियों को घोर पापिन कह कर बारबार तिरस्कृत करना हिंदू जाति की एक ऐसी महान भूल की ओर संकेत करता है, जिस ने उसे इधर भी न जाने कितनी हानि पहुंचाई है। आज भी न जाने कितने विधर्मी चंद्रों और इंद्रों द्वारा वंचिता हिंदू नारियां पाषाण हृदय हिंदू जाति द्वारा बात की बात में ठुकरा दी जाती हैं।

प्राकृतजन की अवहेलना

निस्संदेह तुलसीदास ने पार्वती के रूप में पति को देवता मानने के आदर्श को साकार कर के दिखा दिया है। वैसे ही उन्होंने दूसरे भी एक से एक बढ़ कर गगनचुंबी आदर्शों को मूर्तिमान किया है।

हमारी विनम्र सम्मति में इन अनुपम प्रसन्न होना भी अशुभ माना जाता है।
 को छूने में सफल हुए हैं, वहां कहींकहीं पृथ्वी से उन का नाता एकदम टूट गया है। यह रामचरितमानस पर लगा छोटा प्रश्नचिह्न नहीं है, सीता के स्वरूप का वर्णन इस का साक्षी है :

“सिय सोभा नहि जाइ बखानी,
 जगदंबिका रूप गुन खानी.

उपमा सकल मोहि लघु लागी,
 प्राकृत नारि अंग अनुरागी.

सिय बरनि तेहि उपमा देई,
 कुकवि कहाइ अजस को लेई.”

(बाल कांड, 279-1,2)

(सीता की शोभा कही नहीं जा सकती। जगत की माता हैं, रूप और गुणों की खान हैं। सभी उपमाएं—सीता के संबंध में—मुझे हलकी लगें, क्योंकि वे सभी प्राकृत—संसारि—स्त्रियों के शरीर के वर्णन में लग चुकी हैं। सीता के संबंध में उन्हीं उपमाओं का उपयोग कर कौन कुकवि कहलाने का अपयश ले.)

उपमा किसी अस्पष्ट बात को स्पष्ट करने की सामान्य क्रिया है। उस के अभाव का अनुभव करना और उसे स्वीकार करना एक सामान्य कवि कौशल है, किंतु तुलसीदास का सीता के स्वरूप का वर्णन करने के संबंध में सभी उपमाओं को केवल इसलिए हेय ठहराना कि प्राकृत स्त्रियों के वर्णन में उन का उपयोग हो चुका है, तुलसीदास की प्राकृत जन की अवहेलना की भावना के ही अनुरूप है।

अब सीता स्वयंवर समाप्त हो चुका है। राजा और रानी प्रेममग्न हो कर रामचंद्र के पवित्र चरणों को धोने लगे। वे चरण कैसे हैं :

“जै परसि मुनिबनिता,

लही गति रही जो पातकमई.”

(बाल कांड, 356, छंद 2)

(जिन का स्पर्श कर के मुनि पत्नी—अहल्या—जो महापापमयी थी, वह भी गति पा गई अर्थात् उस का भी उद्धार

हो गया।)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रामचंद्र के चरणों से अहल्या का उद्धार हुआ या नहीं, यह भी किसी संदेह-वादी नास्तिक की जिज्ञासा हो ही सकती है। किंतु यहां प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न है कि बेचारी अहल्या को यहां फिर इतनी जल्दी पातकी कह कर क्यों स्मरण किया गया है? उसे छलने वाले चंद्र तथा इंद्र दोनों देवता बने रह कर पुज रहे हैं। इन दोनों देवताओं द्वारा ठगा गया मुनि भी किसी की अवज्ञा का पात्र नहीं बना। तब दोनों देवताओं द्वारा वंचिता अबला एकमात्र अहल्या ही क्यों पाषाण बनने पर मजबूर हुई? एक ही उत्तर है—वह तुलसीदास के कल्पना लोक की नारी थी।

अगले ही छंद में है :

“सुखमूल दूल्हा देखि दंपति पुलक
तनु हुलस्यौ हियो,
करि लोक बेद बिधानु कन्यादानु नृप-
भूषन कियो।”

(बाल कांड, 356 छंद 3)

(सुख के मूल दूल्हे—रामचंद्र—को देख कर दंपति—राजारानी—का शरीर पुलकायमान हुआ और हृदय उमड़ने लगा। राजमणि—जनक—ने लौकिक और वेदोक्त विधि कर के कन्यादान किया।)

स्वयंवर में कन्यादान

आज किसी भी संपत्तिदान और भूमिदान की तरह ही कन्यादान दिया और लिया जाता है। संपत्तिदान और भूमिदान होता है तो वह दान ही होता है, किंतु कन्यादान में बहुधा कन्या के ऋणविक्रय की बात साथ जुड़ी रहती है।

निस्संदेह यह कन्यादान की बात वर्तमान गतिअवरुद्ध विकृत भारतीय संस्कृति का एक हिस्सा है, किंतु क्या यह सचमुच वेदकालीन है? लगता है कि तुलसीदास अपनी अस्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टि के कारण कन्यादान को यों ही वेदोक्त रूप दे रहे हैं।

फिर सीता का कन्यादान तो दान

था भी नहीं। वह तो स्वयंवर था, जहां स्वयं वरण हो वहां दान कैसा?

रामचंद्र को ही नहीं, उन के शेष भ्राताओं को भी राजा जनक के यहां कन्यादान मिला है। उन सब का सम्मिलित वर्णन है :

“जसि रघुबीर व्याह बिधि बरनी,
सकल कुंवर व्याहे तेहि करनी.
कहि न जाइ कछु दाइज भरी,
रहा कनक मनि मंडप पूरी.
कंबल बसन विचित्र पटोरे,
भांतिभांति बहुमोल न थोरे.
गज रथ तुरग दास अरु दासी,
धेनु अलंकृत कामदुहा सी.
बस्तु अनेक करिअ किमि लेखा,
कहि न जाइ जानहि जिन्ह देखा।”

(बाल कांड, 358-1, 2, 3)

(जैसी रामचंद्र के विवाह की विधि कही गई है, उसी क्रिया से सब राज-कुमारों का विवाह हुआ। दहेज की अधि-कता कुछ कही नहीं जाती, सारा मंडप सोने और मणियों से भरा हुआ था। ऊनी कपड़े और तरहतरह के रेशमी कपड़े भी कम नहीं थे। हाथी, रथ, घोड़े दास और दासियां तथा खूब सजी हुई कामधेनु के समान अच्छी-अच्छी गाएं तथा और भी अनेक वस्तुएं थीं। कहां तक उन की गिनती करें। कुछ कहते नहीं बनता। जिन्होंने उन्हें देखा था, वे ही जानते हैं।)

आज दहेज प्रथा न जाने कितनी लड़कियों के मातापिताओं के जीवन का अभिशाप बनी हुई है। यह हो नहीं सकता कि रामचरितमानस की कथा के ऐसे स्थलों को लोग सुनते-सुनाते रहें और इस देश से दहेज प्रथा भी मिट जाए।

आश्चर्य है कि जिस पुरातन संस्कृति का हमें इतना अभिमान है उस के अनु-सार यह हाथी, घोड़े के ही साथ नहीं, कंबल आदि निर्जीव वस्तुओं के साथ सजीव दास और दासियों की गिनती होना हमें खटकता तक नहीं! किंतु जब निर्जीव वस्तुओं के समान कन्यादान ही होने लगा

CC-0. Digitized by eGangotri Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हो तो फिर इस हें बाँध के नी भी बोल सीता के गणों के प्रत्यक्ष है, किंतु अब इस स्थान पर तजसीदास क्या चाहते हैं :

दहेज का तो काफ़ी वर्णन है. एक दोहा है :

“दाइज अमित न सकिय कहि दीन
बिदेह बहोरि,
जो अवलोकत लोकपति लोक संपदा
थोरि.”

(बाल कांड, 366)

(राजा जनक ने फिर इतना अधिक दहेज दिया कि जिस का कुछ ठिकाना नहीं और जिस को देख कर लोकपति इंद्र, कुबेर आदि की भी संपत्ति थोड़ी मालूम होती थी.)

इधर न जाने कब से मध्यवित्त हिंदू समाज के सामने यही दहेज प्रधान विवाहों का आदर्श प्रचारित हो रहा है. आधुनिक सुधारवादियों के मार्ग में सब से बड़ी बाधा यही है.

पांव की जूती

नारी को इस स्थिति से स्वयं तुलसीदास भी कम दुखी नहीं मालूम देते. कहीं-कहीं उन का दुख बरबस अभिव्यक्ति पा गया है :

“बहुरिबहुरि भेंटहिं महतारी,
कहाहि बिरंचि रची कत नारी.”

(बाल कांड, 366-4)

(माताएं बारबार अपनी पुत्रियों से मिल कर कहने लगीं : हाय ब्रह्मा ने स्त्री क्यों बनाई?)

कितनी समांतक वेदना है!

अब सीता विदा हो रही है. सीता को माता रामचंद्र को सिय समर्पण कर रही हैं. वह कह रही हैं :

“परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रान-
प्रिय सिय जानबी.”

(बाल कांड, 368, छंद 1)

(कुटुंब के लोगों को, पुर के लोगों को, मन्त्रे और राजा—जनक—को सीता प्राणों से प्यारी है.)

यह सब एकदम स्वाभाविक है और

(बाल कांड, 368, छंद 1)
(तुलसीदास कहते हैं : इस के सुशील स्वभाव तथा स्नेह को देख कर इस को अपनी दासी मानना.)

सहयोगिनी नहीं, सहधर्मिणी भी नहीं, एकदम किकरी. कोई आश्चर्य नहीं यदि आज की विकृत संस्कृति में स्त्री एकदम पांव की जूती कही और समझी जाती है. अब रामचंद्र तथा सब कोई अयोध्या में हैं. रामचंद्र सोने जा रहे हैं. उस समय कौशल्या आदि उन की सभी माताएं कह रही हैं :

“मुनि तिय तरी लगत पग धूरी,
कीरति रही भुवन भरि पूरी.”

(बाल कांड, 390-2)

(तुम्हारे पांव की धूल लगते ही मुनि की स्त्री—ग्रहस्था—तर गई. इस बात का यश सारे संसार में फैल रहा है.)

भावना का प्रश्न है. रामचंद्र भगवान हैं, और भगवान सभी कुछ करने, न करने तथा उलटासीधा करने में भी समर्थ हैं. अन्यथा मुनि विश्वामित्र के गुरुकुल में रहने वाले रामलक्ष्मण की युगल मूर्ति का किसी स्त्री की पावाण मूर्ति तक को स्पर्श करना अवश्य चिंत्य है. स्पर्श आवश्यक ही था, सो क्या हाथ से स्पर्श नहीं हो सकता था? लेकिन वहां तो मुनि-तिय तक के लिए पगधूरी ही अपेक्षित थी. ऐसी कथाओं की ऐतिहासिकता विशेष विचारणीय नहीं है, किंतु वे जिस भावना की प्रतीक है, क्या वह भी चिंत्य नहीं है?

राम विवाह के बाद दूसरा मंगल कार्य जो होने को है और जिस का निर्णय ही नहीं, जिस की घोषणा तक हो चुकी है, वह रामचंद्र का राजतिलक है. उस मंगल कार्य में बाधा डालने वाली कौन है? एक स्त्री. रामचंद्र के वनगमन का कारण कौन है? एक स्त्री. राजा दशरथ

के शरीरों का कारण कौन है? मरुस्त्री
जिस प्रकार अथशास्त्र के नियमानुसार
खोटा पैसा अच्छे पैसे के प्रचलन के मार्ग
में बाधक बन जाता है, उसी प्रकार हमें
लगता है कि कौशल्य, सुमित्रा आदि के
आदर्श चरित्रों ने स्त्रियों के बारे में लोगों
की सम्मति को अच्छा मानने में वह कार्य
नहीं किया जो कार्य केकई तथा मंथरा के
चरित्र ने सामान्य लोगों के मन में स्त्रियों
के संबंध में जो धारणा रहती है, उसे
कलुषित करने में।

देव प्रेरित कुकर्म

ऐसे सब पात्रों को पाठकों तथा
श्रोताओं के रोष से बचाने के लिए उन के
सारे कुकर्मों को देवप्रेरित कहने का कवि
कौशल चला आ रहा है। सिद्धार्थ गौतम
का जो सारथी उन के वनगमन में सहा-
यक हुआ था, उस की भी रक्षा इसी प्रकार
की गई है। किंतु इस से भी बात ढक
नहीं जाती। स्त्रियां मंथरा तथा केकई जैसी
दुर्बुद्धि तथा दुष्टा भी होती हैं, यह धारणा
मन में घर कर जाती है।

यों केकई का अपयश कुछ हद तक बंट
गया है। उस का कुछ हिस्सा सरस्वती ने ले
लिया है और कुछ मंथरा ने। हमें मंथरा
का चरित्र बड़ा ही स्वाभाविक लगता है। न
सभी पुरुष ही हर समय देवता होते हैं
और न सभी स्त्रियां ही हर समय देवी।
मंथरा का चरित्र लोकमुलभ चरित्र है,
लेकिन उस की बुद्धि भी तो सरस्वती
द्वारा ही भरमाई है। लिखा है :

“नाम मंथरा मंदमति चेरो कँकेई केरो,
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति
फेरी.” (अयोध्या कांड, 13)

(केकई की एक मूर्ख बुद्धि वाली
दासी थी जिस का नाम मंथरा था। उसे
अपयश की पिटारी बना कर सरस्वती
उस की बुद्धि फेर गई।)

देवताओं में ब्रह्मा शुक्ल पक्ष का
प्रतीक है और मार (कामदेव) कृष्ण पक्ष
का। पता नहीं देवियों में सरस्वती के

सुकावहे मार कामाग्रही देवी की कल्पना
क्यों नहीं की गई? यह काम सरस्वती से
न लिया जाता तो अच्छा था।

अब मंथरा की करतूत देखिए :

“करै विचार कुबुद्धि कुजाती,
होइ अक्राजु कवनि विधि राती.
देखि लागि मधु कुटिल किराती,
जिमि गंव तकै लेऊं केहि भाति.
भरत मातु पहि गइ बिलखानी,
का अनमनि हसि कह हंसि रानी.
उतरु देहि नहि लेइ उसासु,
नारिचरित करि डारइ आंसू.”

(अयोध्या कांड, 13-2, 3)

(खोटी बुद्धि वाली और खोटी—नोच
—जाति वाली मंथरा विचार करने लगी कि
रात ही रात में यह काम कैसे बिगाड़ा जाए?
जिस तरह कुटिल भीलनी शहद के छत्ते
को लगा देख कर अपना मौका ताकती है
कि इस को किस तरह लूं। वह बिलखती
हुई भरत की माता केकई के पास गई।
उस को देख कर केकई ने कहा है कि
आज तू उदास क्यों है? मंथरा कुछ जवाब
नहीं देती और लंबी सांस खींचती है
और स्त्री चरित्र कर के आंखों से पानी
टपकाती है।)

इन दोनों चौपाइयों में खोटी जाति
वाली मंथरा की उपमा देते समय तुलसी-
दास ने इस बात का विचार नहीं किया
मालूम देता है कि सारी कि सारी किरात
जाति के स्त्री पक्ष को कुटिल कह देना
कहां तक ठीक है? इस का मात्र समाधान
यही हो सकता है कि उन्होंने तो मात्र
मधुलोलुप किराती को ही कुटिल कहा
है तब इसी प्रकार मंथरा के आंसू टपकाने
को भी तो सर्वसाधारण नारियों का चरित्र
कह कर कुछ कम आपत्तिजनक स्थिति
नहीं रहने दो है।

स्वयं केकई भी, जिस की बुद्धि अभी
स्थिर है, कह रही है :

“काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि,
तिय विसेखि पुनि चेरि कहि भरत
मातु मुसकानि.”

(काने, लंगड़े, कुबड़े—ये बड़े कुटिल और कुचाली होते हैं, और उन में भी स्त्री और विशेष रूप से दासी—ऐसा कह कर भरत मातु मुसकाई.)

स्त्री की निंदा

विनोद में कही हुई बात भी प्रायः सर्वथा यथार्थ नहीं होती। यहां के कई के मुख से भी प्राकृत स्त्रियों के संबंध में तुलसीदास की जो प्रतिक्रियावादी मान्यताएं हैं, उन्होंने ही अभिव्यक्ति पाई प्रतीत होती है।

किंतु कुछ ही देर में के कई मंथरा के वशीभूत हो जाती है। तुलसीदास कहते हैं :

“गूढ़ कपट प्रिय वचन सुनि तीय
अधर बुद्धि रानि,
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि
पतिआनि.” (अयोध्या कांड, 17)

(स्त्रियों की बुद्धि होंठों में होती है अर्थात् वे बातों में आ कर चलबिचल हो जाया करती हैं। तदनुसार रानी के कई ने गुप्त, कपट भरे, ऊपर से प्यारे वचनों को सुन कर, देवताओं की माया के वश में हो कर बैरिन मंथरा को अपना हितु जान कर उस का विश्वास कर लिया।)

यहां मंथरा भी दोषी है, देवताओं की माया भी दोषी है, किंतु इस सब को दोष देने की क्या आवश्यकता जब तुलसीदास के अनुसार स्त्रियों की बुद्धि होंठों में ही होती है, अर्थात् वे बातों में आ कर चलबिचल हो जाया करती हैं? स्त्रियों के बारे में कितनी दरिद्र सम्प्रति है! बातों में आ कर तो समयसमय पर सभी चलबिचल हो जाया करते हैं—क्या पुरुष और क्या स्त्री।

इस समय के कई पूर्णतः मंथरा के वश में है और राजा संपूर्ण रूप से के कई के वशीभूत। इस अवसर पर तुलसीदास की अपनी टिप्पणी है :

“जद्यपि नीति निपुन नर नाहु,
नारि चरित जलनिधि अवगाहु.”

(यद्यपि नरनाथ दशरथ राजनीति में दक्ष थे, परंतु स्त्री चरित रूपी समुद्र अथाह है।)

उस युग में, जब राज्य किसी भी राजा की व्यक्तिगत संपत्ति समझा जाता था और उसे राजा जिसे चाहे दे सकता था, पत्नी आसक्त वृद्ध दशरथ से कोई भी विवेकपूर्ण निर्णय कराने के लिए किसी अथाह समुद्र की आवश्यकता नहीं थी।

आगे एक चौपाई में प्रसंगवश स्त्री को सहगामिनी भी कहा है, जो प्रयोग निसंदेह स्वागत करने योग्य है। लिखा है :

“मंगल सकल सुर्हाहि न कैसे,
सहगामिनिहि विभूषन जैसे.”

(अयोध्या कांड, 37-4)

(जैसे सती होने के लिए तैयार स्त्री को गहने नहीं सुहाते, वैसे ही सभी मंगल साज राजा को नहीं सुहाते।)

यह सहगामिनी भी परलोकपथ की ही सहगामिनी है।

राजा दशरथ तथा राम के प्रति के कई के दुर्व्यवहार से दुखी हो कर अयोध्या निवासी एक के कई की ही नहीं, समस्त स्त्री जाति की निंदा कर रहे हैं :

“सत्य कहिहि कवि नारिसुभाऊ,
सब विधि अगह्व अगाध दुराऊ.
निज प्रतिबिंब बरक गहि जाई,
जानि न जाइ नारिगत भाई.”

(अयोध्या कांड, 47-4)

(विद्वानों ने स्त्रियों का स्वभाव ठीक कहा है। उन का कपट सभी तरह अगम और अथाह होता है। कोई अपनी परछाई को भले ही पकड़ ले पर, भाई, स्त्री की गति—चाल—नहीं जानी जाती।)

अगले दोहे में तो निंदा की पराकाष्ठा ही हो गई है :

“काह न पावकु जा रि सक का न
समुद्र समाइ,
का न करइ अबला प्रबल केहि जग
कालु न खाइ.”

(अयोध्या कांड, 48)

(आप में क्या नहीं जल सकता! समुद्र में क्या नहीं समा सकता! प्रबल अबला क्या नहीं कर सकती और संसार में काल किसे नहीं खा सकता!)

पुरुष प्रधानता

प्राकृत स्त्रियों के बारे में तुलसी युग की कुछ ऐसी ही मान्यता रही प्रतीत होती है। यदि तुलसीदास भी उस से ऊपर नहीं उठ सके, तो इस से यही सिद्ध होता है कि हर महान पुरुष जहां अपने युग का निर्माता होता है वहां अपने युग की उपज भी होता है।

अब वनगमन का प्रसंग है। रामचंद्र चाहते हैं कि सीता घर पर रहे और माताओं की सेवा करें, किंतु सीता वन चलने का हठ कर रही है :

“जहं लगि नाथ नेह अरु नाते,
पिय बिनु तियहि तरनिहुं ते ताते.
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू,
पतिबिहीन सब सोकसमाजू.
भोग रोग सम भूषन भारू,
जम जातना सरिस संसारू.
प्राणनाथ तुम्ह बिनु जग माहीं,
मो कहं सुखद कतहुं कछु माहीं.”

(अयोध्या कांड, 65-2,3)

(हे नाथ, जितने भी स्नेह संबंध तथा नाते हैं, वे स्त्री के लिए पति के न रहने पर सूर्य से भी अधिक तपाने वाले हैं। शरीर, धन, मकान, पृथ्वी और नगर का राज्य पतिहीन स्त्री के लिए सब शोक का समाज—समूह—है। पति बिना सब प्रकार के भोग रोग के समान और गहने बोझ हैं, संसार यमराज की यातना के समान है। हे प्राणनाथ, जगत में मेरे लिए तुम्हारे बिना सुख देने वाला कहीं कुछ भी नहीं।) इतना ही नहीं और भी है :

“जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी,
तैस्रि नाथ पुरुष बिनु नारी.”

(अयोध्या कांड, 65-4)

(हे नाथ, जिस तरह बिना जीव के शरीर और बिना पानी के नदी व्यर्थ है,

उसी तरह बिना पुरुष के स्त्री भी व्यर्थ है।)

लगता है कि यहां सीता के मुख से एक प्राकृत नारी की सहज दयनीय दशा ही अभिव्यक्ति पा गई है। इस से अधिक दयनीय स्थिति और हो भी क्या सकती है?

आगे वन में पहुंच जाने पर भी जब सुमंत्र की प्रेरणा से रामचंद्र सीता को वापस अयोध्या जाने का आग्रह कर रहे हैं तो भी सीता वही, बल्कि उस से भी बढ़ कर, बात दोहरा रही है :

“प्रभु करनामय परम बिबेकी,
तनु तजि रहित छांह किमि छँकी.
प्रथा जाइ कहं भानु बिहाई,
कहं चंद्रिका चंदु तजि जाइ.”

(अयोध्या कांड, 97-3)

(आप तो परम विचारवान और दयामय हैं। जरा सोचिए तो कि शरीर की छाया शरीर को छोड़ कर अलग कैसे रह सकती है? सूर्य को छोड़ कर धूप कहाँ जा सकती है? चंद्रमा को छोड़ कर चांदनी कहाँ रह सकती है?)

रामचंद्र तथा सीता की स्नेहमूलक व्यक्तिगत अभिन्नता को यदि प्रमुखता न दी जाए तो क्या इन दो चौपाइयों का सारांश इतना ही नहीं है कि पुरुष तो शरीर है, स्त्री उस की छायामात्र है, पुरुष तो सूर्य है, स्त्री उस की धूप मात्र है और पुरुष तो चंद्रमा है, स्त्री उस की चांदनी मात्र है?

क्या सचमुच स्त्री का पुरुष से भिन्न और पृथक अपना कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता? सत्य तो यह है कि स्त्री रूपी लता में ही पुरुष रूपी फल फूलतेफलते हैं।

भरत अपने मामा के यहां से लौट आए। उन्हें पता लग गया कि उन की माता राम के वनवास तथा पिता के स्वर्गवास का कारण हुई हैं। अपनी माता की करनी को सभी स्त्रियों पर घटा कर भरत कहते हैं :

“बिधिहु न नारि हृदय गति जानी,
सकल कपट अघ अवगुन खानी.”

(स्त्री के हृदय की गति को विधाता भी नहीं जान सकता. स्त्री का हृदय सभी तरह के कपट, पाप और अवगुणों की खान होता है.)

और पुरुषों का हृदय?

इस समय सीता को ऋषिपत्नी अनुसूया उपदेश दे रही हैं. वह विस्तृत है. कहा है :

“मातु पिता भ्राता हितकारी,
मितप्रद सब सुनू राजकुमारी.
अमितदानी भर्ता बंदेही,
अधम सो नारि जो सेब न तेही.”

(अरण्य कांड, 7-1, 2)

(हे राजकिशोरी सीता, सुनो, माता, पिता, भाई, हितैषी सब मितदाता—परिमित मात्रा में देने वाले हैं. किंतु हे बंदेही, पति अमित—अपरिमित मात्रा में देने वाला है. वह स्त्री अधम है जो पति की सेवा न करे.)

अपने आर्थिक स्वार्थ को भी न समझ कर जो स्त्री पति सेवा न करे, उसे चाहे मूर्ख भले ही कह लें, किंतु अधम न जाने क्यों कहा गया है!

अनुसूया का उपदेश है :

“धीरजू धरम मित्र अरु नारी,
आपद काल परखियही चारी.
बृद्ध रोग बस जड़ धन हीना,
अंध बधिर क्रोधी अति दीना.
ऐसेहु पति कर किए अपमाना,
नारी पाव जमपुर दुख नाना.
एक धरम एक व्रत नेमा,
काय बचन मन पतिपद प्रेमा.”

(अरण्य कांड, 7-2, 3, 4)

(हे सीता, धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री इन चारों की परीक्षा आपद काल में लेनी चाहिए. बूढ़ा, रोगी, मूर्ख, धनहीन, अंधा, बहरा, क्रोधी, अत्यंत दीन—ऐसे पति का भी अपमान करने से स्त्री यमपुरी में अनेक दुख पाती है. स्त्री के लिए एक ही धर्म और एक ही व्रत नियम है कि शरीर से, मन से और बचन से पति के चरणों से

पतिव्रत धर्म

इस एक ही धर्म और एक ही व्रत-नियम की विस्तृत व्याख्या भी प्राप्य है :

“जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं,
वेद पुरान संत सब कहहीं.
उत्तम के अस बस मन माहीं,
सपनहुं आन पुरुष जग नाहीं.
मध्यम पर पति देखैं कैसे,
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे.
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई,
सो निकृष्ट तिय स्त्रुति अस कहई.
बिनु अवसर भय ते रह जोई,
जानेहु अधम नारि जग सोई.
पतिबंधक पर पति रति करई,
रौरव नरक कल्प सत परई.”

(अरण्य कांड, 7-4, 8-1, 2, 3)

(वेद, पुराण और सब सतपुरुष कहते हैं कि जगत में पतिव्रता चार प्रकार की हैं. उत्तम स्त्री के मन में ऐसा निश्चय हो जाता है कि उस के लिए जगत में अपने पति के सिवा स्वप्न में भी कोई पुरुष नहीं है. मध्यम स्त्री दूसरी स्त्री के पति को ऐसे देखती है जैसे अपना भाई, पिता या पुत्र हो. जो स्त्री धर्म का विचार कर और कुल की रीति को समझ कर रह जाए, वह स्त्री निकृष्ट—नीच—है. जो स्त्री अवसर न मिलने के कारण या डर से बची रहे, वह स्त्री संसार में अधम है. जो अपने पति से छल कर के दूसरे के पति से प्रेम करती है, वह सौ कल्प पर्यंत रौरव नरक में गिरती है.)

क्या सचमुच स्त्री के लिए लैंगिक सदाचार ही एक मात्र धर्म और एक मात्र व्रतनियम है? अनुसूया इस बात की तनिक भी प्रचण्ण नहीं रहने देना चाहती. वह कहती है :

“छन सुख लागि जनम सत कोटी,
दुख न समुझ सम को खोटी.
बिनु लम नारि परम गति लहई,
पतिव्रत धरम छांड़ि छल गहई.

(अरण्य कांड, 8-3,4)

(क्षण भर के सुख के लिए सैकड़ों करोड़ों जन्म के होने वाले दुखों को जो न समझे भला उस के बराबर खोटी और कौन हो सकती है! जो स्त्री छल को छोड़ कर पतिव्रत धर्म का पालन करती है, वह बिना परिश्रम ही परम गति—स्वर्ग—पा जाती है. जो स्त्री पति से प्रतिकूल रहती है, वह कहीं भी जन्म ले, तरुणावस्था में ही विधवा हो जाती है.)

अनुसूया के सारे उपदेशों का सार उन्हीं के शब्दों में है :

“सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहै.” (अरण्य कांड, 9)

(स्त्री स्वभाव से ही अपवित्र है. पति की सेवा करने से ही उसे सद्गति प्राप्त होती है.)

हमें यह नोट करने के लिए क्षमा किया जाए कि यह एक सहज अपावन नारी का ही दूसरी सहज अपावन नारी को दिया गया उपदेश है. क्या जो स्वभाव से ही अपवित्र है, उस की भी शुद्धि हो सकती है?

अरण्य कांड में ही कुछ आगे जाने पर कागभुशुंड अनुसूया का पूर्ण समर्थन कर रहे हैं :

“आता पिता पुत्र उरगारी,
पुरुष मनोहर निरखत नारी.
होइ विकल सक मनहि न रोकी,
जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी.”

(अरण्य कांड, 28-4)

(हे गहड़, स्त्री मनोहर पुरुष को देखते ही, वह चाहे भाई हो, पिता हो या पुत्र ही क्यों न हो, विकल हो जाती है और अपने मन को रोक नहीं सकती. जैसे सूर्य को देख कर सूर्यकांत मणि पिघल जाती है, वैसे ही सुंदर पुरुष को देख कर स्त्री पिघल जाती है.)

क्या सुंदर स्त्री को देख कर पुरुष भी नहीं पिघल जाता? तब न जाने यह

अप्रासंगिकता

स्त्रियों के बारे में अथवा स्त्री धर्म के बारे में किस का क्या मत है, अब हम इस प्रसंग को थोड़ी विश्वांति लेने दें. इस अवसर पर अब हम रामचरितमानस के कथा-सूत्र को पकड़पकड़े वहां पहुंच जाते हैं जहां लक्ष्मण मूल, फल, कंद लेने के लिए वन में गए हुए हैं, रामचंद्र सीता पर अपनी भावी योजना प्रकट कर रहे हैं :

“सुनुहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला,
मैं कछु करब ललित नर लीला.

तुम्ह पावक मंह करहु निवासा,
जों लगि करौ निसाचर नासा.”

(अरण्य कांड, 42-1)

(हे सुशीले, प्रिये, मेरा एक सुंदर व्रत—नियम—मुनो. मैं कुछ मनोहर मनुष्य-लीला करूंगा. इसलिए मैं जब तक राक्षसों का नाश करूं, तब तक तुम अग्नि में निवास करो.)

रामचंद्र की आज्ञा के अनुसार सीता स्वयं तो अग्नि में प्रविष्ट हो गई और अपने प्रतिबिंब को वहां रख गई जिस का शील और रूप सीता जैसा ही था. लिखा ही है :

“निज प्रतिबिंब राखि तहं सीता,
तैसइ सील रूप सुबिनीता.”

(अरण्य कांड, 42-2)

न जाने रामचरितमानस में यह सीता के अग्निप्रवेश की कल्पना क्यों की गई है? हमें इसी बात का ध्यान बना रहता है कि जब सीता वास्तविक सीता नहीं थीं, तो रामचंद्र का उन की खोज करना, रामरावण युद्ध और राक्षसों का वध आदि सारी अपना मूल्य और महत्त्व गंवा देते हैं. सारे रामचरितमानस की ऐतिहासिकता ही बालू की भीत बन जाती है. अधिक सोचने पर लगता है कि स्त्रियों के संबंध में जो हड़डीगत मज्जागत विचित्र संस्कार हैं, उन की पवित्रता तथा दौर्बल्य के संबंध में जो पुरुष पक्ष की धारणाएं हैं, उन्हीं के

(अरण्य कांड, 76)

(काम, क्रोध, लोभ, मद आदि प्रबल मोह की धाराएं हैं। उन में श्रत्यंत कठिन दुख देने वाली माया रूपिणी स्त्री है।)

“सुन मुनि कह पुरान सुति संता,
मोह बिपिन कहु नारि बसंता।

जपतप नेम जलासय शरी,
होइ ग्रीष्म सोखै सब नारी।

काम क्रोध मद मत्सर भेका,

इनहीं हरषपद वरषा एका।

दुर्वासना कुमुद समुदाई,

तिन्ह कहं सदा सरद सुखदाई।

धर्म सकल सरसीरुह बूदा,
होइ हिम तिन्हहि देति सुख मंदा।

पुनि ममता जवास बहुताई,

पलुहै नारि सिसर रितु पाई।

पाप उलक निकर सुखकारी,

नारि निबिड़ रजनी अंधियारी।

बुद्धि बल सोल सत्य सब मोना,

बनसी सम त्रिय कहहि प्रबीना।”

(अरण्य कांड, 76-1, 2, 3, 4)

(हे मुनि सुनो, पुराण वेद और संत कहते हैं कि मोह रूपी वन में श्री बसंत ऋतु है। वही ग्रीष्म ऋतु हो कर जप, तप, नियम आदि सब जलाशयों को सुखा देती है वही स्त्री वर्षा ऋतु रूपिणी हो कर काम, क्रोध, मद मत्सर आदि मेंढकों के लिए सुख देने वाली हो जाती है। और दुष्ट वासनारूपी कुमुदिनियों के समूह को सदा सुख देने वाली शरद ऋतु रूपिणी हो जाती है। मंद—थोड़ा—सुख देने वाली स्त्री हेमंत ऋतु रूपिणी हो कर समस्त धर्म रूपी कमलों के समूहों को पाला बन कर मार डालती है, फिर शिशिर ऋतु हो कर वह ममता रूपी जवासे को खूब हराभरा कर देती है। स्त्री रूपिणी घोर अंधेरी रात पाप रूपी उल्लुओं के समूह को सुख देने वाली है। और बुद्धि, बल, शील तथा सत्य—इन मछलियों के लिए स्त्री बंसी रूपिणी हो जाती है। ऐसा चतुर लोग कहते हैं।)

नारी के दुर्गुणों का इतना मनमोहक

चंद्र ने ही नारद मुनि से कहा है :

“अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि,
ता ते कोन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।” (अरण्य कांड, 77)

(इस तरह स्त्रियां अवगुणों की जड़, पोड़ा देने ली और सब दुखों की खान हैं। यही सब समझ कर मैं ने तुम को विवाह नहीं करने दिया।)

दारुण प्रश्न

नारद मुनि आखिर मुनि थे, अच्छा ही हुआ कि वह रामचंद्र से यह नहीं पूछ बैठे कि यदि स्त्रियां सब अवगुणों की मूल, पोड़ा देने वाली और दुख की खान हैं, तो फिर आप ही क्यों सीता की खोज में वनवन भटक रहे हैं? निस्संदेह यह एक श्रत्यंत दारुण प्रश्न होता। ऊपर की चौपाइयों में काव्य के निखार के साथ जब उन में अभिव्यक्त विचार की तुलना की जाती है, तब तो ऐसा मालूम होने लगता है कि न जाने कैसे कनकघट में विष की बूंदें समा गई हैं।

किंतु तुलसीदास तो कदाचित इतना ही कहना चाहते हैं :

“दीप सिखा सम जूतिजन मन जनि होसि पतंग।” (अरण्य कांड, 58)

(युवतियों का तन तो दीपशिखा के समान है, और पुरुषों का क्या केवल अमर या सुकोमल पतंग के ही समान है?)

यह देख कर आश्चर्य होता है कि तुलसीदास युवतियों की दीपशिखा तो मानते ही थे, शायद वह उन की स्वतंत्रता के भी परम विरोधी थे। बात की बात है। कर तो रहे हैं वर्षा ऋतु का वर्णन, किंतु क्या गजब की उपमा दे रहे हैं :

“महाबृष्टि चलि फटि किआरी,
जिमि सुतंत्र भए बिगड़ाहि नारी।”

(किष्किंधा कांड, 16-4)

(भारी वर्षा होने पर बयारियां इस तरह फूट चलीं जिस तरह स्वतंत्र हो जाने पर स्त्रियां बिगड़ जाती हैं।)

इस चौपाई में स्पष्ट है—मनुस्मृति के अन्तर्गत प्रेम से सीता को नष्ट प्रमाणित हुई।

प्रसिद्ध श्लोक की छाया है जिस का आशय है कि स्त्री कुंवारी रहती है तो पिता रक्षा करता है, युवती होने पर पति रक्षा करता है, बूढ़ापे में पुत्र रक्षा करता है—वह किसी भी अवस्था में स्वतंत्रता की अधिकारिणी नहीं है।

जिस देश की माताएं ही परतंत्र होंगी, वह देश या तो स्वतंत्र हो ही नहीं सकता, यदि हो भी जाए तो रह नहीं सकता।

यदि किसी प्रकार स्त्रियां स्वतंत्रता-भिमुख ही हो जाएं तो समुद्र ने रामचंद्र से कहा है :

“ढोल गंवार शूद्र पशु नारी सकल ताड़ना के अधिकारी।” (सुंदर कांड, 62-3)

(ढोल, गंवार, शूद्र, पशु और स्त्री—ये सब ताड़ना के अधिकारी हैं।)

ढोल और पशु के साथ ही अगर गंवार, शूद्र और नारी ताड़ना के अधिकारी हैं, तो भारत का बहुमत ताड़ना के ही योग्य हुआ—गंवार भी, शूद्र भी और स्त्रियां भी। कुछ लोगों ने ‘नारी’ शब्द की तरहतरह की व्याख्या कर के तुलसीदास की वकालत करने का प्रयास किया है। उन की एक मात्र व्यक्तिगत वकालत यही हो सकती है कि यह एक गंवार जलनिधि का कथन है जो किसी भी तरह अनुकरणीय तो है ही नहीं, ध्यान देने योग्य भी नहीं है।

रामरावण युद्ध हो चुका है। सीता लौट आई हैं। यह तो किसी को ज्ञात ही नहीं था कि वास्तविक सीता का कभी हरण नहीं हुआ। वास्तविक सीता तो अग्नि में सुरक्षित रहीं। रावण तो केवल उन के प्रतिबिम्ब को, उन जैसी बनावटी मूर्ति को ले गया था। तब भी लोकापवाद के लिए स्थान तो था ही। रामचंद्र ने सीता को अथवा उन के प्रतिबिम्ब को सार्वजनिक तौर पर अपनी शुद्धि प्रमाणित करने के लिए कहा। प्रतिबिम्ब के अग्निप्रवेश द्वारा और आग में से वास्तविक सीता के सकुशल

इस अग्नि परीक्षा के बाद भी सीता के साथ क्या बीती, यह सर्वविदित है। क्या यह सब स्त्री होने का अभिशाप नहीं कहा जाएगा?

तुलसीदास ने अति संक्षेप में स्त्रियों के संबंध में अपनी समस्त धारणा को पूंजी-भूत कर दिया है :

“अबला कच भूषण भूरि छुधा,
धनहीन दुखी ममता बहुधा,
सुख चाहिं मूढ़ न धर्मरता,
मति थोरि कठोरि न कोमलता।”

(उत्तर कांड, 161, छंद 1)

(स्त्रियों के केश ही उन के भूषण हैं। उन्हें भूख बहुत लगती है। वे धनहीन होती हैं। दुखी होती हैं। उन में ममता बहुत होती है। वे मूर्ख धर्मरता तो होती नहीं, किंतु सुख चाहती हैं। उन में बुद्धि अधिक नहीं होती। वे कठोर होती हैं। उन में कोमलता नहीं होती।)

नारियों के संबंध में इसी प्रकार के विचार रखने और उन्हें व्यक्त करने के लिए हमें तुलसीदास से विशेष शिकायत नहीं है। भारतीय धर्म परंपरा के न जाने कितने उन्नायकों ने इन्हीं विचारों से मिलतेजुलते विचार व्यक्त किए हैं। कुछ स्मृतिकारों ने किए हैं, कुछ साधुसंतों ने किए हैं और कई दिग्गज आर्यों ने भी किए हैं।

हमें शिकायत है केवल तुलसीदास के उन आधुनिक भाष्यकारों से जो तुलसीदास को प्रगतिशील शब्द के वर्तमान अर्थों में प्रगतिशील सिद्ध करने का प्रयास करते हुए लगभग हर दिशा में प्रगतिशीलता का सर्टीफिकेट प्रदान करना चाहते हैं।

कम से कम आधुनिक युग की रमणियां तो तुलसीदास के उक्त विचारों को मानने से रहीं। वे उन की होली न जलाएं—यही बहुत है।

(नोट : इस लेख में उद्धरण श्री राम-नरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित और हिंदी मंदिर प्रयाग, द्वारा संवत् 1992 में प्रकाशित रामचरितमानस से दिए गए हैं।)

सत्यनारायण व्रतकथा

हंसराज भटनागर

प्रलोभन और भय दे कर जनता को लूटने का षडयंत्र

उत्तर भारत के प्रायः हर घर में सत्यनारायण स्वामी की व्रतकथा का आयोजन किया जाता है। दक्षिण भारत में भी इस का प्रचार है। साल में एक या दो बार यह व्रतकथा प्रत्येक हिंदू के घर अवश्य होती है। वैसे कथावाचकों के अनुसार अधिक से अधिक पुण्य प्राप्त करने के लिए कथा हर महीने होनी चाहिए।

जहां कथा होती है उस स्थान को गोबर से लीप दिया जाता है। थालों में पूजा की सामग्री सजाई जाती है। एक और पूजा कराने वाले कथावाचक का आसन होता है और दूसरी ओर यजमान, का सब के बीच मंच या पीठ की स्थापना की जाती है जिस पर सत्यनारायण भगवान को बैठाया जाता है।

सत्यनारायण भगवान एक काले रंग का छोटा गोल पत्थर होता है। मंच पर बैठाने के पहले उन्हें बही, दूध, केला, घी, शक्कर आदि से बने गाढ़े द्रव पदार्थ में नहलाया जाता है, जिसे चरणामृत कहते हैं। मंच के ठीक सामने पांच कलशों की स्थापना की जाती है। इन में गंगाजल डाला जाता है और पूजा के सिलसिले में पैसे, कलशों पर एकएक जलता दीपक रखा जाता है। इन पांचों दीपकों में तेल की जगह घी इस्तेमाल किया जाता है और वह भी शुद्ध घी, वनस्पति तेल नहीं। गोबर के गणेशजी बनाए जाते हैं और जिन चीजों से उन की पूजा की जाती है उन

में हरी घास भी है।

सत्यनारायण व्रतकथा के पहले अध्याय में महर्षि व्यास के तेजस्वी शिष्य सूतजी से मुनियों ने कलियुग में रहने वाले मनुष्यों के कल्याण के लिए किसी ऐसे व्रत के बारे में पूछा था जिसे लोग थोड़े से पैसों में कर के अधिक से अधिक पुण्य प्राप्त कर सकें। सूतजी ने उस व्रतकथा का रहस्य बताया जिसे ब्रह्मा के पुत्र महर्षि नारद ने स्वयं लक्ष्मीपति भगवान से पूछा था।

दूसरे अध्याय में नारदजी को भगवान विष्णु शतानंद नाम के एक गरीब ब्राह्मण की कथा सुनाते हैं जिस में वह सत्यनारायण व्रतकथा सुनने के बाद अपने सारे रोग, शोक और गरीबी से एक दिन ही में छुटकारा पा जाता है।

सुख प्राप्ति का सरल उपाय

सूतजी बताते हैं कि पृथ्वी पर किस-किस ने व्रतकथा को सुना और उस का क्या फल हुआ। इस कथा में पहले गरीब लकड़हारे, साधुराम बनिए और राजा तुंगध्वज की कहानियां बताई गई हैं। गरीब लकड़हारे की कहानी तीसरे अध्याय में है और राजा तुंगध्वज की आखिरी यात्री सातवें अध्याय में। बीच के तीन अध्यायों में केवल साधुराम बनिए की कथा है।

राजा तुंगध्वज की कथा के बाद आठ श्लोकों में इस व्रत के माहात्म्य की विस्तृत

चर्चा की गई है। कुछ संकितान्तों में तब यह सत्यनारायण और साधुराम मिल जाते थे, बिछुड़े मिल जाते थे और मरने पर विष्णु-लोक में जगह भी मिलती थी?

यं इदं कुरुते सत्यव्रतं परमदुर्लभम्
श्रूणोति च कथां पुण्यां भक्तियुक्तः फल-
प्रदाम् धनधान्यादिकं तस्य भवेत्सत्यप्रसादतः
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्यते बन्धनात्
भीतो भयात्प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः
ईप्सितञ्च फलं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं
व्रजेत् इति वः कथितं विप्राः सत्यनारायण-
व्रतम् तत्कृत्वा सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति
मानवः विशतः कलियुगे सत्यपूजा फल-
प्रदा।

अर्थात् जो कोई इस परम दुर्लभ सत्यनारायण व्रत को करता है और भक्ति के सभी फलों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को देने वाली उन की पावन कथा को सुनता है उसे सत्यदेव भगवान की कृपा से धन्यधान्य आदि मिल जाते हैं। गरीब धन का स्वामी बन जाता है। बंधन में पड़ा व्यक्ति उस से मुक्त हो जाता है। (यहां बंधन की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है अतः मतलब यह हुआ कि वह बंधन जीवन-भरण का हो अथवा चोरीडकैती के अपराध में सरकार द्वारा डाला गया हो या किसी अन्य प्रकार का हो। कथावाचक भी यही व्याख्या करता है) किसी भय के कारण दिनरात भयभीत रहने वाला व्यक्ति भय से मुक्ति पा जाता है। इस में जरा भी संदेह नहीं होना चाहिए। मनुष्य इन के करने सुनने से इस लोक में मनचाहा सुख पा कर मरने पर विष्णुलोक में जगह पाता है।

सत्यनारायण पूजा में दो चीजें शामिल हैं—सत्यनारायण व्रत और सत्यनारायण की कथा। इन में व्रत सामग्री का विश्लेषण बाद में किया जाएगा। जहां तक सत्यनारायण कथा का प्रश्न है इसे सभी सुनते हैं—गरीब ब्राह्मण, दरिद्र लकड़हारा, साधुराम बनिया (बनिया शब्द का प्रयोग हर जगह व्यापारी के अर्थ में किया गया है।) ग्वाले और महाराजा तुंगध्वज पर भी वह कथा कौन सी थी जिसे सुनते ही

आप जो सुनते हैं वह सत्यनारायण की वह जादूभरी कथा कहां! वह तो सत्यनारायण कथा सुनने वालों की कथा और इतिहास है, यानी अमुक ने सुना तो वंसा हुआ। मैं ने यह प्रश्न कुछेक कथा-वाचकों से पूछा तो वे एकदम मौन हो गए। कुछ ने उत्तर देने के बजाए पूछा, “आप आरियासमाजी हैं?”

प्रलोभन

अगर आप ध्यान दें तो मालूम होगा कि इस कथा को बनाने वाला जहूर कोई दूरदर्शी व्यक्ति होगा। कारण बड़ी सफाई से हिंदू समाज के सभी वर्गों को इस में समेट लिया गया है। ब्राह्मण वर्ग तो कथा-वाचक एवं दक्षिणा ले कर पुण्य बरसाने वाला ही ठहरा। राजा तुंगध्वज और चंद्रकेतु शासक बनने वाले क्षत्रिय वर्ग के प्रतिनिधि हैं। साधुराम बनिया वैश्य वर्ग का प्रतिनिधि है और दिन भर लकड़ी काट कर भी भूखप्यास से छटपटाने वाला लकड़हारा शूद्र वर्ग का। वर्तमान समय में वर्ण व्यवस्था का स्थान वर्ग व्यवस्था ने ले लिया है।

इस दृष्टि से देखिए तो लकड़हारा श्रमिक एवं शोषित वर्ग का प्रतिनिधि है, साधुराम बनिया मध्यम वर्ग का प्रतिनिधि है, शेष दोनों राजा उच्च वर्ग के। एक भी वर्ग इस कथा के फंदे से नहीं छूटा।

श्रमिक एवं शोषित वर्ग में शिक्षा के अभाव के कारण बुद्धि तत्त्व का अधिक विकास नहीं हो पाता। अंधविश्वास और चमत्कारपूर्ण देवतावाद के प्रभाव में यह वर्ग आ जाता है। अपढ़ होने के कारण इस में विरोध और तर्कवितर्क करने की संभावना ही नहीं रहती। दुखों का मारा लकड़हारा ब्राह्मणों को सत्यनारायण व्रत करते हुए देखता है और बिना सोचेसमझे

स्वयं भी यही करने का निश्चय करता है.

उस दिन उसे दुगुना धन मिला है और उन पैसे से पूजा की सामग्री ला कर वह व्रतकथा करता-सुनता है, परिणाम-स्वरूप उसे खूब सुख भोगने को मिलता है और बाद में मोक्ष भी.

शोषित वर्ग के लिए इस से बड़ा प्रलोभन और क्या होगा? इस के विपरीत उच्च वर्ग (जिसे बहुधा लोग पूंजीवादो वर्ग या शोषक वर्ग भी कहते हैं) में बुद्धि का विकास बहुत ज्यादा होता है. खूब धन के स्वामी होने के साथसाथ वे अपने अधिकारों से भी परिचित होते हैं. उन्हें सहज में ही फंसा लेना आसान नहीं. धन और अधिकार—दोनों होने के कारण वे बाबाजी की किसी भी समय उपेक्षा कर सकते हैं.

धन और अधिकार के मद में आ कर राजा तुंगध्वज ने सत्यनारायण भगवान की पूजा न की, न प्रसाद ही खाया, फल-स्वरूप उस का साम्राज्य नष्ट हो गया, सभी पुत्र एकएक कर के मर गए, राज-महल में आग लग गई पर बाद में जब उस ने पूजा की और प्रसाद खाया तो सारा साम्राज्य मिल गया, सभी पुत्र एकएक कर के जी उठे और राजमहल भी आकाश चूमता नजर आने लगा.

स्पष्ट है कि शोषित वर्ग को अपने फंदे में लाने के लिए कथावाचकों के पूर्वजों ने जहां आस्था को अपना अस्त्र बनाया है वहां उच्च वर्ग के लिए भय को. उच्च वर्ग के लिए इस से बड़ा भय क्या होगा कि अगर वह यह व्रत नहीं रखेगा तो सब कुछ मिट जाएगा.

मध्यम वर्ग अपने अभावों से दिनरात संघर्ष करने के कारण जहां घोर अस्तिक हो जाता है वहां अपने को ऊपर उठाने या धन जमा करने की फिक्र के कारण कुछ कंजूस भी. कथावाचकों के पूर्वज भी कम उस्ताद नहीं थे. इस वर्ग से दक्षिणा पाने की उन्हें पूरी आशा थी. कारण, व्यापार में लगे रहने के कारण इस की गांठ हमेशा

मारी रहती है.

जहाँ भी पैसे के लिए धनो ही तरीके अपनाए यानी साधुराम ने जबजब धन को बचाने की चालाकी सोची—उसे दामाद के साथ कंदखाने की हवा खानी पड़ी, हीरेजवाहरातों से भरी नाव में लतापत्र भर गए और सब के देखते ही देखते दामाद ने जल में समाधि ले ली, और जब पूजा की तो उसे पुत्री मिली, कंद से छुटकारा मिला, दुगुना धन मिला. नाव में फिर हीरेजवाहरात भर गए और जल में डूबी नाव दामाद सहित ऊपर तैरने लगी.

सभी वर्गों का समावेश

समाज का कोई भी वर्ग इस कथा के फंदे से नहीं बचा. कथावाचकों के पूर्वजों ने यदि भावी संतान की सुखसुविधा के लिए ऐसा किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं. यदि किसी वर्ग विशेष तक ही इस व्रत को सीमित कर दिया जाता तो कथावाचकों की सदाबहार रोजी ही मारी जाती?

इसी क्रम में एक और बात आप को नजर आएगी. वह यह कि निम्न वर्ग के प्रतिनिधि लकड़हारे की और उच्च वर्ग के प्रतिनिधि राजा तुंगध्वज की कथा जहां एकएक अध्याय में है वहां मध्य वर्ग के प्रतिनिधि साधुराम (जो व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि है) की कथा तीन अध्यायों में फैली है इस का क्या रहस्य है.

पूजापाठ के फंदों और तरहतरह के ग्रंथविश्वासों में सब से ज्यादा वही वर्ग फंसा है यह वह वर्ग है जो यदि जरा सा बढ़ जाए तो उच्च वर्ग में गिन लिया जाए और जरा सा नीचे खिसक जाए तो निम्न वर्ग में. अपनी स्थिति के संतुलन के लिए यह वर्ग हमेशा चिंचित रहता है, इसी कारण सभी देवीदेवताओं की पूजा करता रहता है. व्यापारी वर्ग की टेंट में हमेशा पैसे रहते भी हैं. कथावाचक वर्ग भी इन्हें खूब मूँड़ता है. इस का संकेत

सत्यनारायण व्रतकथा से भी मिलता है। गरीब लकड़हारे और धनी भूतबूत की घटनाएं एकदम यानी एक बार वाली है जब कि साधुराम 'मासि मासि च संक्रांतौ' यानी हर महीने एवं हर संक्रांति के अवसर पर सत्यनारायण व्रत करता है।

सत्यनारायण की यह कथा स्कंद पुराण के रेवा खंड में आती है। कथावाचक प्रत्येक अध्याय के अंत में शंखनाद के पहले कहता है, 'इति श्री स्कंदपुराणे रेवाखंडे सत्यनारायणव्रतकथायां प्रथमः, द्वितीयः अध्यायः समाप्तः।' स्कंद पुराण सभी पुराणों में सब से बड़ा है और महापुराण माना जाता है। इन पुराणों की रचना प्रायः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक होती रही। कुछ पुराणों की रचना दसवीं शताब्दी के बाद तक होती रही। इन पुराणों का रचयिता कौन है, पता नहीं। वैसे सभी पुराणों पर महाभारतकार व्यास के नाम की मुहर लगा कर उन्हें धार्मिक महत्त्व व संरक्षण दे दिया गया है।

कथा का सशक्त जाल

नवीन अनुसंधानों से प्रमाणित हो रहा है कि व्यास इन पुराणों के रचयिता नहीं थे। प्रसिद्ध पुराण श्रीमद्भागवत के रचयिता पंडित बोपदेव थे। इस कथा के गढ़ने के बाद इस पर प्रामाणिकता और प्राचीनता की मुहर लगाने के लिए इस का समावेश स्कंद पुराण में कर दिया गया। कोई इस पर भी संदेह कर सकता था अतः सत्यनारायण की कथा को नारायण के ही मुखसे कहलाया गया और जब भगवान ने स्वयं अपनी पूजा का आदेश दिया है तो कौन विरोध कर सकता है!

विष्णु सत्यनारायण व्रत का रहस्य ब्रह्मपुत्र नारद को बताते हैं। नारद सूतजी महाराज को और सूतजी शौनक आदि ब्राह्मणों को। यह ब्राह्मण वर्ग का महत्त्व सिद्ध करने का प्रयास मात्र है। व्रत कराने

वाले ब्राह्मण हैं। सत्यनारायण पूजा, गणेश पूजा आदि की विधिओं और अवसर दान से संतुष्ट किए जाने वाले भी ब्राह्मण ही हैं।

एक संभ्रांत व्यक्ति भी जिन प्रलोभनों से श्रासानी से मुक्ति नहीं पा सकता, उन सभी को एक स्थान पर इस कथा में जुटा कर रख दिया गया है। साधारणतया एक आदमी क्या चाहेगा? धन, संतान, रोग और शोक का दूर होना, सभी जगह जीत, मरने के बाद स्वर्ग का खूब सुख और यह सब इस कथा के प्रारंभ में ही विष्णु के मुख से कहलाया गया है। दूसरे अध्याय का यह श्लोक देखें :

दुःखशोकादिशमनं धनधान्यविवर्द्धनम्,
सौभाग्यसन्ततिकरं सर्वत्र विजयप्रदम्

अर्थात् इस व्रत से सारे दुःख, सभी शोक शांत हो जाते हैं, धनधान्य बढ़ने लगता है, सौभाग्य मिलता है, संतान मिलती है एवं सभी जगह जीत होती है।

समाज का हर व्यक्ति ये सभी चीजें चाहता है। सच तो यह है कि इन महत्त्वाकांक्षाओं से निम्न वर्ग, उस से भी ज्यादा मध्यम वर्ग और सब से अधिक उच्च वर्ग यानी संपूर्ण समाज पीड़ित है। कथा और कथावाचकों के अनुसार सत्यनारायण व्रत है—इन सब की सिद्धि पाना।

इस कथा का जाल कितना बड़ा और मजबूत होगा, आप इसी से समझ सकते हैं कि जब व्यापार में लाभ हो, नौकरी में वेतन बढ़े, परीक्षा देनी हो, परीक्षा में पास हों, मुकदमा लड़ने जा रहे हों, मुकदमा जीते हों, बहू के लड़का न हो रहा हो, बहू के लड़का हुआ हो, कहीं यात्रा की बात सोच रहे हों, कहीं से यात्रा कर के लौटे हों, यानी सुख के सभी अवसरों पर यह कथा होती है।

इन अवसरों का संबंध हमारे प्रत्यक्ष जीवन से है। वैसे हम हिंदू मरने के बाद भी सुख की गारंटी चाहते हैं। इस के लिए भी सिर धुनने की कोई जरूरत नहीं। इस व्रत के करने पर मरने के बाद विष्णु लोक में हमारी सीट रिजर्व हो जाती है।

ईश्वर के चमत्कारवाद के नाम पर हिंदू जनता बहुत आसानी से ठग ली जाती है और इस कथा में चमत्कारवादी पुट हव से ज्यादा डाल दिया गया है। कुछ उदाहरण लीजिए : साधुराम वंश्य ने जब सत्यनारायण व्रत नहीं किया तो अकारण ही चोर प्रमाणित हो गया और कैदखाने में डाल दिया गया।

घर पर लीलावती, कलावती ने सत्यनारायण व्रत किया तो राजा चंद्रकेतु को साम्राज्यनाश का स्वप्न दिखाई पड़ा।

ढंडी के सामने झूठ बोलते ही साधुराम की नाव में भरा सारा धन लतापत्र हो गया और क्षमा मांगते ही नाव का लतापत्र धनदौलत में बदल गया।

कलावती बिना प्रसाद खाए देखने चली आई तो सब के देखते ही देखते उस के पति के साथ ही नाव जल में डूब गई, पर साधुराम (ससुर) की नाव तैरती ही रही। प्रसाद खाते ही नाव फिर ऊपर चली आई और उन लोगों को आकाशवाणी सुनाई पड़ी (कल्पका तादृशं वाक्यं श्रुत्वा गगनमण्डलात्: अध्याय 6, श्लोक 39)। ग्वालों द्वारा दिए गए प्रसाद को न खाने के कारण राजमहल लोटने पर राजा तुंगध्वज का सब कुछ बरबाद हो गया और वहीं जा कर प्रसाद खाने पर साम्राज्य भी मिल गया और मरे पुत्र भी जी उठे। भगवान के अनोखे चमत्कार ने भारतीयों को कितना धोखा दिया है, इतिहास का हर एक पाठक इसे जानता है।

नैतिक स्तर गिराने का षडयंत्र

भगवान के नाम की दुहाई दे कर कही गई इन चमत्कारवादी घटनाओं का अशिक्षित और पुराने तथा परंपरागत संस्कारों के कारण अर्द्धशिक्षित जनता के मन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है और वह गलत अर्थों में भगवान और धर्म की पिढू हो जाती है।

इन कथावाचकों ने भारतीय जनता की रगों में आलस्य एवं भाग्यवाद का जहर फैलाने का धूर्तित कार्य किया है। पहले अध्याय में आए इस श्लोक पर जरा ध्यान दीजिए। सूतजी महाराज से मुनियों का दल कहता है :
स्वल्पश्रमेरल्पवित्त रत्पकालेश्च सत्तम
तथा भवेन्महत्पुण्यं तथा कथय सूत नः।

अर्थात् थोड़ी मेहनत, थोड़े खर्च और थोड़े समय में जिस उपाय से अधिक पुण्य हमें हो जाए, हे सूतजी! हमें वही उपाय बताएं।

अब जरा सोचिए कि पुण्य प्राप्त करना वास्तव में कितना कठिन काम है। कथावाचकों के पूर्वज इस से अपरिचित नहीं थे कि पुण्य सहज नहीं मिलता। उन्होंने स्वयं कहा भी है : 'प्रयाससाध्यं सुकृतं शास्त्रेषु प्रथितं द्विज।' (प्रथम अध्यायः, श्लोक 10) हे द्विजवर! शास्त्रों में कहा गया है कि पुण्य बहुत कष्ट के बाद ही मिलता है।

यह जानते हुए भी उन्होंने जनता की आंखों में धूल झाँकने की कोशिश की और थोड़े श्रम, थोड़े खर्च एवं थोड़े समय (मुश्किल से एक घंटा) में ही संपन्न होने वाले सत्यनारायण व्रत के द्वारा न केवल सभी पापों को धो कर पुण्य से घर भर देने का आश्वासन दिया बल्कि धन, सुख, सौभाग्य, पुत्र आदि सब कुछ पाने की गारंटी भी दे दी। भला जीवन में कठोर परिश्रम कर अपने स्तर को उठाने की बात कोई क्यों नहीं सोचे जब कि सत्यनारायण व्रत से ही सारी समस्याएं हल हो जाएंगी। नैमिषारण्य में जुटे मुनियों ने वास्तव में पूछा यह था :

स्वल्पश्रमेरल्पवित्तैरल्पकालेश्च सत्तम
यथा भवेन्महत्पुण्यं तथा कथय सूत नः।

सज्जनों में श्रेष्ठ सूतजी महाराज! थोड़ी मेहनत, थोड़ा खर्च और थोड़े समय में ही जिस उपाय से अधिक से अधिक आमदनी (वण्यम) हमें हो जाए, वही बताइए।

सूतजी ने इस व्रतकथा के रूप में सच-सूच ही वह उपाय बता दिया जिस से कम से कम श्रम से ज्यादा फायदा हो सकता था।

जहाँ तक यजमान पक्ष के लाभ का प्रश्न है, ग्राम तौर पर इस कथा के आयोजन में दस रुपए तक खर्च होते हैं पर इतने ही खर्च में उन्हें सब तरह के आशवासन मिल जाते हैं। सारे पाप धुलने लगते हैं, दुख और शोक नष्ट हो जाते हैं। पुण्य से घर भर जाता है, धनधान्य की वर्षा होने लगती है और सौभाग्य तथा बेटेबेटी फलने लग जाते हैं पर सिर्फ काल्पनिक रूप में, व्यावहारिक जीवन में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता।

जनता के नैतिक स्तर को गिराने में भी इस कथा और इस के वाचकों का गहरा हाथ है। सामान्य जनता की इस कथा में गहरी आस्था है और उस का विश्वास है कि श्रद्धा के साथ सुनने पर और कुछ नहीं तो सारे पाप अवश्य धुल जाते हैं।

कथावाचक मौका आने पर साफ शब्दों में कहता है, "...और बनिए ने पूछा, 'हे भगवान! हम लोगों का तो रोजगार ही ऐसा है, जिस में बिना झूठ बोले और मिलावट किए काम ही नहीं चल सकता फिर हमारे पाप कैसे धुलेंगे? इस पर भगवान कहते हैं कि हे बनिया राम! तुम्हारा कहना सही है पर घबराने की कोई बात नहीं। सत्यनारायण स्वामी का व्रत जबतब कर लिया करो और ब्राह्मणों को जो भर कर दानदक्षिणा दो। तुम्हारे सभी पाप अवश्य धुल जाएंगे।" इस तरह की बातों से अनैतिकता को खुला प्रोत्साहन मिलता है।

कथा शुरू होने से पहले जो तैयारी की जाती है वह भी कम मजेदार नहीं है। पहले पूजा सामग्री को ही लीजिए। सत्यनारायण व्रत के लिए जिन सामग्रियों की सूची विष्णु ने प्रस्तुत की और कथावाचक ने संशोधित की वह है : केले के खंभे, ग्राम के पत्तों के बंदनवार, पंच पहलव,

सोने की मूर्ति, कलश (पांच से सात), जनेऊ, पांच रत्न, वस्त्र, चावल, कुंकुम, अबीर, गुलाल, दूध, घी, देही, शहद, शक्कर, धूप या हवन, दीप, फूलमालाएं, तुलसी के पत्ते और इत्र, नारियल, पान, सुपारी, मौसम के अनुसार आठदस प्रकार के फल, बताशे आदि। सोने और पांच रत्न का प्रचलन अब नहीं रहा है। सोना आज कल सवा दो सौ रुपए प्रति तोला मिलता है और पांच रत्नों की तो बात ही जाने दीजिए। वैसे वाचक या सत्यनारायण स्वामी को आजकल इन के न रहने पर कोई आपत्ति नहीं होती।

कथा शुरू होने से पहले जो मंत्र पढ़े जाते हैं उन की सूची :

1. चंदनविलेपनमंत्र. 2. तीर्थावाहनमंत्र. 3. पवित्रीकरणमंत्र 4. दिशाशुद्धिमंत्र. 5. आसनशुद्धिमंत्र. 6. स्वस्तिवाचनमंत्र. 7. संकल्पमंत्र. 8. कलशस्थापनामंत्रमाला.

कथा के अंत में "देवर्षितितृतर्पणमंत्रों" की परंपरा शुरू होती है, जिस से छोटे-बड़े—सभी देवीदेवताओं और भूतोंप्रेतों को अर्घ्यांजलि दी जाती है। मंत्रों का यह जाल इतना विस्तृत है कि यजमान इस में फंस ही जाता है।

यहाँ व्रतकथा के सभी मंत्रों की समीक्षा तो नहीं हो सकेगी पर कुछ चुने मंत्रों का रहस्य खुलना ही चाहिए। नीचे उन्हें अर्थ-सहित उद्धृत किया जा रहा है। साथ में टिप्पणियाँ भी हैं। हर मंत्र के प्रारंभ में ओउम् का उच्चारण कर परमात्मा को स्मरण किया जाता है।

कथा वास्तविकता से परे

चंदनविलेपनमंत्र :

चंदनं वन्द्यते नित्यं पवित्रं पापनाशनम्
आपदं हर्ते नित्यं लक्ष्मीर्वसतु सर्वदा।

मैं चंदन देवता की वंदना करता हूँ जो नित्य पवित्र और पापों को दूर करने वाला है। वह नित्य विपत्तियों का नाश करता है। पाप आदि के न रहने पर लक्ष्मी

देवी हरेण हृषीकेशने मुखात्तुष्टाः कडेवर्णयोः विष्णोः पुत्र दो, धन दो (एक वाक्य में—जो कुछ चाहता हूँ, सब दो).

चंदन लगाते ही सारे पाप दूर होने की गारंटी मिल जाती है और विपत्तियाँ भी खिसकने लग जाती हैं. चंदन व्यापारियों, चंदन के तेल के कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के सौभाग्य का कहना ही क्या!

तीर्थवाहनमंत्र :

गंडेच यमुने चैव गोदावरि सरस्वति नमंदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु.

हे गंगे! हे यमुने! हे गोदावरी! हे सरस्वती! हे नमंदे! हे सिंधु! हे कावेरी! आप सभी इस कलसे के जल में आ कर बस जाएं (कथावाचक यजमान को पूरा विश्वास दिला देता है कि मंत्र के खत्म होते ही ऊपर गिनाई सारी नदियाँ आधा सेर जल समाने की सामर्थ्य वाले उस छोटे कलसे में आ कर लहराने लगी हैं और घर भर को पवित्र कर रही हैं).

पवित्रीकरणमंत्र :

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्था-
ङ्गतोऽपि वा.

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स ब्राह्माभ्यन्तर
शुचिः.

वह पवित्र हो या अपवित्र या फिर किसी भी दयनीय हालत में क्यों न हो, यदि विष्णु का नाम ले लेता है तो बाहर-भीतर—दोनों से एकदम पवित्र हो जाता है. (इस मंत्र को पढ़ कर कथावाचक यजमान पर कुश की नोक या आम के पत्ते से जल छिड़कता है. बूंदों का पड़ना क्या है, सारे पापों का जनाजा निकल जाता है. पहली पंक्ति से स्पष्ट है कि समाज के हर वर्ग को इस में बड़ी सफाई से समेट लिया गया है).

प्रार्थना मंत्र :

रूपं देहि जयं देहि सौभाग्यं परमां
श्रियम् पुत्रं विद्यां धनं देहि सर्वान्
कामांश्च देहि मे.

हे सत्यनारायण प्रभो! मुझे रूप दो, सर्वत्र विजय दिलाओ, सौभाग्य दो, अनूठा

संक्षेप में इस कथा ने भारतवासियों को निष्क्रिय, भाग्यवादी, देवतावादी, भूत-प्रेतवादी और अस्त्यवादी बनाने में कितना अधिक योगदान दिया होगा, यह सहज ही जाना जा सकता है.

सत्यनारायण कथा पर एकदो या और दृष्टिकोणों से भी विचार किया जा सकता है. कथावाचकों ने इस व्रत को करनेमुनने से जो लाभ बताए हैं वे मुख्य रूप से ये हैं—धन, संतान, सौभाग्य, सर्वत्र विजय, यश, स्वास्थ्य और मोक्ष की प्राप्ति.

धन व्यापार आदि में सफल होने पर प्राप्त होता है और यह व्रत व्यापार नहीं है. इस व्रत और संतान प्राप्ति के बीच भी कोई (ताकिक) संबंध नहीं. सौभाग्य एक पारिभाषिक शब्द है. जीवन के किसी भी क्षेत्र में जब किसी व्यक्ति की स्थिति अच्छी होती है तो वह सौभाग्यशाली माना जाता है पर यह कठिन परिश्रम से ही संभव है, कपोलकल्पित कथाओं से मन बहलाने से नहीं. सर्वत्र विजय का एक स्पष्ट संकेत है, मुकदमे वगैरह में जीत की गारंटी, यह भी असंगत है, यदि दो व्यक्ति मुकदमा लड़ रहे हों और दोनों सत्यनारायण व्रत कथा सुन रहे हों तो किस की जीत होगी?

कथावाचक वर्ग के प्रतिनिधि कहेंगे कि जो असल में पापी होगा वही हारेगा पर मैं निवेदन करूंगा कि पापी वह रहा ही कहाँ! सत्यनारायण व्रत करते ही उस के जन्मजन्मांतर तक का पाप धुल गया.

यश जनकल्याण से मिलता है, घर बैठे शंखनाद सुनने से नहीं.

भारतीय जनता मोक्ष को परलोक से जोड़ती है, वास्तव में मोक्ष में कुछ ऐसा रहस्य नहीं. मोक्ष को यदि एक वाक्य में रखना चाहूँ तो यों होगा—व्यक्ति जब मानवता का कल्याण करते हुए जाति, वर्ग, राष्ट्र की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठ जाता है तो वह मोक्ष पा जाता है.

सरिता का रचनात्मक आंदोलन

आप पढ़ेलिखे हैं, सोचविचार कर सकते हैं, कामधंधे में लगे हैं, अपने परिवार की जिम्मेदारी उठाए हैं, पर...

आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

क्या देश का जिम्मा केवल भ्रष्ट राजनीतिवाजों का है?

आप पूछ सकते हैं—मैं क्या करूँ?

आप अपना और अपने बच्चों का वर्तमान और भविष्य भ्रष्ट राजनीति-वाजों के हाथों सौंपने के बजाए इतना तो कर ही सकते हैं :

● जो भी काम आप के जिम्मे हो, उसे पूरा करें. अगर आप अपना काम पूरी लगन से करते हैं तो स्वयं अपनी क्षमता बढ़ा रहे हैं, अपनी उन्नति कर रहे हैं, चाहे उस का पूरा पैसा मिले या नहीं. आज हर क्षेत्र में कर्मनिष्ठ व्यक्ति की बहुत माँग है. अगर वर्तमान संस्था में आप को अपनी मेहनत का पूरा मुआवजा नहीं मिलता तो दूसरी संस्था देगी.

● न अन्याय सहें, न अन्याय करें. आप समाज की महत्वपूर्ण इकाई हैं. समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है कि उस की हर इकाई अन्याय के विरुद्ध हो.

● अपनी गली, महल्ले, नगर के प्रबंध में दिलचस्पी लें. उसे दूसरों के भरोसे न छोड़ दें. कुप्रबंध और कुव्यवस्था के विरुद्ध संबंधित अधिकारियों को पत्र लिखते रहें. हो सकता है, आप के बोचर पत्रों का कोई असर न हो, पर वे आप की पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकते. स्थानीय दैनिक पत्रों के संपादकों को भी पत्र लिखें. (वे स्थानीय समस्याओं से संबंधित पत्रों की प्रतीक्षा में रहते हैं) अपने क्षेत्र के निगम सदस्य, विधायक या संसदसदस्य को भी पत्र लिखें और उन से महल्ले के व्यक्तियों के साथ मिलते रहें. कल इन्हें आप के पास ही वोट लेने आना है. इस बात का फायदा उठाएं और जब तक दुर्व्यवस्था ठीक न हो जाए चैन से न बैठें.

● अपना फालतू समय किसी स्थानीय समाजसेवी संस्था में लगाएं—पुस्तकालय, स्कूल, चिकित्सालय सभी जगह निःस्वार्थी व्यक्तियों की आवश्यकता है. असंतुष्ट हो कर बैठे रहने से न आप बदल सकेंगे, न समाज, न देश.

● रोजीरोटी का प्रबंध तो भिखारी, आवारा पशु और गली के कुत्ते भी कर लेते हैं, पर आप पढ़ेलिखे हैं, सोचविचार कर सकते हैं, कामधंधे में लगे हैं, अपने परिवार की जिम्मेदारी उठाए हैं, इसी लिए यह आवश्यक है कि आप अपने आप से पूछें कि—

आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

क्या नास्तिक मूर्ख हैं?

गंगासहाय 'प्रेमी'

नास्तिक जनता को कर्मकांड की कैद से बाहर निकालना चाहते हैं.

महाभारत का यक्षयुधिष्ठिर संवाद प्रसिद्ध है. महाभारतकार ने यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर द्वारा अनेक विषयों पर अपना मत व्यक्त किया है. यक्ष ने युधिष्ठिर से बहुत से प्रश्न किए हैं, उन में दो इस प्रकार हैं :

नास्तिक : कश्च उच्यते? को मूर्ख?
(नास्तिक कौन कहलाता है? मूर्ख कौन होता है?)

युधिष्ठिर ने एक ही डेले से दो शिकार करते हुए दोनों प्रश्न एक ही उत्तर में निबटा दिए हैं :

नास्तिको मूर्ख उच्यते.
(नास्तिक मूर्ख कहलाता है)

नास्तिक मूर्ख नहीं हैं

नास्तिक को भलाबुरा कहने का यह पहला उदाहरण नहीं है. भारत में प्राप्त तथाकथित धार्मिक साहित्य में नास्तिक की जो खोल कर निंदा की गई है. इस से हमें कोई शिकायत नहीं, अपने विपक्षी को सब बुराभला कहते हैं, कुछ केवल इस बात का है कि वेदव्यास जैसे विद्वान ने युधिष्ठिर जैसे उत्तम पात्र से ऐसा सफेद झूठ बुलवाया. नास्तिक में और चाहे जितनी बुराइयां हों, वह मूर्ख कदापि नहीं हो सकता. हमारा अपना विश्वास तो यह है कि संसार के अधिकांश बुद्धिमान व्यक्ति ही नास्तिक होते हैं.

साधारणतया नास्तिक का अर्थ ईश्वर को न मानने वाला समझा जाता है पर भारतीय दर्शन में नास्तिक शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में हुआ है. भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक दो भागों में विभक्त है. मीमांसा और सांख्य दर्शन ईश्वर को नहीं मानते पर वे आस्तिक दर्शनों में गिने जाते हैं इसलिए आस्तिक होने के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक नहीं. आस्तिक और नास्तिक दोनों शब्द पाणिनि के सूत्र अस्ति नास्ति द्विष्टमतिः के आधार पर बने हैं. इस सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिका ग्रंथकार, आचार्य जयदित्य और वामन ने आस्तिक और नास्तिक की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है : अस्ति परलोकं इति मतिर्यस्य असौ नास्तिकः (परलोक है, ऐसी जिस की मति है वह आस्तिक होता है, जिसे परलोक का विश्वास नहीं है वह नास्तिक है.)

दर्शन की दृष्टि से यह अर्थ ठीक नहीं उतरता, क्योंकि जैन और बौद्ध दर्शन परलोक का विश्वास रखते हुए भी नास्तिक दर्शन कहलाते हैं, यदि नास्तिक शब्द के दोनों अर्थ लिए जाएं तो केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन ठहरता है जो न ईश्वर को मानता है, न परलोक पर ही विश्वास करता है.

वास्तव में भारतीय दर्शन का आधार वेद हैं. दार्शनिक परिभाषा के अनुसार वेद को मानने वाला आस्तिक और न मानने

वाला नास्तिक होता है। मनुस्मृति में वेद की निंदा करने वाला ही नास्तिक बताया गया है :

नास्तिको वेदान्तदकः

विरोधाभास

वेद पर विश्वास न रखने के कारण ही चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक कहलाते हैं। विचित्र बात तो यह है कि वेद पर विश्वास रखने वाले पौराणिक भी भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मानते हैं पर उन के सिद्धांतों पर आधारित बौद्ध दर्शन का नास्तिक दर्शन कह कर तिरस्कार करते हैं मानो वेद पर उन का इतना विश्वास है कि इस के विरुद्ध वे उस ईश्वर की भी बात मानने को तैयार नहीं हैं जिस ने वेदों को बनाया है। वैसे सभी लोग बाद की बात को सिद्धांत मानते हैं पर ईश्वर के भक्त उस की पहली बात के आगे उस की ही बाद वाली बातें न जाने क्यों नहीं सुनते? कौंसो विचित्र आस्तिकता है यह! यह कैसा अनोखा ईश्वर विश्वास है! इसे या तो तथाकथित भक्त जानें या उन का काल्पनिक ईश्वर।

नास्तिक दर्शनों को अर्वाचिक दर्शन कहा जाता है। वैदिक कर्मकांड अत्यंत जटिल, विस्तृत और हिसापूर्ण हो गया तो उस से असंतुष्ट लोग दबी जबान से उस का विरोध करने लगे, उपनिषदों और आरण्यक ग्रंथों में इसी विरोध की झलक मिलती है। इन लोगों ने जनसाधारण का ध्यान वैदिक कर्मकांड से हटा कर आत्मचिंतन की ओर मोड़ना चाहा। बाद में वैदिक कर्मकांड का विरोध स्पष्ट शब्दों में होने लगा। जैन ग्रंथों में 364 जैनैतर मतों का उल्लेख मिलता है जिन्हें वेद पर विश्वास नहीं था।

ब्रह्मजाल मुक्त में बताया है कि बुद्ध के जन्म के समय 62 अर्वाचिक मतवाद प्रचलित थे। अब इन मतों का नाम भी नहीं मिलता। आजकल नास्तिक दर्शन के

नाम पर मुख्य तीन दर्शन उपलब्ध हैं—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन। चार्वाक आस्तिक दर्शनों का जन्म भी बाद में हुआ। इन का काम नास्तिक दर्शनों का खंडन ही रहा है।

नास्तिक दर्शनों में सब से प्राचीन चार्वाक दर्शन है, इस के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति थे। उन के बनाए बार्हस्पत्य सूत्रों के आधार पर ही इस मत के सिद्धांत निश्चित हुए हैं। यह बृहस्पति देवताओं के प्रसिद्ध गुरु सुराचार्य बृहस्पति ही थे। देव-गुरु बृहस्पति द्वारा लिखे गए अर्थशास्त्र से चार्वाक दर्शन के सिद्धांत आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य ने बृहस्पति के अर्थशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत करने के साथसाथ उन की बड़ी प्रशंसा की है। आज बार्हस्पत्य सूत्र और बृहस्पति अर्थशास्त्र—दोनों ही अनुपलब्ध हैं। संस्कृति साहित्य में स्थानस्थान पर उद्धृत वचनों तथा सूत्रों से ही इन की सत्ता का निश्चय किया गया है।

चार्वाक सिद्धांतों के नामकरण के विषय में अनेक मत पाए जाते हैं। कुछ मजक उड़ाने वाले इस की उत्पत्ति चर्व (भोजन करना) धातु से मानते हैं। उन के विचार में चार्वाक मत का उद्देश्य खानापीना था इसलिए यह नाम पड़ा। इसी से मिलता जुलता दूसरा विश्वास है जो चर्वण (चबाना) से इस की व्युत्पत्ति मानता है। कुछ छोग चारु वाक् (मीठी बातें या सुंदर बातें) से भी चार्वाक शब्द का जन्म मानते हैं पर वास्तविकता यह है कि बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के नाम पर ही इस मत का नाम पड़ा। उस की युक्तियां अक्राट्य और विचार सशक्त थे। इस से पहले इस मत का नाम लोकापतिक था जिस का अर्थ है जनता का संप्रदाय, वैदिक यज्ञ पुरोहितों और धनवान् यजमानों तक ही सीमित थे इसलिए बृहस्पति ने जनसाधारण के कल्याण के लिए यह आरंभ किया।

चार्वाक दर्शन संसार का आदि दर्शन ही नहीं है, इस का संस्थापक एवं प्रचारक

संसार का पहला बद्धिमान पुरुष भी है, जेबों की गाड़ी भावना के बल पर चली आ रही थी। वैदिक आर्यों ने जिसे भी अपना सहायक देखा उसी की स्तुति करने लगे। सिर झुकाने लगे। उन के लिए पेड़, लताएं, नदियां, सूर्य, वायु—सभी देवता थे, वे सब के लिए आहुति देते थे। प्रकृति की जिस सुंदरता ने वैदिक आर्यों को मोह लिया उसी पर उन्होंने दर्जनों सूत्र रच डाले। उत्तर वैदिक काल में धर्म से मन का सहयोग भी हट गया। जीवन का उद्देश्य शुष्क कर्मकांड का निर्वाह मात्र रह गया। सारी संपत्ति या तो अग्नि का प्राप्त होने लगी या दक्षिणा के रूप में ब्राह्मणों के पास एकत्र होने लगी। उपनिषद् काल में वेदों की उपेक्षा अवश्य की गई पर यज्ञ संबंधी कर्मकांड के स्थान पर परलोक सुधार का जो साधन आत्मचिंतन, सामने आया वह पहले से भी निकम्मा था। यज्ञ करने के लिए लोग संपत्ति कमाते तो थे, बाद में चाहे लूटा ही देते हों पर आत्मचिंतन करने वाले तो इस संसार को भूल कर एकदम पारलौकिक बन गए।

पुरुषार्थ

चार्वाक ने साधारण जनता को जीवन का सच्चा मार्ग दिखाने के लिए वेद, यज्ञ, परलोक, आत्मा, ईश्वर—सब का खंडन कर दिया। ऐसा उस ने भौतिक उन्नति की दृष्टि से किया। चार्वाक ने अर्थ और काम—दो ही पुरुषार्थ माने हैं। उस के मत से अंगनालिंगनादि से प्राप्त सुख ही जीवन का उद्देश्य है और धन उस का सहायक है। धन की महत्ता समझ कर ही चार्वाक मत के प्रवर्तक बृहस्पति ने अर्थशास्त्र का निर्माण कर के आय और व्यय को संतुलित करने की सलाह दी।

चार्वाक मत के सिद्धांत पश्चिमी दर्शन के भौतिकवादी सिद्धांतों से बहुत मिलते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक एपिक्युरअस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा

लूकेशियस के भौतिकवादी मत के सहारे उन्नति कर के पश्चिम देश विज्ञान के बल पर संसार के शाश्वत बन बंटे। इधर स्वार्थी धर्मध्वजों ने चार्वाक मत का विरोध किया, उसे बदनाम किया, उस का साहित्य नष्ट कर डाला। उसी का फल परतंत्रता, अंध-विश्वास, दरिद्रता आदि के रूप में सारे देश को अब तक भोगना पड़ा है।

प्रत्यक्ष ही प्रमाण

चार्वाक के सिद्धांत मानव जीवन को सुखमय बनाने वाले थे। उस के तर्कों के आगे अंधविश्वासियों के पैर उखड़ जाते थे। इस सिद्धांत का संक्षिप्त रूप यह है :

ईश्वर, आत्मा, जगत : चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को माना है। ईश्वर की सत्ता शब्द और अनुमान प्रमाण पर आधारित है इसलिए उस के मत में ईश्वर के लिए गुंजाइश ही नहीं है। शब्द और अनुमान प्रमाणों से एक तो वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता दूसरे इन में गुरुडम, ढोंग तथा अंधविश्वास की भावना रहती है। इसलिए चार्वाक ने राजा को ईश्वर माना है क्योंकि वह अपराधों का दंड दे कर समाज में व्यवस्था रखता है : निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः (दंड और कृपा करने वाला राजा ही ईश्वर है)। शरीर की रचना अग्नि, पृथ्वी, वायु और जल—चार पदार्थों से मिल कर हुई है, आकाश नाम का कोई पदार्थ नहीं है, वह तो चारों ओर की शून्यता का नाम है, चारों ओर के संयोग से शरीर में चेतना आ जाती है, आत्मा नाम का पृथक् तत्त्व नहीं है। शरीर ही आत्मा है। यदि आत्मा अमर है तो संबंधियों की ममता में फिर क्यों नहीं लौट आती?

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेषविनिर्गतः, कस्माद् भूमौ न चायाति बंधुस्नेह-समाकुलः,

(यदि आत्मा शरीर से निकल कर परलोक को चली जाती है तो बंधुओं के

प्रेम से व्याकुल हो कर क्यों नहीं आ जाती?)

धार्मिक कृत्य : स्वर्ग नाम का लोक ही निश्चित नहीं है तो उस के लिए शरीर को भांतिभांति के कष्ट देना कहां तक उचित है? यज्ञ में मारे जाने वाले पशु के लिए यह हेतु दिया जाता था कि हत्या नहीं है इस से पशु भी स्वर्ग चला जाता है. इस थोथे तर्क को चार्वाक ने इस प्रकार उड़ा दिया है :

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति,
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्नहन्त्यं ते.

(यदि ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग को जाएगा तो यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता?)

कितना सस्ता नुसखा है. एक ही यज्ञ में पितापुत्र—दोनों को स्वर्ग मिल सकता है. श्राद्ध के विषय में भी चार्वाक का मत एकदम मौलिक है :

मृतानामपि जंतूनां श्राद्धं चेत् तृप्ति-
कारणं,

निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छि-
खाम.

गच्छतामिह जंतूनां व्यर्थं पाथेय कल्पनं,
गेहस्थकृत श्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता.
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र
दानतः,

प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न-
दीयते.

(यदि श्राद्ध से मृतकों की तृप्ति हो जाती है तो बुझे हुए दीप की शिखा तेल से क्यों नहीं बढ़ती? मरे हुए लोगों को श्राद्धरूपी पाथेय देना व्यर्थ है. जब घर पर किए श्राद्ध से मार्ग में जाने वाले की तृप्ति नहीं होती तो परलोक में क्या संभावना है? यदि श्राद्ध से स्वर्गस्थ लोगों की तृप्ति हो जाती है तो दूसरी मंजिल वालों का भोजन पहली मंजिल पर ही क्यों नहीं किसी को खिला दिया जाता?)

सब विचारकों की भांति चार्वाक ने

भी दुखों को समाधि को मोक्ष माना है पर उस की मोक्ष कल्पना है बड़ी विचित्र जीवनपर्यंत ही दुख सताते हैं. इसलिए दुखों से छुटकारा दिलाने वाली मृत्यु ही मोक्ष है : मरणमवापवर्गः धर्म के विशेष कृत्यों के प्रति बृहस्पति का मत इस प्रकार है :

नस्वर्गा नापवर्गा वा मेवात्मा पार-
लौकिकः,

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फल-
दायिकाः.

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदंड भस्मगुंठम्,
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका घातृ-
निर्मिता.

(न स्वर्ग है, न मोक्ष और न आत्मा परलोक में जाती है, वर्ण और आश्रम की क्रियाएं भी फल देने वाली नहीं हैं. यज्ञ, तीनों वेद, तीन प्रकार के दंड, भस्म लगाना—ये सब बुद्धिपौरुषहीन लोगों की जीविका है जिसे उन के पूर्वजों ने बनाया है.)

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

संसार : चार्वाक ने कल्पित परलोक का खंडन करने के साथसाथ जनता की लौकिक भावनाओं में भी सुधार किया. सब का कहना था कि संसार दुखों का घर है. यहां शुद्ध सुख नहीं मिलता इस लिए इसे छोड़ कर परलोक की चिंता करो. चार्वाक ने भी संसार में सुखदुःख का झेलना माना है पर इस का तात्पर्य यह नहीं है कि संसार से मुंह ही मोड़ लिया जाए, उन्हीं के शब्दों में उन का तर्क देखिए :

मत्स्यार्थी सशल्कान सकंटकान्
मर्त्मस्यानुपादत्ते स यावदादेयं तावदादाय
निवर्तते. यथा वा धान्यार्थी सपलालनि
धान्याग्न्याहरति स यावदादेयं तावदादाय
निवर्तते तस्माद् दुःख भयाश्रानुकूल वेदनीर्यं
सुखं त्यक्तुमुचितम्. नहि मृगाः संतीति शाल-
योनायंते नाहि भिक्षुकाः संतीति स्थात्यो
नाधि श्रीयंते. यदि कश्चिद् भोदवृष्टम्
सुखं त्यजेत् तर्हि स पशुवान् मूर्खो भवेत्.

तद्वत्तम त्याज्यं सुखं विषयं संगमं जन्म
पुंसां दुःखोपसृष्टम् इति मूखं विचारणया,
ब्रौह्मीजिहासति सितोत्तं तंडुलाद्यान् को
नाम मोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी.

(जिस प्रकार मछली का शौकीन पंख और कांटों सहित मछली खरीद लेता है, उसे जितना अभीष्ट होता है उतना ले कर शेष छोड़ देता है. जिस प्रकार अनाज की आवश्यकता वाला भूसी सहित अन्न ले जाता है. उसे जितना लेना होता है उतना ले कर शेष छोड़ देता है, उसी प्रकार दुःख के भय से अनुकूल अनुभव वाला सुख छोड़ना उचित नहीं है. हरिणों के चरने के भय से क्या धान नहीं बोये जाते? भिक्षुओं के मांगने के भय से क्या चूल्हे पर बटलोई नहीं चढ़ाई जाती? यदि कोई डरपोक प्रत्यक्ष देखे गए सुखों को छोड़ता है तो वह पशु के समान मूर्ख है इसी लिए कहा है. दुःख से मिश्रित विषय संबंधी सुख पुरुषों को त्याज्य है. यह विचार मूर्खों का है क्या कोई हितार्थी सफेद चावल वाले धान को केवल भूसी के कारण ही छोड़ देता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाक ने जनसाधारण को जीवन के प्रति वैज्ञानिक तथा स्वस्थ दृष्टिकोण दिया था. उस ने काल्पनिक परलोक कष्ट तथा व्यवसायिक वैदिक कर्मकांड का विरोध कर के इसी भौतिक संसार को सुख का भंडार बताया.

उस ने समाज में नियमपूर्वक चल कर अर्थशास्त्र के अनुसार अपना जीवन सुखमय बना कर सांसारिक उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी.

पुरोहितों की जीविका नष्ट होती थी तथा ग्रंथविश्वासी लोगों का सुंदर सपना टूटता था इसलिए चार्वाक मत का घोर विरोध किया गया. यहां तक कि उस का साहित्य भी नष्ट कर दिया गया. यदि प्राचीन लोगों ने चार्वाक की बात सुनी होती तो भारतीय समाज की यह होन दशा नहीं होती.

इस के पश्चात् जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक या अवैदिक दर्शन माने जाते हैं.

इन दर्शनों की उत्पत्ति वैदिक कर्मकांड की हिंसा के कारण हुई इसी लिए उन्होंने यज्ञ, वेद और ईश्वर का खंडन तो किया किंतु परलोक का विश्वास रहने दिया. ये दोनों दर्शन धर्म अथवा धार्मिक संप्रदाय से संबंधित थे, इसलिए ये परलोक को छोड़ भी नहीं सकते थे. जैनियों ने दार्शनिक जगत में नय का सिद्धांत दिया जिस ने परस्पर की कलह बहुत कुछ कम कर दी. अब तक के दार्शनिक अपने मत को ही सत्य मानने के कारण झगड़ा करते थे. दूसरों की बात उन्हें अयथार्थ लगती थी.

जैन तथा बौद्ध दर्शन में नास्तिकता

जैन दर्शन के नए वाद ने सुझाया कि अपनी बात को ही अंतिम न मान कर दूसरों की बात को सहनशीलता से सुनो. यह झगड़ा हाथों के स्वरूप निर्णय के लिए झगड़ने वाले ग्रंथों के समान है. सभी दर्शन अनेक रूपों वाली सत्ता का अंशमात्र विवेचन करने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं. जैन धर्म के इस दृष्टिकोण को अपनाने से समाज में शांति रह सकती है. जैन दर्शन ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जो रत्नत्रय—सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र—बताए हैं. उन में सम्यक चरित्र के अंदर आने वाले नियम इस प्रकार हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समाज की अशांति और जीवन की अवनति का कारण इन नियमों की अवहेलना ही है, यदि लोग इन्हें पालने लगे तो मोक्ष मिले या न मिले पर हमारा समाज स्वर्ग से भी अधिक सुखमय बन सकता है.

बौद्ध दर्शन का उदय जैन दर्शन के बाद हुआ. इन की बहुत सी बातें एकदूसरे से मिलती हैं. दोनों ने ही जनसाधारण की बुद्धि की पहुंच से दूर रखने वाले वैदिक कर्मकांड का विरोध किया है. गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बताया कि कल्याण के लिए दार्शनिक वादविवाद अपेक्षित नहीं है, किसी व्यक्ति का कल्याण उस के

आचरण से ही संभव है। बौद्ध दर्शन भी परलोक में विश्वास करता है पर उसे वैभाषिक तथा सौत्रांतिक मत की संसार की सभ्यता में विश्वास है। बुद्ध ने संसार को दुःखमय माना अवश्य है पर उसे दूर करने के लौकिक उपाय बताए हैं। उन्होंने अहिंसा, सत्य, और ब्रह्मचर्य से सारे दुःखों को दूर करने की शिक्षा दी है।

जैन तथा बौद्ध दर्शन ने जनसाधारण में प्रचलित पाली भाषा का आश्रय लिया। इस कारण उन का संदेश अधिक लोगों तक न पहुँच सका। वैदिक कर्मकांड सब इच्छाओं की पूर्ति यज्ञ द्वारा बताता था और उपनिषद काल के अध्यात्मवाद ने मनन तथा ध्यान पर बल दिया। तात्पर्य यह है कि लोगों को ऐसे आचरण की प्रेरणा कोई नहीं दे सका जिस से उन का जीवन सुखमय बनता, समाज का काम सरल होता। चार्वाक दर्शन का उद्देश्य तो शुद्ध लौकिक है। जैन तथा बौद्ध दर्शन ने भी सांसारिक उन्नति के प्रेरक अनेक विचार जनसाधारण में फैलाए।

जैन और बौद्ध दर्शन जीवन के प्रति उतना स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं दे पाए जितना चार्वाक दर्शन ने दिया था। ये दोनों दर्शन धर्म से संबंधित ही थे! धर्म का काम परलोक को माने बिना नहीं चलता। धर्म में पूजापाठ, गुरु आदि पर विश्वास का समावेश करना ही पड़ता है। शुद्ध नास्तिक दर्शन तो चार्वाक का ही है।

आस्तिक दर्शनों के साथसाथ जैन और बौद्ध दर्शनों ने भी चार्वाक का विरोध किया है। आपस में सिद्धांत भेद होने पर भी ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध तीनों ही चार्वाक के प्रति घृणा प्रदर्शित करने में एकमत हैं। बौद्ध ग्रंथों में चार्वाक के साहित्य पढ़ने का स्पष्ट निषेध है तथा जैन आचार्यों ने इस मत को मिथ्यादृष्टि बताया। उक्त दर्शनों ने धर्म से संबंध होने के कारण चार्वाक का विरोध किया है।

चार्वाक संसार का पहला दार्शनिक था। बाद के भारतीय दर्शनों का काम केवल

उस का खंडन करना मात्र रहा है। कितनी विचित्र बात है कि जब तक लोग मन-लुभावनी बातों में भूले रहे तब तक धर्म, ईश्वर और परलोक का डंका बजता रहा। जिस पहले व्यक्ति ने इन पर बुद्धि का प्रयोग किया वह नास्तिक निकला।

चार्वाक के नाम पर अनेक ऊलजलूल बातें प्रचलित कर के उस के प्रति घृणा का प्रचार किया जाता रहा। उस के सिद्धांत की हंसी उड़ाने के लिए निम्न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है :

भस्मीनतस्य दहस्य पुनरागमनं कुतः,
तस्मात् सर्वप्रयत्ने ऋण ऋत्वा घतं
पिवेत.

(जला हुआ शरीर दोबारा संसार में नहीं आता इसलिए सभी प्रयत्न कर के कर्ज ले कर घी पियो.)

तर्कसंगत नास्तिकता

चार्वाक शरीर का संसार में दोबारा लौटना नहीं मानता, यह सत्य है। चार्वाक ही क्या, शरीर का नाश तो सभी दर्शन मानते हैं पर चार्वाक जैसा सामाजिक उन्नति और आर्थिक व्यवस्था का उपदेशक कर्ज ले कर घी पीने की बात कैसे कह सकता था? चार्वाक ने कर्ज ले कर फुजूलखर्ची का मार्ग नहीं दिखलाया। इस मत के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति ने तो अर्थशास्त्र लिख कर लोगों को अधिक कमाने तथा संयमित व्यय करने की सलाह दी।

उस ने घी खाने को चाहे कहा हो पर पीने की सलाह उस जैसा बुद्धिमान कभी नहीं दे सकता। घी पीने से तो वस्तु आने लगते हैं। चार्वाक ने भटकते हुए भारतीयों को बुद्धि का उपयोग सिखाया, तर्क पर आश्रित होना बताया, चिंतन की एक नवीन शैली दी और सांसारिक उन्नति द्वारा जीवन सुखमय बनाने का मार्ग बताया। इस सब के लिए उस का उपकार मानना या आदर करना तो दूर रहा।

स्वार्थी ब्राह्मणों ने उस के प्रति घृणा का प्रचार किया—उसके मन पर अटपटपट सिद्धांत प्रसिद्ध कर दिए। उस का साहित्य श्रमानुशिक ढंग से नष्ट कर देना दार्शनिकों की कमजोरी ही है। बाद के दार्शनिकों ने यही सोच कर चार्वाक साहित्य मिटा दिया होगा कि इस समय तो हम ने हल्ला मचा कर इस की आवाज दबा दी है पर दोनों का विवेचन करने वाली आगे की संतान अवश्य वास्तविकता जान लेगी।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि नास्तिक को मूर्ख कहना कितनी ओछी बात है। मूर्ख होना आस्तिकों की ही सेना में संभव है। नास्तिक को असुविधाओं और आस्तिक की सुविधाओं पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। भारत में क्या सारे विश्व में साधारणजनों की संख्या अधिक है, सभी साधारण बुद्धि वाले आस्तिक हैं, बहुत से बुद्धिमान भी आस्तिकों में मिल गए हैं—कुछ अपने विश्वास के कारण और कुछ आस्तिकता का प्रदर्शन कर के दूसरों को उल्लू बनाने के लिए।

संसार में बुद्धिमानों की दो श्रेणियाँ होती हैं। पहली श्रेणी उन की है जो अपनी बुद्धि के बल पर दूसरों को बहका कर अपना स्वार्थ साधते हैं आराम से बैठ कर दूसरों की कमाई खाते हैं। दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो अन्याय से मिलने वाली सुखसुविधाओं को छोड़ कर जन-साधारण को सीधा मार्ग दिखाते हैं।

ये लोग स्वार्थ पर नहीं, ईमानदारी पर चलते हैं। प्रचलित विचारधारा को रोकने या सुधारने वालों का सभी लोग विरोध करते हैं। इन के मार्ग में भाँति-भाँति के रोड़े अटकए जाते हैं। कभीकभी पशुबल का सहारा ले कर उन्हें भार डाला जाता है। इतने पर भी सत्य और परोपकार की भावना के बल पर ये अपना मार्ग नहीं छोड़ते। नास्तिकों की गणना दूसरी श्रेणी के बुद्धिमानों में ही है।

नास्तिक बनना सरल नहीं है क्योंकि इसे धर्म के मार्ग पर चलने वाले जन-साधारण और बुद्धिमान—दोनों का विरोध सहना पड़ता है। ईश्वर की सत्ता को चुनौती देना, स्वर्ग के सुखों का आकर्षण ठुकराना साधारण बुद्धिमान का काम नहीं है। मूर्ख तो बिना सोचे समझे इन के मार्ग पर चल पड़ेगा, चाहे इन में निरा धोखा ही हो। नास्तिक को मूर्ख कहने से पूर्व सोचना चाहिए कि आंख बंद कर के जनसाधारण के मार्ग पर चलने वाला बुद्धिमान होता है। या चलती राह की अच्छाई बुराई सोच कर नया मार्ग बनाने वाला व्यक्ति? चलती राह पर बढ़ जाने के लिए मेरे विचार में, बुद्धि की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। बल और धोड़े भी बिना चालक के दूसरों के पीछे चलने में सफल हो जाते हैं जब कि नई राह का निश्चय साधारण मनुष्य भी नहीं कर पाते। इन में बुद्धि की अपेक्षा होती है।

प्रलोभन

आस्तिकता में इतनी सुविधाएँ हैं कि बुद्धिरहित लोग इधर ही दौड़ते हैं। बुद्धि को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं। विरोध नहीं सहना पड़ता और सिर झुकाते ही मानो लुभावने स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। दूसरी ओर नास्तिक की परिस्थिति पर विचार कीजिए। उसे स्वर्ग ठुकरा कर नरक में जाने का काल्पनिक भय सहना पड़ता है। तथा समाज के राह भले भाईयों का विरोध और तिरस्कार भी सहना पड़ता है। चलती रीति की आलोचना करने और नया मार्ग खूँड़ने में जो दिमागी कसरत करनी पड़ती है वह क्या मूर्ख के बस की बात है। साधारण व्यक्ति तो इस का अनुमान भी नहीं लगा सकता। बुद्धि की कसौटी पर खरे, गिनेचुने नास्तिकों में मूर्ख को स्थान नहीं मिल सकता।

आप पढ़ेलिखे हैं, सोचविचार कर सकते हैं, कामधंधे में लगे हैं, अपने परिवार की जिम्मेदारी उठाए हैं, पर...

आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

क्या देश का जिम्मा केवल अष्ट राजनीतिबाजों का है?

आप पूछ सकते हैं—मैं क्या करूँ?

आप अपना और अपने बच्चों का वर्तमान और भविष्य अष्ट राजनीति-बाजों के हाथों सौंपने के बजाए इतना तो कर ही सकते हैं :

- जो भी काम आप के जिम्मे हो, उसे पूरा करें. अगर आप अपना काम पूरी लगन से करते हैं तो स्वयं अपनी क्षमता बढ़ा रहे हैं, अपनी उन्नति कर रहे हैं, चाहे उस का पूरा पैसा मिले या नहीं. आज हर क्षेत्र में कर्मनिष्ठ व्यक्ति की बहुत मांग है. अगर वर्तमान संस्था में आप को अपनी मेहनत का पूरा मुआवजा नहीं मिलता तो दूसरी संस्था देगी.

- न अन्याय सहें, न अन्याय करें. आप समाज की महत्वपूर्ण इकाई हैं. समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है कि उस की हर इकाई अन्याय के विरुद्ध हो.

- अपनी गली, महल्ले, नगर के प्रबंध में दिलचस्पी लें. उसे दूसरों के भरोसे न छोड़ दें. कुप्रबंध और कुव्यवस्था के विरुद्ध संबंधित अधिकारियों को पत्र लिखते रहें. हो सकता है, आप के दोचार पत्रों का कोई असर न हो, पर वे आप की पूर्ण अवहेलना नहीं कर सकते. स्थानीय दैनिक पत्रों के संपादकों को भी पत्र लिखें. (वे स्थानीय समस्याओं से संबंधित पत्रों की प्रतीक्षा में रहते हैं) अपने क्षेत्र के निगम सबस्य, विधायक या संसदसदस्य को भी पत्र लिखें और उन से महल्ले के व्यक्तियों के साथ मिलते रहें. कल इन्हें आप के पास ही वोट लेने आना है. इस बात का फायदा उठाएं और जब तक कुव्यवस्था ठीक न हो जाए चैन से न बैठें.

- अपना फालतू समय किसी स्थानीय समाजसेवी संस्था में लगाएं—पुस्तकालय, स्कूल, चिकित्सालय सभी जगह निःस्वार्थी व्यक्तियों की आवश्यकता है. असंतुष्ट हो कर बैठे रहने से न आप बदल सकेंगे, न समाज, न देश.

- रोजीरोटी का प्रबंध तो भिखारी, आवारा पशु और गली के कुत्ते भी कर लेते हैं, पर आप पढ़ेलिखे हैं, सोचविचार कर सकते हैं, कामधंधे में लगे हैं, अपने परिवार की जिम्मेदारी उठाए हैं, इसी लिए यह आवश्यक है कि आप अपने आप से पूछें कि—

आप देश के लिए क्या कर रहे हैं?

गांधीजी का बलिदान

महेंद्र कुलश्रेष्ठ

हिंदुओं की संकीर्णता का कारण

हिंदू सांप्रदायिकता के हाथों गांधीजी का बलिदान इस युग की सब से दुखद घटना है। यह एक कलंक है जो हिंदू या भारतीय संस्कृति के माथे पर युगयुग के लिए लग चुका है। इस कलंक का दाग शायद अब किसी भी तरह मिटाया नहीं जा सकेगा। इस की कालिमा तब और भी गहरी हो जाती है, जब यह कहा जाता है कि हिंदू या भारतीय संस्कृति प्रेम, दया, मित्रता, करुणा आदि कोमल भावों का ही दूसरा नाम है।

युगपुरुष का अंत

30 जनवरी 1948 का दिन। शाम हो रही है। दिल्ली के बिड़ला भवन के बगीचे में गांधीजी की प्रार्थना सभा लगी है। नाथूराम विनायक गोडसे आता है। तीन गोलियाँ—एक के बाद एक—चलती हैं। 'हि राम' की अस्फुट ध्वनि के साथ पक्षी संसार छोड़ देता है। भारतीय धर्म और संस्कृति की तस्वीर हिंदू धर्म और संस्कृति के हाथों ही टूट जाती है। उस के शीशे इधर उधर दूर तक बिखर जाते हैं, जो युगयुग तक लोगों के दिलों में चुभते रहेंगे।

और इस दिन एक युग खत्म हो गया। अनेक शताब्दियों के बाद पहली बार उत्पन्न एक वास्तविक ज्योति पुरुष सो गया। सहस्र वर्षों की पराधीनता से देश

को मुक्त कराने वाला सूर्य पुरुष! खुद हम ने ही अपने हाथों उस का गला घोट दिया।

इतिहास को इस घटना की मीमांसा अभी करनी है। आश्चर्य है कि लगभग 5 साल बीतने पर भी यह महत्वपूर्ण कार्य किसी ने भी नहीं किया। क्या अभी तक हम उस दिन से इतनी दूर नहीं आए हैं कि विचार की आंखों से उसे देख सकें। उस दुर्घटना के पाप से हमारी आत्मा अभी भी काली है और हम उस की अंधेरी गहराइयों में जाते उरते हैं? सच शायद यही हो। पर दबा कर रखे रहने से ही यह कालिख दूर नहीं हो सकेगी। उसे दूर करने के लिए रोशनी में आना होगा, उस की जड़ों में पैठ कर उस के कंटीले जाल को दूर करना होगा। यह सब करने में तकलीफ तो जरूर होगी परंतु दूसरा और कोई उपाय नहीं है।

जबजब यह बात कही जाती है तब उस के विरोध में तरहतरह की दलीलें दी जाती हैं, भारत के विभाजन की याद दिलाई जाती है। उस में होने वाले नाश के, विशेषतः हिंदुओं के नाश के रोमांचकारी चित्र खींचे जाते हैं। पाकिस्तान को गांधीजी के अपराध पर दिए गए 55 करोड़ रुपए का जिक्र किया जाता है।

मैं इन दलीलों के बल को मानता हूं। मैं मानता हूं कि विभाजन के कारण हिंदुओं को अपार कष्ट सहना पड़ा और

इस के लिए कांग्रेसी नेताओं तथा गांधीजी के निर्णय बहुतेक-हद तक निर्णयदाता हैं। पर मैं यह नहीं मान पाता कि ये सब दलीलें गांधीजी की हत्या का समर्थन करने के लिए काफी हैं।

क्यों नहीं मान पाता? नियंत्रण जाता रहा।

इस प्रश्न के उत्तर मैं कई पहलुओं से देने की कोशिश करूंगा।

विभाजन क्या हत्या का कारण?

पहली बात तो यही कि क्या हत्या भारतीय संस्कृति और परंपरा की दृष्टि से उचित है? मेरा खयाल है कि भारतीय संस्कृति को मानने वाला कोई भी व्यक्ति इस का उत्तर 'हां' में नहीं देगा। मैं मानता हूं कि वह ईमानदारी से ऐसा कहेगा। भारत के सारे इतिहास में ऐसी हत्या का कोई भी उदाहरण दिखाई नहीं देता। यह सोचने के बाद मुझे यह लगता है कि इस घटना के कारण भारतीय संस्कृति के इस युग के इतिहास को कांप उठना चाहिए।

इसी बात को कुछ और फैला कर यों कहें कि क्या किसी भी संस्कृति और परंपरा की दृष्टि से ऐसी हत्या उचित है? इस का उत्तर भी 'नहीं' में ही देना चाहिए। मनुष्य जाति की कोई भी संस्कृति यह बरदाश्त नहीं कर सकती कि इस तरह निर्दयता से उन महापुरुषों की हत्या कर दी जाए जिन्होंने सब कुछ त्याग कर अपनी जाति और देश को ऊंचा उठाया है। यदि उन के यहां ऐसी घटनाएं होती हैं—जैसे बर्मा में आंग सान की हत्या और लंका में भंडारनायक की हत्या—और यदि ये घटनाएं तथाकथित धार्मिक-सांस्कृतिक तत्त्वों की ओर से की जाती हैं—जिस का उदाहरण गांधीजी की हत्या है—तो यह सझना चाहिए कि उस संस्कृति के आंतरिक रूप में कुछ मौलिक दोष है या आ गया है और उसे दूर

करने का उपाय किया जाना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि 15 अगस्त 1947 के दिन विभाजन की जो घटना घटी, उस के साथ एक और तथा उस से भी महत्वपूर्ण घटना यह भी घटी कि भारत आजाद हुआ। यह आजादी भारत को सैंकड़ों साल बाद मिली। आजादी कुछ इस ढंग से आई कि इस क्षण में गांधीजी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं का भारतीय इतिहास की घटनाओं पर से नियंत्रण जाता रहा। यह दुखदायी सत्य है, जिस से इनकार नहीं किया जाना चाहिए।

परंतु आजादी के इस महान क्षण का आवाहन भी उन्होंने किया था, यह बात भी उतनी ही सच है। हिंदू संप्रदायवादियों का आजादी लाने में तनिक भी योग नहीं था। हिंदू सभा में वीर सावरकर को छोड़ कर अन्य किसी ने आजादी प्राप्त करने के लिए कभी कुछ नहीं किया और इस सभा की शक्ति भी कभी ज्यादा नहीं रही। वास्तविकता यह है कि आजादी हासिल करना इस का उद्देश्य भी नहीं रहा, इस का सीमित उद्देश्य मुसलिम लीगी काररवाइयों के विरुद्ध हिंदू हितों की रक्षा करना ही रहा है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जो अब जन-संघ में परिवर्तित हो गया है, जरूर इस समय की (1945 से आरंभ कर के गांधीजी की हत्या के 3-4 दिन बाद तक) सब से प्रभावशाली संस्था थी और यह कहा जा सकता है कि इन दिनों उस की शक्ति कांग्रेस और कम्यूनिस्ट पार्टी से कहीं ज्यादा थी।

अलोकतांत्रिक संगठन

वास्तव में इसे 'संस्था' कहना ही उचित नहीं है। यह एकतंत्री और अलोक-तंत्री ढंग का संगठन है जिसे सैनिक दिशा में विकसित करने का प्रयत्न किया गया। बहुत श्रंशों में यह प्रयत्न सफल भी हुआ और आजादी मिलने के दिनों में इस की

सुबहशाम—अकसर रात को—कवायद करने वाली शाखाओं का जोर देश भर में फैला हुआ था। उत्तर भारत में तो इस की शक्ति विशेष रूप से महसूस की जा रही थी और जनता तथा संघ के सैनिक दोनों ही यह सोचते थे कि पता नहीं यह अपार शक्ति कैसा चमत्कार कर दिखाएगी। दिल्ली तो उन का गढ़ ही था, जहाँ हर तीसरे महीने लाखों वर्द्धागारी स्वयंसेवक सैनिकों की रैली होती थी।

यह सब हिंदू संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए हो रहा था। यहाँ यह कह देना उचित है कि 'हिंदू' शब्द पर संघ का बड़ा आग्रह था, वे 'भारतीय' शब्द का व्यवहार भी पसंद नहीं करते थे, यद्यपि प्रतिबंध के बाद यही 'भारतीय' शब्द उन्होंने स्वीकार कर लिया।

‘संघ’ द्वारा आजादी का विरोध!

पर संघ ने आजादी की कोई लड़ाई नहीं लड़ी। कांग्रेस और गांधीजी द्वारा चलाए गए सत्याग्रह आंदोलनों में तो उस ने भाग लिया ही नहीं, अपनी तरफ से भी किसी तरह का—छोटा/मोटा भी—आजादी का आंदोलन उस ने कभी शुरू नहीं किया। सच तो यह है कि उस ने आजादी के सवाल पर कभी विचार ही नहीं किया। उस के सैनिक, जो कम उम्र, जोशीले लड़के ही थे, अपनी सभाओं में इस विषय पर सवाल करते भी थे, पर उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया जाता था। उन नेताओं को पदच्युत कर दिया जाता था जो केंद्रीय आज्ञा न मान कर कुछ कर डालने की तत्परता दिखाते थे।

1947 के आसपास जब आजादी की आवाज जरा ज्यादा जोर पकड़ रही थी तब उन्होंने कांग्रेसी तथा आजादी की प्रत्येक बातचीत का विरोध किया। यहाँ तक कि जून में जब सत्ता का हस्तांतरण निश्चित हो गया तथा उसे कार्यान्वित करने के कदम उठाए जाने लगे, तब इन की

तरफ से महल्ले-महल्ले में मीटिंग कर के यह कहा गया कि यह आजादी ठीक नहीं है, हमें इस का विरोध करना चाहिए। विभाजन के कारण आजादी फीकी रही, यह सच है, परंतु वह आजादी पूर्ण नहीं थी, यह कहना नादानो ही मानी जाएगी। वैधानिक तथा कानूनी बातों में संघ के नेताओं की गति कभी अच्छी नहीं रही, यह उस का अनुपम उदाहरण है।

15 अगस्त को उन्होंने किसी भी समारोह में भाग नहीं लिया। राष्ट्रीय झंडे की भी वे अवहेलना करते थे। उन के लिए तो शिवाजी का भगवा झंडा ही सर्वस्व था। परंतु शीघ्र ही उन्हें अपनी गलती महसूस हो गई और उन्हें आजादी की पूर्णता स्वीकार करनी पड़ी। परंतु तब वे यह कहने लगे कि यह आजादी कांग्रेस नहीं लाई, महायुद्ध से दुर्बल हुए अंगरेज खुद आजादी दे गए हैं। आजादी के बारे में संघ का यह हास्यास्पद इतिहास है।

तो जिन लोगों ने देश की मुख्य समस्या के लिए कुछ भी नहीं किया, जो आजादी के रास्ते में रोड़े ही अटकाते रहे उन्हें थोड़ा बहुत ही करने वालों के विरुद्ध नैतिकता का प्रदर्शन करने का क्या अधिकार है? संघ ने देश की बड़ी बुराई यह की कि जिस समय भारत का इतिहास सैकड़ों साल बाद एक महत्वपूर्ण मोड़ ले रहा था, तब कोई भी सहयोग नहीं दिया, ऊपर से लाखों नवयुवकों को अपनी शाखाओं में निरुद्देश्य जमा कर के राष्ट्र के इस कर्मठ वर्ग को एकदम नाकारा बना दिया। यदि ये युवक इस कार्यक्रमहीन संस्था के कंदी न बन जाते तो स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेते और देश के लिए कुछ न कुछ उपयोगी कार्य अवश्य करते।

यदि यह मान भी लिया जाए कि संघ का उद्देश्य आजाद हो कर अखंड भारत की रक्षा करना था तो यह सवाल किया जा सकता है कि जब भारत का विभाजन निश्चित हो गया तब उसे रोकने के लिए उन्होंने जान की बाजी क्यों नहीं

लगा दी? जान की बाजी तो दूर, उन्होंने इस के लिए कोई छोटमोटा आंदोलन भी नहीं किया। इतिहास का आश्चर्य यह है कि आहिंसा के मानने वाले तो जैसे-तैसे 1920 से ले कर 1947 तक लड़ते ही रहे, परंतु क्षात्रधर्म के पुजारियों को, जो रोज सुबहशाम कवायद करते थे, देश के लिए लड़ने का साहस कभी नहीं हुआ। आंदोलन के नाम पर अपने जीवन में यदि उन्होंने कभी कुछ किया तो गोवधबंदी के लिए हस्ताक्षर इकट्ठे कर के जुलूस के साथ राष्ट्रपति को दिया। वैसे इस का भी कोई परिणाम नहीं हुआ, यह सब जानते हैं।

रूढ़िवादिता

मनोविज्ञान का नियम है कि जो सामने आ कर बार नहीं कर पाता, वह पीछे से हमला करता है। हिंदू संप्रदायवादी समस्याओं की गहरी मीमांसा करने तथा सामने खड़े हो कर उस का मुकाबला करने को तैयार नहीं थे। शायद इस का कारण एक ओर उन की परंपराप्रियता और संस्कारमूढ़ता थी, दूसरी बात यह भी थी कि वे किसी भी कार्य के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तैयार नहीं थे। क्रांतिकारी होने पर तो सर्वस्व त्यागना आवश्यक था ही, कांग्रेसी होने पर भी बारबार जेलों में जाना पड़ता था, जिस के लिए यदि सर्वस्व नहीं तो काफी कुछ त्यागना पड़ता था। प्रतिबंध हटाने के लिए जब संघ ने सत्याग्रह जैसा एक आंदोलन किया तब विद्यार्थियों के अलावा और कोई भी जेल जाने को तैयार नहीं होता था। कांग्रेसी शासन के दमन से जब उन्हें इतना भय था तब अंगरेजी निरंकुशता के दमन से उन के भय की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

इस मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के कारण ही गांधीजी की हत्या के रूप में हिंदू सांप्रदायिकता की कायरता प्रकट हुई। यह एक

बड़ी अजीब सी घटना थी। इस में कुछ ने सौध भाग नहीं लिया, परंतु वातावरण बनाया और कुछ ने उस की कल्पना और योजना बनाई। इसी कारण बाद में हुआ मुकदमा भी बहुत कुछ उलझा सा रहा और कोई साफ बात सामने नहीं आ सकी। फिर भी इस में संदेह नहीं होना चाहिए कि यह दुर्घटना हिंदू संप्रदायवादियों के ही कारण हुई।

भारत पराधीन कहाँ हुआ?

इस घटना की मीमांसा और विवेचन के लिए जरा और भी गहराई में जाना उचित है। एक हजार साल पहले भारत क्यों पराधीन हुआ था? उस के बाद की 5-6 शताब्दियों में क्यों 8 करोड़ मुसलमान भारत में पैदा हो गए? भारतीय संस्कृति मुसलमानों को भी उसी तरह हजम क्यों न कर सकी जिस तरह उस ने शक, हूण आदि को किया था? यदि वह ऐसा कर सकी होती तो न विभाजन की समस्या उत्पन्न होती और न गांधीजी की हत्या ही होती।

संक्षेप में इन के उत्तर ये हैं कि भारत न कभी एक राष्ट्र रहा और न एक शासनतंत्र में था, इसलिए वह पराधीन हुआ। सांसारिक बातों के सामने भारत ने तथाकथित आध्यात्मिक और धार्मिक बातों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दिया, इसलिए वह पराधीन हुआ। उस का जीवन-दर्शन बहुत कोमल और मुलायम किस्म का था। इसलिए यह पराधीन हुआ, पर अंदरूनी मामलों में वह बेहद अत्याचारी था और समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को शूद्र मान कर अलग कर देता था तथा शेष समाज के भी हजारों छोटेछोटे टुकड़े कर डालता था, इसलिए वह पराधीन हुआ। यही उस के एक राष्ट्र न बन पाने का मुख्य कारण भी है। कोई भी ऐसा समाज, जो समानता पर आधारित न हो, सुगठित नहीं हो सकता, न राष्ट्र ही बन सकता है।

इसी कारण देखतेदेखते भारत में मुसलमानों की संख्या तेजी के बढ़ने लगी। उन का धर्म सब को समान मानता था और स्वधर्मी पर अत्याचार नहीं करता था। इसी कारण मुसलमान हिंदुओं को हीन समझते थे। ताज्जुब तो यह है कि उस समय के किसी भी हिंदू नेता—स्मृतिकार आदि—ने देश और समाज की रक्षा के लिए समानता के इस जरूरी सिद्धांत को नहीं अपनाया। यदि वे यह बात समझ नहीं पाए तो उन्हें बौद्धिक रूप से निम्न कोटि का माना जाना चाहिए, यदि समझ कर भी उन्होंने इसे अपनाया नहीं तो इस से उन की स्वार्थप्रियता पर प्रकाश पड़ता है।

हिंदुओं के प्रति मुसलमानों की घृणा का एक कारण हिंदुओं की बुतपरस्ती भी है। महर्षि दयानंद ने भी कुछ समय बाद इस का बड़ा विरोध किया और बुतपरस्ती से हीन नए समाज की स्थापना की। मुसलमान अपने निराकार और एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म को करोड़ों देवीदेवताओं वाले पूजनपरक हिंदू धर्म से श्रेष्ठ समझते थे, जो स्वाभाविक भी था। यहां भी महर्षि दयानंद से उन की तुलना की जा सकती है क्योंकि उन्होंने भी निराकार एकेश्वरवादी धर्म का ही प्रचार किया।

और इसी कारण हिंदू समाज और धर्म मुसलमानों को अपने भीतर हजम नहीं कर सका। वह एक ऐसा समाज और धर्म था जो पराजित हो चुका था।

अचानक सुनने पर ये बातें बुरी लग सकती हैं। नाराजी भी पैदा हो सकती है। परंतु ब्रिटिश शासन के परिप्रेक्ष्य में—जो अपनी मूल प्रकृति में इस्लामी शासन की तरह ही एक विदेशी शासन था—देखने पर यह बात आसानी से समझ में आती है। यह इस तरह कि स्वाधीनता आंदोलन शुरू होने से पहले भारत में धार्मिक और सामाजिक रिनेसां हुआ, जिस में वे सब दोष ही दूर करने की चेष्टा की गई जो ऊपर बताए गए हैं। अगर यह सब न होता तो आजादी का आंदोलन ही शुरू

न हो पाता, इस्लामी शासन में उस समय के हिंदू नेताओं के प्रयोग का कार्य नहीं किया, इसलिए हजार साल के लंबे इतिहास में कोई भी स्वाधीनता आंदोलन खड़ा न हो सका। उस समय समर्पणवादी भक्ति मार्ग का ही प्रचार होता रहा जो बड़े खेद की बात है। इस ने पराधीनता का काल बढ़ाने में ही सहायता की और जैसे अफीम खिला कर जनता की चेतना को मंद कर दिया। बाद में धर्म निरपेक्षता को राष्ट्रीयता का आधार माना गया, काम कठिन था, क्योंकि हिंदूशक और हिंदूहण समस्या की तरह हिंदूमुसलमान समस्या हल नहीं हुई थी। धर्म निरपेक्षता से लड़ने के लिए दोनों ने अपने कैंप अलगअलग बना लिए। अंगरेजों ने पहले हिंदुओं का समर्थन किया, फिर मुसलमानों का करने लगे और इस तरह इतिहास की शक्ति तथा अंगरेजी कूटनीति के बीच धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता, जिस का प्रतीक गांधीजी को मान सकते हैं, बुरी तरह फंस गई।

हास्यास्पद धर्मनिरपेक्षता

इसी स्थल पर यह द्रष्टव्य है कि हिंदू तथा मुसलिम संप्रदायवादियों ने स्वाधीनता आंदोलन में कोई भाग नहीं लिया, जिसे गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस चला रही थी। मुसलमान चूंकि भारत को अपना देश नहीं मानते थे इसलिए उन का भाग न लेना अनुचित नहीं माना जा सकता, परंतु हिंदुओं के लिए इस में भाग न लेना क्षम्य नहीं है।

व्यक्ति चूंकि पूर्ण नहीं होता, इसलिए महापुरुष होने पर भी उस की सीमाएं होती हैं। यदि वह चार काम सही करता है तो एकाध में गलती भी कर सकता है या इतिहास तथा विरोधियों की शक्ति को काट नहीं पाता। किसी भी महापुरुष का मूल्यांकन उस के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में ही करना उचित है। मैं गांधीजी के मुख्यतः दो योगदान मानता हूं। स्वाधीनता और

समानता. धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की स्थापना में वह—यह गांधीजी का हृदय की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सामने उन के विशाल मानवतावादी सिद्धांतों की हड़डियां चकनाचूर हो गईं. और इसलिए हिंदू सांप्रदायिकता की प्राचीन धर्माधिता-परक, असमानतापरक और पराधीनता-परक शक्तियों ने उन की जान ले ली. आदमी एक दिन मरता है इसलिए गांधीजी के पक्ष की दृष्टि से मैं इसे कोई परम दुर्घटना नहीं मानता—उन की अवस्था भी 80 की हो रही थी—हिंदू सांप्रदायिकता के लिए अंतिम विवेचन में यह चरम कोटि की दुर्घटना है जिस से वह कभी मुक्त न हो सकेगी.

बलिदान का परिणाम

ऐसा बलिदान समग्र भारतीय इतिहास में कभी नहीं हुआ. भारत के बाहर ईसा का

गांधीजी के बलिदान का क्या कोई परिणाम दिखाई दे रहा है? यद्यपि संविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित कर दिया गया है, परंतु उस की स्थापना का कोई सुनियोजित प्रयत्न नहीं किया जा रहा है. सांप्रदायिक दल अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर के राजनीति में कार्य करने लगे हैं. उन की कृपा से अकसर जहांतहां दंगे भी हो जाते हैं.

परंतु शायद संत पाल जैसा कोई व्यक्ति ही यह कार्य कभी हाथ में लेगा और उन के बलिदान के उद्देश्य को पूर्ण करेगा। शायद ऐसा न भी हो। कौन जानता है?

यज्ञोपवीत

डा. गंगासहाय प्रेमी

धर्म का कच्चा धागा जो बराबर कमजोर पड़ता जा रहा है.

सभी भारतीय यज्ञोपवीत से परिचित होंगे. तथाकथित सवर्ण हिंदुओं के लिए तो यज्ञोपवीत का बहुत महत्व है. इन का दूसरा जन्म ही उपनयन संस्कार से आरंभ होता है. एक निश्चित समय तक जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य उपनयन संस्कार नहीं करा लेता, वह ब्राह्मण कहलाता है और गायत्री मंत्र के जाप के अधिकार से वंचित हो जाता है.

उपनयन संस्कार की लकीर पीटने वाले तथाकथित धर्म के ठेकेदार आज भी लोगों के गले में आग्रह कर के यज्ञोपवीत, जिसे मनु की लगाम कहना अधिक उचित होगा, डाल देते हैं और कान में गायत्री मंत्र फूंक देते हैं. चाहे संस्कार कराने वाला एक दिन भी गायत्री का जाप न करे, यज्ञोपवीत देने के समय बताए गए किसी भी नियम को न निबाहे, पर उस के गले में तीन धागे पड़े देख कर कर्मकांडी लोग समझ लेते हैं कि धर्म की रक्षा हो रही है.

एक बार मुझे एक वैश्य मित्र के विवाह में सम्मिलित होना पड़ा. विवाह लखनऊ में हो रहा था. लड़का बेहराबून में इंजीनियर था. विवाह से एक दिन पहले जब उसे यज्ञोपवीत पहनाया जाने लगा तब उस ने साफ इनकार कर दिया. लोगों के समझाने का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा. पुरोहितजी हाथ में तीन

धागों वाला यज्ञोपवीत लिए इस प्रकार उस के पीछे लगे थे जैसे कोई आदमी पालतू तीतर के पीछे पिंजरा ले कर दौड़ता है. लड़के ने अपनी माता के विशेष आग्रह पर इतनी बात मान ली कि वह विवाह के दिनों के लिए यज्ञोपवीत पहन लेगा, फिर उतार देगा.

यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र भी कहा जाता है. वह केवल इसलिए नहीं कि इसे मात्र ब्राह्मण ही पहन सकते हैं. यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों जातियों को है. इसे ब्रह्मसूत्र कहने का कारण आश्वलायन के शब्दों में इस प्रकार है:

“संसार को बनाने के इच्छुक शिव अकेले बैठे थे. उन्होंने अपने आगे गुणमयी (रजोगुण, तमोगुण व सतोगुण से व्याप्त) माया को देख कर सूत्र (धागा) के रूप में बना दिया. उस माया के द्वारा मायात्मक विष्णु को छू कर, जो देवताओं का पालन करने वाले हैं, स्वयं ब्रह्माजी रुद्र हो गए और उन्हें जीतने को रुद्र ब्रह्मा बन गए. इस प्रकार ब्रह्मात्मक अव्यय शिव में वह सूत्र व्याप्त होने के कारण ब्रह्मसूत्र बना.”

इस प्रकार यदि आश्वलायन की बात पर विश्वास करें तो यह ब्रह्मसूत्र उपनामधारी यज्ञोपवीत सृष्टि के आरंभ से पहले का मानना पड़ेगा. आज के यज्ञोपवीत पहनने वाले चाहे इस भावना की

जानतेमानते न ही पर नया यज्ञोपवीत पहनते और पुराना उतारते समय जो श्लोक बोलते हैं, उन से लगता है कि वे इसे निर्जोव धागा मात्र नहीं मानते. यज्ञोपवीत धारण का श्लोक यह है:

“यज्ञोपवातं परमं पवित्रमायुष्मग्रं
प्रथमं च शुभम्,
प्रजापतेर्यत सहजं पुरस्तात्
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः.”

“यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आयु बढ़ाने वाला है, सब से आगे बना है, सब से पहले सफेद है. यह प्रजापति ब्रह्मा के सामने भी सहज रूप में था. वही यज्ञोपवीत हमारा बल और तेज बने.”

और पुराना यज्ञोपवीत उतारने का श्लोक इस प्रकार है:

“एतावद दिन पर्यंतं ब्रह्मत्वं धारितं मया,
जीर्णत्वाच्च परित्यक्तः गच्छ सूत्र यथा-
सुखम्.”

“हे ब्रह्मस्वरूप यज्ञोपवीत, मैं ने तुम्हें इतने दिनों तक धारण किया. तुम्हें पुराना हो जाने के कारण त्यागा है. हे सूत्र, जहां तुम्हें सुख हो, वहां जाओ.”

इतिहास

क्या तीन धागों वाला यज्ञोपवीत न पहनने वाला द्विज वास्तव में धर्महीन है? इस का उत्तर देने से पहले हम यज्ञोपवीत के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लें तो उचित होगा.

यज्ञोपवीत शब्द का अर्थ है—यज्ञ का कपड़ा अर्थात् वह वस्त्र जो यज्ञ के समय पहना जाता हो. यज्ञ शब्द यज्ञ घातु से बना है. इस का अर्थ पाणिनी ऋषि के अनुसार देवपूजा, भले आदमियों के पास बैठना और दान करना है. प्राचीन काल में लोग मुख्यतया दो ही वस्त्र पहनते थे. एक कमर से नीचे अधो वस्त्र, जिसे हम धोती कह सकते हैं और दूसरा कमर के ऊपर ऊर्ध्व वस्त्र, जिसे चावर समझा जा सकता है. भारतीय संस्कृति स्वाध्याय,

हवन, संन्यास, व्रत आदि पवित्र अवसरों पर कमर से ऊपर का भाग नंगा रखने की आज्ञा नहीं देती. बौधायन के अनुसार स्वाध्याय, त्याग, दान, भोजन और आचमन जैसे कामों में ऊर्ध्व वस्त्र अवश्य पहनना चाहिए.

प्राचीन काल में स्वाध्याय आदि यज्ञ के नाम से पुकारे जाते होंगे और इन अवसरों पर चावर के समान ओढ़ा जाने वाला वस्त्र यज्ञोपवीत कहलाता होगा. यह बात केवल हमारे अनुमान तक ही सीमित नहीं है. ‘तैत्तिरीय संहिता’ में कपड़े का विशेष प्रकार से पहनना ही यज्ञोपवीत बताया गया है. आगे पहनने के ढंग को भी स्पष्ट किया गया है: “जब कपड़ा दाहिने हाथ के नीचे और बाएं हाथ के ऊपर हो कर जाता है तो यज्ञोपवीत कहलाता है.”

इतना ही नहीं, वहीं पर वस्त्र के दो विन्यासों प्राचीनावीत और निवीत का भी वर्णन है: “वही कपड़ा यदि बाएं हाथ के नीचे और दाएं हाथ के ऊपर हो कर जाएगा तो प्राचीनावीत कहलाएगा और यदि उसी कपड़े को माला की तरह गले में डाल लिया जाएगा तो वह निवीत कहा जाएगा.”

यज्ञोपवीत वस्त्र के रूप में था, धागों के रूप में नहीं. यज्ञ अर्थात् शुभ कामों के समय विशेष विन्यास के वस्त्र को यज्ञोपवीत कहा जाता है. याज्ञवल्क्य ने भी पवित्र कार्यों के समय ऊपर कपड़ा धारण करने की सलाह दी है: “ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, श्राद्ध, भोजन और अतिथि सत्कार, एक वस्त्र (अधो वस्त्र—धोती) पहन कर न करें.”

आजकल ब्रह्मचारी को उपनयन संस्कार के समय ही पहली बार यज्ञोपवीत दिया जाता है और वह उस के ब्रह्मवर्चस का चिह्न माना जाता है. ‘गोपथ ब्राह्मण’ ने उपनयन के समय ब्रह्मचारी को ऊर्ध्व वस्त्र के रूप में एक सुंदर

मृगचर्म ओढ़ने का आदेश दिया है। संभवतः ये निष्कर्ष निकालने को कहा गया है: "यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वापि कुशरज्जुमेव वा।"

'निगम परिशिष्ट' में द्विजों को छूट दी गई है कि उन्हें कपास, ऊन, गाय के बाल, सन, तिनकों का छिलका—इन में से जिस का मिलना संभव हो, उस का यज्ञोपवीत पहनना चाहिए।

जब घरघर वस्त्र बनने लगे तो मृगचर्म की प्रथा समाप्त कर दी गई। संभवतः इसी दशा को देख कर आपस्तंब और बौधायन ने उपनयन के समय ब्रह्मचारी को ऐसा वस्त्र ओढ़ने का आदेश दिया है। जो उस के घर पर ताजा बना गया हो।

भारत गरम जलवायु का देश है। यहां लोगों को कपड़ा ओढ़ने से गरमी लगती होगी और काम करने में असुविधा होती होगी इसलिए यज्ञोपवीत को वस्त्र के रूप से बदल कर सूत्र रूप में लाने की बात सोची गई। वस्त्र के स्थान पर धागा लटकाने की अनुमति एक साथ नहीं दी गई। 'आपस्तंब धर्मसूत्र' में यज्ञोपवीत के लिए चादर ओढ़ने पर बहुत जोर दिया गया है, विकल्प के रूप में धागा भी रखा गया है।

'जातुकारण्य' ने दो, तीन अथवा चार अंगुल के धागे को वस्त्र की तरह लपेट कर काम चलाने की आज्ञा तभी दी है, जब यज्ञोपवीत के लिए कपड़ा न मिल सके: "वस्त्रोत्तरीया भावे द्व्यंगुलम्, त्र्यंगुलम्, चतुरंगुलम् वा सूत्रवस्त्राकृति परिमंडलम्, तदुत्तरीयं कुर्यात्।"

'ऋग्यश्चंग' ने यज्ञोपवीत के काम के लिए प्रधानता तो मृगचर्म को ही दी है, पर विकल्प में वस्त्र भी रखा है। वस्त्र भी न मिलने पर तीन लड़वाले अथवा तिहरे बंडे हुए धागे से यज्ञोपवीत का काम निकालने को कहा है: "अपि वा वाससा यज्ञोपवीतार्थं कुर्यात्, तदभावे त्रिवृता सूत्रेण।"

'गोपथ गृह्य सूत्र' में यज्ञोपवीत का काम धागा, कपड़ा अथवा कुश की रस्सी

यज्ञमय जीवन का प्रतीक

यज्ञोपवीत मृगचर्म और वस्त्र का रूप बदल कर धागों के रूप में आया। पहले लोग वस्त्र या मृगचर्मरूपी यज्ञोपवीत को यज्ञादि शुभ अवसरों पर पहन कर उतार देते थे। पर इस के सूत्र रूप में हो जाने से लोगों को यज्ञोपवीत बाढ़ में भी पहनने में कोई परेशानी नहीं रह गई। यह भी हो सकता है कि लोगों ने अपने संपूर्ण जीवन को यज्ञमय समझ कर यज्ञोपवीत हर समय पहनना आरंभ कर दिया हो।

धागे के आकार वाले यज्ञोपवीत को सदा पहनने वाले भी शौच लघुशंका आदि अपवित्र कामों के समय उतार देते होंगे। कितना अंतर हो गया दोनों दशाओं में? पहले लोग यज्ञादि पवित्र कार्य करने के समय तक यज्ञोपवीत पहनते थे, शेष समय तंगे रहते थे। बाद में उन्होंने हर समय यज्ञोपवीत पहनना आरंभ कर दिया। केवल अपवित्र कार्यों के समय बिना यज्ञोपवीत के रहने लगे। इस प्रकार बारबार यज्ञोपवीत उतारनेपहनने की असुविधा से बचने के लिए इसे शौच, लघुशंका आदि के समय कान पर चढ़ाने का सरल उपाय निकाला होगा। आजकल बहुत से लोग तो यज्ञोपवीत को बारबार कान पर चढ़ाने उतारने के अतिरिक्त श्रम से बचने के लिए यज्ञोपवीत में गाँठें लगा कर इतना छोटा कर लेते हैं कि वह सदा कमर से ऊपर ही रहे।

जब लोग यज्ञोपवीत को विशेष अव-

सरों पर पहनने के स्थान पर सदा पहनने लगे तो वे यह भूल गए कि ये धागे उत्तरीय वस्त्र के स्थान पर ही लटकाए गए हैं। वशिष्ठ ने यज्ञोपवीतों की संख्या के आधार पर ब्रह्मचारी और स्नातक का भेद कर के दोनों को कपड़े ओढ़ने की भी आज्ञा दी है—स्नातकों के दो यज्ञोपवीत होने चाहिए। उन के ऊपर अंतर्वस्त्र होना चाहिए।

गरमी या हाथपैर न चलने की असुविधा ने चादर ओढ़ने का फिर विरोध कराया तो उस के स्थान पर एक तीसरा यज्ञोपवीत पहनने का विधान कर दिया गया। देवल ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है: “उत्तरीय वस्त्र न मिलने पर उस का काम चलाने के लिए तीसरा यज्ञोपवीत आवश्यक है।”

लाभ विवेचन

यहां तक तो रही स्नातक और ब्रह्मचारी की बात। गृहस्थ का दर्जा तो सभी आश्रम वालों से ऊंचा है, उसे तो और अधिक यज्ञोपवीत पहनने चाहिए। काश्यप ने गृहस्थ को तीन से ले कर दस तक यज्ञोपवीत पहनने की छूट दे रखी है: “गृहस्थ के यज्ञोपवीत तीन, चार, पांच, आठ अथवा दस भी हो सकते हैं।”

‘आदित्य पुराण’ में यज्ञोपवीत पहनने का एक नया लाभ बताया गया है कि इस के पहनने से भूतप्रेत नष्ट हो जाते हैं। फिर क्या था लोगों ने ताबीजों की तरह अधिक लाभ के लिए अधिक यज्ञोपवीत पहनने आरंभ कर दिए। मिश्र मिश्र ने बहुत से यज्ञोपवीत पहनने वाली बात पर भी शास्त्र की मोहर लगा दी: आयुष्कामः सदाधार्यं बहुयज्ञोपवीतम्।” (अधिक अवस्था चाहने वालों को सदा बहुत से यज्ञोपवीत पहनने चाहिए।)

यह है यज्ञोपवीत का इतिहास, जिस के न पहनने पर कोई भी भला आदमी तुरंत पाष का भागी बना दिया जाता

है। यदि यज्ञोपवीत पहनने की वास्तविक और प्राचीन भावना को लिया जाए तो क्या मंले और अशुद्ध बने यज्ञोपवीत पहनने वालों की अपेक्षा सही सिले और ठीक से धुले साफ कपड़े पहनने वाला किसी प्रकार पीछे है?

आजकल जो यज्ञोपवीत पहने जाते हैं, उन का निर्माण और नापतोल का कारण जो बताया जाता है, वह भी कम मनोरंजक नहीं है। यज्ञोपवीत में दूर से देखने पर तीन धागे दिखाई देते हैं। इन तीन धागों का कारण बताया जाता है, यज्ञोपवीत का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णों द्वारा पहना जाना। कुछ लोग इसे तीन आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में पहना जाना भी बताते हैं। यज्ञोपवीत के इन तीन धागों में से प्रत्येक में नौ धागे होते हैं जिन के विषय में बताया जाता है कि पहनने वाले का मार्ग दर्शन ओंकार, अग्नि, भग, सोम पितृ, प्रजापति, वसु, धर्म और सर्वदेव करते हैं।

यज्ञोपवीत बनाने में भी कम कसरत नहीं करनी पड़ती। ‘अपनी चार उंगलियों में तिगुना डोरा लपेट कर 96 चोवे गिन लेने चाहिए अथवा इकहरे सूत्र को चारों उंगलियों में 96 बार लपेट कर बाद में तिगुना या तीन लड़ वाला कर लेना चाहिए।’ अपनी उंगलियों वाली बात से पता चलता है कि अपने प्रयोग के लिए यज्ञोपवीत स्वयं ही बनाना चाहिए। पर आजकल अपने हाथ से बने यज्ञोपवीत पहनने वाले कितने हैं! कुछ को पुरोहित बनेबनाए यज्ञोपवीत दे जाते हैं और कुछ पेशेवर बनाने वालों से खरीद लेते हैं।

96 चौवों का कारण यह बताया जाता है कि वेद की एक लाख श्रुतियों में कर्मकांड की 96 हजार और शेष चार हजार ज्ञान की हैं। इस प्रकार तिहराया हुआ डोरा ऐंठन के बाद भी तिगुना कर के फिर ऐंठा जाता है। इस प्रकार पूरे धागे का जो नौवें से भी कम भाग रह जाता है, उसे फिर तीन गुना कर के

एक विशेष प्रकार की गांठ लगाई जाती है, जिसे लक्ष्मी-पूजा कहते हैं। इस गांठ लगाने से पहले दोनों सिरों में तीन या पांच गांठें लगाई जाती हैं। इस से पता चलता है कि यह व्यक्ति तीन प्रवर वाला है या पांच प्रवर वाला।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में तीन भाग हैं। सब से पहले हम उन्हें लेते हैं जो विधिपूर्वक स्वयं यज्ञोपवीत बना कर पहनते हैं। इन में भी कुछ ऐसे हैं जो यह सब खटारा करने का कारण जानते हैं और अधिकांश ऐसे हैं जो परंपरा समझ कर व्यर्थ श्रम करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो चलते-फिरते लोगों से बने-बनाए यज्ञोपवीत खरीद कर पहनते हैं।

जिन लोगों का व्यवसाय यज्ञोपवीत बनाना है, वे तो दिखाने मात्र को डोरे में गांठ लगा कर दे देते हैं। तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो यज्ञोपवीत नहीं पहनते। धार्मिक दृष्टि से इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कहा जाएगा। पर यदि यज्ञोपवीत के इतिहास पर दृष्टि डाल कर ईमानदारी की बात कही जाए तो तीनों एक ही नाथ पर सवार दीखते हैं। वास्तव में उत्तम वह है जो सफाई रखता है और दूसरों को धोखा

देने के लिए दिखावा नहीं करता।

यज्ञोपवीत पहनने वालों में एक चौथी श्रेणी और रह गई। वह है उन कम पढ़े-लिखे असवर्ण अथवा द्विजतर हिंदुओं की जो संपन्नता तथा अंधविश्वास दोनों के शिकार हैं। ऐसे लोगों में यज्ञोपवीत धारण करने के प्रति अधिक श्रद्धा और प्रदर्शन की अधिकतम लालसा देखी जाती है। पर इन लोगों को यज्ञोपवीत पहनते देख कर धर्म के ठेकेदारों को उस से भी अधिक बेचैनी होती है, जो द्विजों को बिना यज्ञोपवीत वाला देख कर हुआ करती है।

अगर कोई सज्जन केवल चाबी बांधने के लिए यज्ञोपवीत पहनते हैं तो उन से मुझे कुछ नहीं कहना। पर जो यज्ञोपवीत न रहने पर बोलना बंद कर देते हैं, चलते नहीं हैं, भोजन नहीं करते हैं और दूसरों को यज्ञोपवीत न पहने देख कर पापी करार दे देते हैं उन से यही निवेदन है कि ऐसा करने से पहले इन तीनों धागों की वास्तविकता समझ लें। रहे न पहनने वाले, उन्हें किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं करना चाहिए। वे इतने साफ कपड़े कमर से ऊपर पहनते रहें जिन से शर्जनों यज्ञोपवीत बन सकें। ●

पूँजीपति बनिए

आज पूँजी, पूँजीपति, पूँजीवाद—घृणा के प्रतीक हैं। किसी को गाली देनी हो या किसी समाज की भत्सना करनी हो तो उसे पूँजीवादी करार दे दीजिए, मानो पूँजी ही सारी मुसीबतों की जड़ हो।

धर्म के धंधेबाजों ने भी सर्वत्र पूँजी यानी धन की बुराई की है, पर किसी धर्म के सौदागर ने इस को पाने की इच्छा नहीं त्यागी।

इस जीवन में, खूनपसीना बहा कर प्राप्त किए गए धन का (बेईशानी, जोर-जबरदस्ती द्वारा प्राप्त धन के लिए यहां भी खूनपसीना बहावा पड़ता है) क्या करें? धर्म के धंधेबाजों को बांट दो, क्यों? भगवान खुश होंगे, तो क्या धन कमाने वाले के पास धन देख कर भगवान नाराज होंगे, और जो व्यक्ति धन कमाने वाले को बेवकूफ बना कर उस का धन छीन ले उस के पास देख कर खुश होंगे?

फिर भगवान व धर्म के धंधेबाजों एवं राजनीतिबाजों के चलेचमचों में क्या अंतर हुआ?

उधर राजनीतिबाज कहते हैं, “धन तो ठीक है, पर जब वह पूँजी बन जाता है तो घृणायोग्य बन जाता है।” पर क्या बिना पूँजी इस संसार का कोई भी काम चल सकता है?

जब मानव और आगे बढ़ता है तो उसे उद्योगों के लिए पूँजी चाहिए। बिना पूँजी कौन सा उद्योग चल सकता है? आज स्थिति यह है कि एक व्यक्ति को रोजगार में लगाने के लिए कम से कम 10,000 रुपए की पूँजी चाहिए। बिना पूँजी मानव न कभी जिंदा रहा है, न रह सकता है। रोजगार बिना पूँजी के नहीं हो सकता। बिना रोजगार गरीबी नहीं

पिटती। मानसिक व शारीरिक सुख बिना पूँजी नहीं मिल सकता।

पूँजी धन संजय किए बिना नहीं बनती। धन बिना सेहनत किए नहीं आता। और आसानी से कम खर्च किए बिना धन पूँजी नहीं बन सकता। व्यक्ति ही पूँजी बनाता है, वह ऊपर से नहीं टपकती। सरकार (यानी राजनीतिबाज) उसे जगत कर सकती है, नष्ट कर सकती है, पर बना नहीं सकती।

पूँजी तो व्यक्ति ही बनाता है। जब तक उसे पूँजी बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाएगा, तब तक न देश में रोजगार बढ़ेगा, न बेकारी कम होगी और न ही समृद्धि आएगी।

जिस देश में करोड़ों लोगों को भरोपेट भोजन न मिलता हो, वहां पूँजी और पूँजीपतियों को गालियां दे कर राजनीतिबाज उन्हें बेवकूफ तो बना सकते हैं पर उन का पेट नहीं भर सकते। उन का पेट तो तभी भरेगा, जब देश में पर्याप्त कलकारखाने और उद्योगधंधे होंगे। और वे तब होंगे जब देश में पर्याप्त पूँजी होगी। याद रखिए, पूँजी और गरीबी का आपस में बैर है। पर राजनीतिबाजों ने उसे गरीब और पूँजीपति का बैर बना दिया है।

पूँजी बनाइए, पूँजीपति बनिए। पूँजी व्यापारउद्योग में लगाइए, स्वयं काम में लगिए। दूसरों को रोजगार दीजिए। यदि व्यक्तिगत पूँजीवाद से आप को चिढ़ है तो सरकार को ही उधार दीजिए—बैंक में धन जमा कर के, सरकारी बांड, सेविंग सर्टिफिकेट खरीद कर। बंसे समाजवाद यानी सरकारी पूँजीवाद से कोई समृद्ध नहीं बन सकता। इस से केवल राजनीतिबाज ही समृद्ध और शक्तिशाली बनता है।●

पूँजी बनाइए, नए रोजगार पैदा कीजिए, देश को समृद्ध कीजिए।

जंत्रतंत्र मंत्र

अनंतराम दुबे 'प्रभात'

चमत्कारी व ठगी का दूसरा नाम

भूतप्रेत और उन के नाम पर जंत्रमंत्र, झाड़ाफूँकी आदि धोखाधड़ियों ने आज भी भारतीय जनजीवन को वस्तु कर रखा है। यद्यपि शिक्षा प्रसार के साथ-साथ भूतप्रेत संबंधी मान्यता धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है, तथापि आज भी करोड़ों लोग इन पर विश्वास करते हैं। उन का विश्वास झाड़ाफूँकी करने वाले ओझा और गुनिया लोगों द्वारा प्रदर्शित चमत्कार (?) के ही कारण कायम है, अन्यथा भूतप्रेत देखे ही किस ने हैं! आइए, हम आप को बताते हैं कि ये झाड़ाफूँकी और मंत्रजंत्रों के चमत्कार क्या हैं।

जंत्रतंत्रमंत्र : धोखाधड़ी के स्वचालित यंत्र

भूतप्रेत और मंत्रों की सिद्धि हेतु इस लेखक ने बहुत वर्षों तक पापड़ बेले हैं और अपने जीवन का बड़ा भाग ओझाओं और जादूटोना करने वालों के चक्कर काटने और ज्ञान (?) प्राप्त करने में गुजारा है। मेरी यह प्रेतविद्या की अनुभव-गाथा मनोरंजक तो है ही, साथ ही झाड़ाफूँकी के नाम पर की जाने वाली ठगी का भी भंडाफोड़ करती है।

सन 1950 में छिदवाड़ा (मध्य प्रदेश) में मेरा परिचय मेरे एक वैद्य मित्र ने एक तांत्रिक टिकले से कराया। मुझे बताया गया कि वह तांत्रिक तो है ही, उस का

पिता भी बड़ा पहुंचा हुआ गुनिया है। बड़े-बड़े मंत्र उस ने सिद्ध किए हैं। टिकले ने बताया कि वह गुजरात के किसी बड़े जादूगर के साथ कई वर्षों तक रहा है और जादू, जंत्रमंत्र आदि सीखे हैं। ऐसी कुछ स्थिति बनी कि प्रायः नित्य ही मैं और टिकले सायंकाल दोतीन घंटे साथ ही साथ घूमते या सिनेमा जाते। परिचय बढ़ने पर मैं ने प्रेतविद्या और झाड़ाफूँकी सीखने की इच्छा व्यक्त की। बड़ी मिन्नत, खुशामद और आनाकानी के बाद उस ने हमों भरी, और मुझे एक मुसलमानी मंत्र लिखाया जो बहुत बड़ा है। उस ने बताया कि मुसलमानी मंत्र से हिंदुओं के देवीदेवता और भूतप्रेत बहुत डरते हैं। ऐसी कोई शै नहीं जो इस मुसलमानी मंत्र न हटे।

उस ने कहा कि मुसलमानी मंत्र सिद्ध भी जल्दी हो जाते हैं। हिंदुओं के मंत्रों की सिद्धि कठिन होती है। उस ने मुझ से कहा कि मैं घर में मिट्टी की छोटी मजार बना कर उस पर हरा कपड़ा (हरी चादर) बिछा कर धूप, अगरबत्ती, लोबान और इत्र का फाहा चढ़ा कर उस लिखित मंत्र को नित्यप्रति आठ बार पढ़ और ऐसा 21 दिनों तक करता रहूँ। उस ने कहा था कि इक्कीसवें दिन एक सफेदपोश लंबी सफेद दाढ़ी वाला पीर स्वप्न में दिखेगा। उस का दर्शन इस बात का सुबूत होगा कि पीर साहब सिद्ध हो गए। इक्कीस दिनों तक हम ने बड़ी निष्ठा के साथ मंत्रसिद्धि हेतु

मंत्रपाठ किया और इक्कीसवें दिन रात्रि को पीर साहब की अर्पणागुप्त। Digital Library of India. Reserving the rights of the copyright owner. कि मरीज रात्रि को हमें स्वप्न में पीर साहब दिख गए. टिकले ने फतवा दे दिया कि रात्रि को मुझे मंत्र सिद्ध हो गया. अब मैं संसार के बड़े से बड़े भूतपिशाचों के कान पकड़ कर नचा सकता हूं और ऐसा मौका दोचार दिन बाद ही मिल गया.

हमारा उस्ताद झाड़नेफूंकने के लिए उस इलाके में काफी प्रसिद्ध था. एक दिन एक आदमी ने अपनी जवान पुत्री की प्रेतबाधा हटाने की उस से प्रार्थना की. उस ने कहा कि यह बंगाल की मंत्रविद्या जानते हैं. कल इन्हें ले कर आऊंगा, इन का चमत्कार देख कर आप भी दंग रह जाएंगे. बाद में उस ने मुझे कुछ रहस्यमयी बातें बताईं, जिन का इस विद्या की हकीकत से काफी संबंध था.

मानसिक संतुलन बिगड़ना

उस ने कहा, "इस धंधे में मनो-वैज्ञानिक प्रभाव ही मुख्य रूप से कार्य करता है. ओझा का हर एक कार्य प्रभाव डालने वाला होना चाहिए. उदाहरण के लिए पोशाक. यदि आप कोटपेंट पहन कर कहीं झाड़नेफूंकने करने जाएंगे, तो उस का कोई प्रभाव न तो दर्शकों पर ही पड़ेगा और न उस मरीज पर जिसे आप ठीक करने जा रहे हैं, अतः पोशाक रूढ़िवादी और भयानक होनी चाहिए. सिर घुटा हो, शरीर खुला रहे, उसे तेल की मालिश कर चकचका दिया जाए, एक हाथ में सोटा या चिमटा, दूसरे में मुँद की खोपड़ी हो तो इस का एक बड़ा प्रभाव पड़ता है. यह नहीं कर सकते तो ढीलाढाला लंबा कुरता और लुंगी पहन सकते हैं. मुंह पर राख और चंदन पोत सकते हैं. हाथों में दसपांच लोहे के कड़े और गले में दसपांच माला पड़ी रहें. भुजाओं में और गले में दोचार ताबीज लटके रहें. दूसरी आवश्यक बात है धूप, लोबान, अगारबत्ती, गूल आदि का अधिक

मात्रा में जलाया जाना और खूब धुआँ की नासिका के द्वारा भीतर तक पहुंचता रहे. टिकले ने बताया कि इन चीजों का धुआँ कुछ जहरीला होता है और उस के प्रभाव से आदमी का सिर चकराने लगता है.

झाड़फूंक करने वाले इस कारण ही लोबान, धूप, अगारबत्ती का बहुत उपयोग करते हैं. इन के धुएँ से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, आदमी का सिर हिलने लगता है और इस स्थिति को 'भाव' आने की स्थिति कहा जाता है. इस स्थिति में चूँकि मरीज का मानसिक संतुलन कायम नहीं रहता, वह पूछे गए प्रश्नों का कुछ भी उत्तर देता जाता है. वह खुद भी नहीं जानता कि वह क्या बोल रहा है. प्रेतपीड़ित व्यक्ति को बकराने (बोलने के लिए मजबूर करने और बोलवाने) का यह ही रहस्य है और ओझा लोग थोड़े से अभ्यास से ही यह गुण प्राप्त कर लेते हैं.

जैसा काम : वैसा दाम

टिकले का झाड़नेफूंकने का तरीका मैं पहले ही देख चुका था, अतः मैं ने उस की उपस्थिति और मार्गदर्शन में झाड़ने की बड़े जोर की तैयारी की. मैं जिंदगी में पहली बार छिदवाड़ा में एक लड़की की प्रेतबाधा हटाने के लिए ओझा के रूप में बैठा. मेरे और मरीज के बीच तीनचार फुट का अंतर था. मरीज को उकड़ूँ बैठा दिया गया था और उस के दोनों हाथ सामने जमीन पर पोले रख दिए गए थे. बीच में सात प्रकार के अनाज के मिश्रण की सात ढेरियाँ लगा दी गई थीं जो प्रेतों की सात श्रेणियों की प्रतीक थीं. ऐसा माना जाता है कि मरीज पर जिस श्रेणी का प्रेत रहता है, उस का हाथ आप ही आप चल कर उस ढेरी पर एक जाता है. ओझा उस पर से यह पता

लगा लेता है कि इसे कौन प्रेत है—जिन्न है, चुड़ैल है या ब्रह्मराक्षस है और फिर जैसा देवता वसी पूजा. उसी हिसाब से ओझा उसे निकालने का पारिश्रमिक और सामग्री मंगवाता है.

प्रारंभिक जांच : मनोवैज्ञानिक कमाल

टिकले ने मुझे घर से चलते समय कह दिया था कि हाथ चलवा देने के बाद यह कह देना कि इसे पड़ोस की चुड़ैल लगी है.

इस तरह मैं ने झाड़ाफूँकी आरंभ की. मंत्रोच्चार के बीच खूब धूप, लोबान जलाया और अपने पीर साहब को आदेश दिया कि इस लड़की पर जो शै है उसे पकड़ कर लाएं और इस के हाथों को बढ़ा कर हमें बताएं कि वह कौन है. मैं लगातार मंत्र पढ़ता गया और लोबान, धूप का धुआं मरीज के मुंह पर मारता रहा. थोड़ी ही देर में उस के हाथों में कंपन हुआ. मैं ने कहा, "ठीक है, हाथ आगे बढ़ाओ." उस ने हाथ कुछ आगे बढ़ाए. मैं ने कहा, "और आगे बढ़ाओ, रुको नहीं चलने दो." मैं स्वयं आश्चर्यचकित था कि हाथ आगे बढ़ते गए, और एक ढेरी पर पहुंच कर अपनेआप रुक गए, परंतु मेरे विचार से यह ढेरी ब्रह्मराक्षस की होनी चाहिए थी, लेकिन टिकले ने कहा था कि हाथ कहीं भी जाएं, तुम चुड़ैल का प्रकोप बताना, लिहाजा मैं ने फतवा दे दिया कि इस लड़की को चुड़ैल लगी है. यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जब मेरे मंत्र पढ़ने पर उस लड़की के हाथ आप से आप चलने लगे थे तो दर्शक यह देख कर चकित रह गए थे. टिकले भी संकेतों द्वारा आश्चर्य प्रकट कर रहा था और दर्शकों पर यह धाक जमा रहा था कि देखा, कैसा प्रत्यक्ष कमाल है, हाथ आप के आदमी के हैं, हम तो चलाते नहीं, वे मंत्र के बल से चलते हैं.

यह प्रारंभिक जांचपड़ताल हो जाने

के बाद जब दर्शक चले गए और केवल मरीज लड़की तथा उस के मातापिता रह गए तब टिकले ने कहा कि पड़ोस में जो बेरी का झाड़ है, उस में एक चुड़ैल बहुत दिनों से रहती है. यह लड़की एक बार रात्रि को जब लघुशंका करने बाहर निकली थी तब वह चुड़ैल इसी मकान की बाड़ी में घूम रही थी. उस की छाया इस लड़की पर पड़ गई. वह चुड़ैल इस से प्रसन्न है और इसे अपनी सहेली बनाना चाहती है. टिकले ने कहा कि आप चुड़ैल को भगाने के लिए जरूरी सामान मंगवा लीजिए, ये डाक्टर साहब (यानी मैं) कल उसे बकराएंगे और भगा देंगे. टिकले ने सामग्री की एक लंबी फेहरिस्त बना कर दे दी, जिस में अंडे, मुरगी, शराब आदि थे.

मैं ने रास्ते में टिकले से पूछा कि उस्ताद तुम अभी से यह कैसे जान गए कि वह पड़ोस की चुड़ैल है और किस प्रकार उस लड़की पर आ गई. टिकले उस्ताद ने हंस कर बात टाल दी और कहा कि देख लेना, कल वह यही बकरेगी. मैं ने कहा कि हाथ तो उस का ब्रह्मराक्षस की ढेरी पर गया था, आप ने चुड़ैल कैसे कहलवा दिया तो उस ने कहा, "परिस्थिति देख कर बात करनी पड़ती है. जो ठीक समझो कह दो, ढेरियां तो लोगों को दिखाते के लिए होती हैं."

टिकले के इस उत्तर से मुझे संतोष नहीं हुआ. परंतु दूसरे दिन फिर मैं ने ओझागिरी की और उस्ताद के निर्देशानुसार पूजा प्रारंभ की. मंत्र पढ़ कर अपने पीर साहब को हुक्म दिया कि इस लड़की पर जो चुड़ैल है उस को पकड़ कर लाओ और बुलवाओ. जब धूप, लोबान, अगर-बत्ती के धुएं के कारण उस लड़की का मानसिक संतुलन खो गया और सिर हिलने लगा तो हम समझे हमारे पीर साहब चुड़ैल को पकड़ लाए. हम ने कड़क कर पूछा, "वह कौन है?" तो उस लड़की ने जवाब दिया, "चुड़ैल." हम ने पूछा, "कहां की, क्यों आई?" तो उस ने वही

बातें दोहरा दीं जो टिकले ने उस की उपस्थिति में कल कही थी। हम ने चुड़ैल की भाग जाने का आदेश दिया। उतारा किया। और मैं और टिकला उस उतारे को बेर के नीचे छोड़ आए। टिकले ने पूजा के लिए लाई गई शराब और अंडों का सेवन किया और पूजा की सामग्री में जो भी काम की चीजें थीं, उन्हें टिकले उठा ले गया। हम ने लड़की के मुंह पर पानी के छोटे मारे और वह प्रकृतिस्थ हो गई। पानी के छोटे पड़ने पर लोबान व धूप के जहरीले धुएं का असर समाप्त हो जाता है। यह हमारा झाड़ाफूँकी का प्रथम प्रयास था।

इस घटना के बाद हम ने बहुत सी महिलाओं के भूत हटाए। मैं अभी भी कभीकभी यह करिश्मा दिखा देता हूँ। परंतु अब मैं इस बारे में निश्चित हूँ कि भूत-प्रेत बाधा कुछ नहीं होती, यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव और प्रतिक्रिया है। एक बार मैं बिलकुल ही स्वस्थ आदमी के हाथ चलवाने और उसे बकरवाने में सफल हो गया। वह भी बड़ा दिलचस्प किस्सा है। सच पूछिए तो उस घटना के बाद से ही इस संबंध में मेरी पूरी आस्था समाप्त हो गई।

ढोल की पोल

टिकले ने बहुत दिनों के बाद इस धंधे के रहस्यों का उद्घाटन करते हुए बताया, “मंत्र में कोई ताकत नहीं है। कबीरदास ने कहा है, ‘जंत्रमंत्र सब झूठ हैं, भूत भरमो जग कोय.’ स्वामी दयानंद सरस्वती ने कहा है कि यदि मंत्र में आग जलाने की शक्ति होती तो पहले आग उस जीभ में ही लग जाती जो मंत्रों का उच्चारण करती है। मंत्रों के शब्द भी ऊटपटांग रहते हैं, जिन का कोई खास अर्थ नहीं। शब्दों में कोई शक्ति नहीं। लोग कहते हैं कि फलां मंत्र पढ़ देने भर से ही दुश्मन मर जाता है। ऐसा दावा करने वालों से कहिए कि आदमी तो दूर रहा, मंत्र पढ़

कर सामने चर रही मुर्गी को ही मार कर दिखा दीजिए। यह कुछ नहीं कर सकेगा।

मंत्रसिद्धि के लिए काफी कड़ी शर्तें रखी जाती हैं, ताकि बहुत ही कम लोग उन्हें सीखने की हिम्मत करें। इस से दो लाभ हैं। एक तो यह कि मंत्रसिद्धि के लिए काफी मेहनत कराने के कारण शिष्य के मन में मंत्र और अपने कार्य के संबंध में आस्था बनी रहती है। दूसरे वह समझता है कोई बड़ा पवित्र और महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। वह बड़ी लगन से उस कार्य में जुटा रहता है। यदि ये कड़ी शर्तें न रखी जाएं तो कोई उन पर विश्वास नहीं करेगा। दो पैसे वाली होमियोपैथिक दवा का सहसा उतना विश्वास नहीं किया जाता जितना दो रुपए के एलोपैथिक कैप्सूल का। जब रोज दसपांच रुपए दवा में खर्च होते हैं तब ही यह महसूस होता है कि हां इलाज हो रहा है।

भूतप्रेत बाधा से अधिकतर महिलाएं ही पीड़ित देखी जाती हैं। पति या सास-ससुर को तंग करना हुआ तो भूत लगने का बहाना कर लिया और उसी बहाने खूब खरीखोटी सुना ली और व्यर्थ ही खूब खर्च में डाल दिया। कुछ महिलाएं अपने ऊपर देवियों बुला लेती हैं, उन पर देवी आ जाती है। अनपढ़ और अशिक्षित नरनारी उस की पूजा करने लगते हैं। महिलाएं शक्की भी ज्यादा होती हैं। यदि संतानहीन महिला से कोई यह कह दे कि किसी स्त्री ने द्वेषवश जादूटोना कर उसे बांझ बना रखा है तो वह शीघ्र विश्वास कर लेगी और झाड़ाफूँकी जंत्रमंत्र के चक्कर में फंस जाएगी।

प्रेतबाधा की आशंका उस समय भी की जाती है जब कोई मरौज बहुत इलाज कराने पर भी अच्छा नहीं होता और जब ‘मर्ज बढ़ता ही गया ज्योंज्यों दवा की।’ ऐसी स्थिति में यह माना जाता है कि प्रेत दवाई चाट जाता है। अतः अमृक व्यक्ति को दवा नहीं लग रही है।

प्रेत का बोलना क्या है?

टिकले द्वारा बताई गई विधि के अनुसार मरीज के हाथ चलवा कर यह सिद्ध किया जाता है कि उसे प्रेतबाधा है। परंतु हाथ चलाने का यह करिश्मा कोरा फ्राड है। मरीज को उकड़ूँ बैठा दिया जाता है और सामने हाथ रखवा दिए जाते हैं। जब लोबान और गूलधूप आदि के विपैले धुएं से मरीज का सिर चकरा जाता है, तो उस के संपूर्ण शरीर के साथ ही हाथों में भी कंपन शुरू हो जाता है। उस का लाभ उठा कर ओझा कहता है, “हां, ठीक है, हाथ चलने दो, रोको नहीं, हाथ बढ़ाओ।” और मानसिक संतुलन बिहीन वह मरीज हाथ बढ़ाता जाता है।

घरवाले संतुष्ट : ओझा की फीस पृष्ठ

टिकले का और मेरा अनुभव है कि 90 प्रतिशत मामलों में मरीजों के हाथ आप ही आप चल जाते हैं और ओझा गुनिया रंग जमा लेता है। यदि किसी के हाथ नहीं ही चले तो ओझाजी कह देते हैं, “भाई, आप का भ्रम है। इसे कोई प्रेत-बाधा नहीं है।” हाथ चला तो ठीक, नहीं चला तो भी ठीक। ओझा की फीस दोनों स्थितियों में पक जाती है।

प्रेत के बकरने का कारण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। जिस पर भी प्रेत लगने की चर्चा होती है, उस के घर में उस प्रेत-बाधा के संबंध में कोई न कोई धारणा बना ही ली जाती है। उदाहरणार्थ यदि किसी के घर के पास पड़ोस में पीपल या बड़ का वृक्ष हुआ तो वे सोचने लगते हैं कि शायद ब्रह्मादेव लग गए हैं। यदि पड़ोस में कोई बुधमन रहता है तो यह शक कर लेते हैं कि उस ने कोई टोनाटोटका कर दिया होगा। घर और पड़ोस की महिलाएं तरह-तरह की चर्चा उस मरीज की मौजूदगी में करती हैं और वह मरीज सब सुनता रहता है। वे बातें उस के दिमाग में घर

का जाती हैं और जल्दबाजी धूप, लोबान, मिर्ची आदि की धूनी दे कर उस का मानसिक संतुलन गड़बड़ा देता है और पूछता है कि वह कौन है तो वह दिमाग में बैठी बातें बक देता है। कोईकोई ओझा बहुत मारपीट करते हैं, मिर्ची आंखों में लगाते हैं। अतः पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए भी वह कुछ भी बोलने लगता है।

एक बार टिकले ने एक मरीज के हाथ तो चलवा दिए किंतु वह उसे बकरवा (बुलवा) नहीं सका। जब बहुत कोशिश करने पर भी वह कुछ न बोली तो उस ने कहा, “जीभ दिखाओ।” उस ने जीभ दिखा दी और टिकले ने फतवा दे दिया कि इसे ऐसा भूत लग गया है, जो शिशु था, जो बोलना नहीं जानता। अतः यह बोलेगा नहीं। लीजिए, कैसा अच्छा तरीका रहा। घर वाले भी संतुष्ट हो गए और ओझा का काम भी सिद्ध हो गया। जो दिनरात यही धंधा करते हैं वे फौरन ऐसी बातें बना लेते हैं और स्थिति संभाल लेते हैं।

झाड़ाफूंक के अनेक तरीके होते हैं। यों कहिए कि जितने गुनिया उतने तरीके, पर यह गांठ बांध लीजिए कि सब कुछ फ्राड है, धोखा है। भूतप्रेत कुछ नहीं होता, जंत्र-मंत्र में कोई शक्ति नहीं होती। भूतप्रेत के अस्तित्व का दावा करने वालों से आप पचीसों किस्म के किस्से सुनेंगे। गुनिया ओझा प्रेतसिद्धि का दावा करेंगे, लेकिन कोई आप को भूतप्रेत दिखा नहीं सकेगा। आप उन्हें चैलेंज कीजिए कि यदि आप के मंत्र में भूतप्रेत को बुलाने की ताकत है तो मुझ पर बुलाइए, इस कुत्ते या जानवर पर बुलाइए और इसी समय बुलाइए। ऐसा नहीं हो सकता कि मंत्र में किसी स्थान में या खास समय पर ही ताकत आती है। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण मंत्र वालों को चुनौती दीजिए कि अभी इसी समय मेरे सामने किसी जानवर को, सुर्मा या कुत्ते को मारिए या वशीभूत कीजिए। आप जितनी निर्भीकता से चैलेंज करेंगे

गुनिया और अश्विनी तारपत्रिका से संतों के हृदय को बसाया जाता तो भागते नजर आएंगे।

दृढ़तापूर्वक चुनौती दीजिए

कुछ लोगों की धारणा है कि मंत्र द्वारा कुत्ता, सांप, बिच्छू आदि के काटने का इलाज किया जा सकता है, परंतु यह भी बहुत बड़ा भ्रम है। मंत्र से जहर दूर नहीं हो सकता। याद रखिए सब सर्प जहरीले नहीं होते, बल्कि सर्प विशेषज्ञों की तो राय है कि 10-15 प्रतिशत सर्प ही विषैले होते हैं। अधिकतर बिना जहर वाले सांप ही काटते हैं और उन के काटे ही झाड़ाफूँकी पर अच्छे हो जाते हैं। यदि उन की झाड़ाफूँकी न भी होती तो भी वे मरते नहीं, और जिसे विषैले सर्प ने डसा है उसे झाड़नेफूँकने से भी नहीं बचाया जा सकता। ऐसे लोगों के बारे में झाड़ने वाला कह देता है कि बहुत देर कर दी आप ने। अब तो सारे शरीर में विष फैल चुका है। इसी प्रकार बिच्छू और कुत्ते आदि के काटने की स्थिति है। सब विषैले नहीं होते, अतः जिन पर जहर चढ़ा ही नहीं वे ही बच जाते हैं और उन के बचने का श्रेय झाड़ाफूँकी ले लेती है।

आवश्यकता वैज्ञानिक दृष्टिकोण की

मंत्रों में कोई शक्ति नहीं है, यह गांठ बांध लीजिए। यदि मंत्रों में शत्रु को मारने की ताकत होती तो भारत के दुश्मनों को वे मार कर क्यों नहीं नष्ट कर देते।

अकाल न पड़ते, गरमी में लोग बूंदबूंद पानी को नहीं तरसते। मंत्रों के बड़े चमत्कार बताए गए हैं और आज भी पंडे-पुजारी, धर्म के ठेकेदार उन के चमत्कारों का गुण बखान करते नहीं अघाते। परंतु है भारत में कोई माई का लाल जो भारत के दुश्मन नंबर एक और दो को मार सके। पौराणिक पंडे कहते हैं मंत्रों में ताकत है, आदमियों में ही ताकत नहीं रही।

माना कि हम साधारण आदमियों में मंत्रसिद्धि की क्षमता नहीं, लेकिन धर्म-ध्वजी शंकराचार्य, करपात्री, स्वरूपानंद, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी आदिआदि में भी मंत्र-सिद्धि की शक्ति नहीं तो फिर किस में हो सकती है? मंत्रतंत्रों में कोई शक्ति नहीं। मंत्रों के बल पर हवनपूजन कर के ब्राह्मण, पुरोहित रोजीरोटी चलाते थे और आज भी चलाना चाहते हैं। मंत्रों में न पहले ताकत थी और न आज है। मंत्रतंत्र और जादूटोने की आड़ में हाथ की सफाई, टिक और चारसौबीसी का ही बोलबाला है। जहां आप अस्वाभाविक, अप्राकृतिक घटना होती देखें, वहां फ्राड समझें और शंका करें। रहस्य जानने का प्रयत्न करें। वस्तुस्थिति कुछ ही दिनों में आप ही प्रकट हो जाएगी। अब ऐसी बातों पर श्रद्धा करने के दिन गए, अब तो शंका करने की जरूरत है।

‘जन्ममंत्र सब झूठ है मत भरमो जग कोय।’

यह वैज्ञानिक युग है और हमें हर चीज को वैज्ञानिक दृष्टि से ही देखना चाहिए। ●

कर्म योग

वीणा अग्रवाल

गीता के सिद्धांत आज कहां तक व्यावहारिक हैं?

हिंदुओं के जीवन में गीता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस में लिखे हुए वाक्य को हिंदू लोग ब्रह्मवाक्य मानते हैं। उस में कृष्ण द्वारा बताए गए सिद्धांतों को लोग श्रद्धा से सिर नवाते हैं। आध्यात्मिकता, योग पुरोहितवाद, चतुर्वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धांतों के अलावा गीता ने हमारे लिए एक और सिद्धांत प्रतिपादित किया है और वह है अलिप्तता। गीता और भागवत में इस सिद्धांत की पूरी तरह से विवेचना की गई है। सच तो यह है कि गीता में तो अलिप्तता को मनुष्य के सारे कार्यकलापों की कसौटी ही बना दिया गया है। रोजमर्रा हम जो कुछ काम करें, उन्हें निर्लिप्त हो कर करें, यही शिक्षा गीता ने दी है।

क्या आज के बदलते जीवन में इस सिद्धांत की मदद से हम शांति, सुख और सफलता प्राप्त कर सकते हैं? क्या इस सिद्धांत को रोजमर्रा की जिंदगी में ढालना संभव है? इन सब प्रश्नों के उत्तर देने से पहले हमें यह समझना जरूरी है कि इस अलिप्तता का अर्थ क्या है? गीताकार ने पांचवें अध्याय में कहा है:

“जिस का मन सांसारिक सुखों से अलिप्त रहता है, वह मनन के द्वारा आत्मिक सुख प्राप्त करता है। मनन के द्वारा ब्रह्म से मिल कर योगी शाश्वत आनंद का अनुभव करता है। जिस ने कर्म के फल का त्याग नहीं किया है उस के

लिए कर्म के तीन फल होते हैं—अच्छा, बुरा और मिलाजुला। जो कर्म के फल से अलिप्त हो गया है, उस के लिए कोई भी फल नहीं है।

आगे चल कर गीता में इस अलिप्तता के सिद्धांत को और अच्छी तरह से समझाया गया है :

पंचैतानी महाबाहो कारणानि निबोध मे, सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व-कर्मणाम्। अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्, विविधाश्च पृथक्चेष्टा दवं चैवात्रपंचमम् शरीरवाड्। मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः, न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचंते तस्य हेतवः। तत्रैवं सति कतरि-मात्मानं केवलं तु यः, पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः। यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, हत्वापि स इमाल्लो-कान्न हंति न निबध्यते। (गीता . अध्याय 18 : श्लोक 13-18)।

(हे अर्जुन, किसी भी काम को पूरा करने के लिए सांख्य शास्त्र में पांच कारण बताए गए हैं जिन से सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। ये कारण हैं—शरीर, जीवात्मा, विभिन्न अंग, तरहतरह के काम और भाग्य। मनुष्य जो भी शरीर, वाणी और मन से कार्य करता है, चाहे वह सही हो अथवा गलत, उस के ये ही पांच कारण हैं। जिस की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, वह समझता है कि वह काम करने वाला है। लेकिन जिस के मन में कर्त्तव्य

का भाव नहीं है, जिस की बुद्धि सांसारिक वस्तुओं में लिप्त नहीं है, वह चाहे तो सारी मानव जाति को मार डाले, वह मारने वाला नहीं है और न ही वह पापी है।)

यह कैसी आस्था है?

संक्षेप में जो व्यक्ति फल की इच्छा से और सांसारिक सुखों को पाने के लिए कर्म करता है, वह पापी है। जो व्यक्ति यह सोच कर कर्म करता है कि वह तो केवल साधन मात्र है और वह फल की आशा छोड़ कर सांसारिकता से अलिप्त हो कर कर्म करता है (चाहे वह हजारों आदमियों को मौत के घाट उतार दे), वह पापी नहीं है। दूसरे शब्दों में, अलिप्तता के लिए यह जरूरी है कि काम करने वाला फल की आशा न करे, जो भी कामकाज वह करे उस का उद्देश्य सांसारिक सुख की प्राप्ति न हो, तथा जो भी काम वह करे और जो भी उस का फल मिले, उसे वह भगवान को अर्पित कर दे।

काम करना जीवन है, काम न करना मौत है। कर्म के तीन अंग होते हैं—काम करने वाला, काम का उद्देश्य और उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिए साधन। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी काम को पूरा करने के लिए साधक, साध्य और साधन के सुंदर मिलन की जरूरत है। यह मिलन तभी संभव हो सकता है जब कि इस के पीछे फल पाने की लगन हो इस लगन के अंग हैं—शक्ति, रुचि, एकाग्रता, तन्मयता, स्थिरता तथा परिश्रम। इन के बिना संसार में कोई भी महत्वपूर्ण काम पूरा नहीं किया जा सकता।

हमारे कार्यों का लक्ष्य क्या हो? इस के विषय में हिंदू धर्म को छोड़ कर संसार के लगभग सभी धर्म और दर्शन शास्त्र एकमत हैं। इन के विचार से स्वतंत्रता, शांति, न्याय तथा मानव प्रेम हमारे काम

के उद्देश्य हैं। किंतु हिंदू धर्म के अनुसार आदमी जो भी काम कर उस का एक ही उद्देश्य हो—निर्गुण अथवा सगुण ब्रह्म। इस के बाद आता है इन उद्देश्यों तक पहुंचने के मार्ग। इन के विषय में अलग अलग धर्मों में काफी मतभेद है। आर्थिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, मानसिक आदि उपायों के द्वारा अलगअलग धर्म और वर्ग के लोग अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं।

लेकिन हिंदू धर्म के अनुसार अपनी मंजिल तक पहुंचने के लिए अलिप्तता सब से महत्वपूर्ण साधन है। आदर्श व्यक्ति अलिप्त होता है। अपनी पुस्तक 'एंडस एंड मींस' में आल्डस हक्सले ने अलिप्तता का विवेचन किया है। उन के अनुसार जो आदमी निलिप्त है, वह शारीरिक आवश्यकताओं, शक्ति तथा संग्रह की प्रवृत्ति, इच्छा, क्रोध, भय, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि सब से कोई सरोकार नहीं रखता। उसे इन सब से कोई वास्ता नहीं रखना चाहिए।

क्या आज की तेजी से बदलती हुई जिंदगी में इस सिद्धांत से हमें कोई मदद मिल सकती है? आज का इनसान निराश है, भयभीत है, समस्याओं से घिरा हुआ है। उस के सामने आर्थिक संकट है, युद्ध की विभीषिका उस की जिंदगी के लिए खतरा बनी हुई है। यही नहीं, आज का इनसान झूठ, छल, फरेब, बेईमानी, ठगी और बेईसाफी के जालों में बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। क्या निलिप्तता का यह सिद्धांत मनुष्य की इन समस्याओं को हल करने में उस की कुछ मदद कर सकता है? मेरे खयाल में नहीं। अलिप्तता के इस सिद्धांत में कितनी अव्यावहारिकता, कितनी अकर्मण्यता, कितनी हिंसा छिपी है, यह स्पष्ट ही है।

सब से पहले लोजिए इस का निषेधात्मक पहलू। इस में निर्भक्ता, प्रेम, दया, बुद्धि, सहानुभूति आदि इनसानी गुणों को बिलकुल भुला दिया गया है।

आदमी की स्थिति ऐसी कर दो गई है जिस में उस के गुणों अथवा अवगुणों का प्रदर्शन नहीं हो सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार, काम तो हमेशा करते रहो लेकिन फल का त्याग करते रहो। त्याग करते रहने से ही मनुष्य कहीं नहीं पहुंच सकता। यह सिद्धांत किसी भी लक्ष्य की ओर इशारा नहीं करता। लक्ष्य है तो सिर्फ ईश्वर। साफ है कि जब साकार रूप में कोई लक्ष्य ही नहीं है तो काम और काम करने वाले की स्थिति ऐसी ही हो जाएगी जैसे बिना जड़ का पौधा जो कुछ ही समय में सूख जाता है।

अव्यावहारिक सिद्धांत

इस का नतीजा होता है पलायनवाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा। लोग आलसी हो जाते हैं। वे काम करने की जरूरत महसूस नहीं करते। बस दिन भर माला फेरने के सिवा उन का और कोई सृजनात्मक कार्य नहीं रह जाता। दूसरे महायुद्ध में जर्मनी और जापान को कितनी हानि उठानी पड़ी लेकिन कुछ ही समय में इन देशों ने लिप्तता की भावना से आश्चर्यजनक प्रगति की और अपने उद्योगों की उन्नति द्वारा संसार के सामने आदर्श उपस्थित कर दिया। क्या यह सब त्याग से मुमकिन था?

और हम हैं कि बस हर समय अपनी हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति और सभ्यता की प्रशंसा करते हैं। हम अपने पूर्वजों के ऊपर श्रद्धा के फूल चढ़ाते रहते हैं। हिमालय में जा कर अपनी अलग दुनिया बसाते हैं, लेकिन एक स्कूटर या कार नहीं बना सकते। 17 वर्ष की स्वतंत्रता के बाद भी आज हम विदेशों से भीख मांगते रहते हैं और विदेशी सहायता पर पल कर अपनी संस्कृति के गुणगान में मस्त हैं।

पर शायद इस में हर्ज भी क्या है? यह तो हिंदू धर्म के अनुसार अलिप्तता की चरम सीमा है। और फिर अकर्मण्य

हो कर, भीख मांग कर जीवन निर्वाह करना तो हमारे धर्म में सिखाया ही है। भागवतकार ने भी कहा है :

“संत को चाहिए कि वह झूठ और सांसारिक बातों की चर्चा करने वाले शास्त्रों से प्रेम न करे। अपने जीवन निर्वाह के लिए कोई जीविका न करे। केवल वद-विवाद के लिए कोई तर्क न करे और संसार में किसी का पक्ष न ले, शिष्य मंडली न जुटाए। बहुत से ग्रंथों को न पढ़े। व्याख्यान न दे और बड़े-बड़े कामों को शुरू न करे।”

दूसरे शब्दों में, संत वही आदमी है जो सिर मुंडा कर संयासी हो जाए। संसार में कोई कार्य न करे। दूसरे के ऊपर अपने जीवन निर्वाह का भार डाल दे। दिन भर भजनपूजन में मगन रहे, जिस में कोई मेहनत नहीं पड़ती है। बड़े-बड़े काम न करे (और यदि कोई भाखड़ा बांध बनाए या स्टील प्लांट लगाए तो उस के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दे!)

इस के अतिरिक्त, अलिप्तता का सिद्धांत एकांगी है। यह इन्सान को आध्यात्मिक पक्ष की ओर ही इशारा करता है। इस में जीवन के सांसारिक पहलू को बिल्कुल ही भुला दिया गया है। आचार्य विनोबा भावे ने अपनी पुस्तक ‘गीता प्रवचन’ में इस का एक उदाहरण दिया है :

एक आदमी था। अलिप्तता की भावना से प्रेरित हो कर वह अपना घर छोड़ कर गांव में चला गया। वहां भी उसे गंदगी दिखाई दी तो वह जंगल में चला गया। जंगल में आम के पेड़ के नीचे वह बैठा ही था कि एक पक्षी ने उस के सिर पर बीट कर दी। ‘यह जंगल भी अमंगल है’ ऐसा कह कर वह नदी के जल में जा खड़ा हुआ। जब नदी में उस ने बड़ी मछलियों को छोटी मछलियां खाते देखा तब तो उसे बड़ी ही घृणा हुई। ‘अरे चलो, यह तो सारी दुनिया ही अमंगल है यहां मरे बिना छुटकारा नहीं’ ऐसा इरादा

कर के वह पानी से आग जलाई। उस ने मरने का पक्का फैसला कर लिया।

इस उदाहरण से साफ है कि इस भाँति सांसारिकता को समाप्त कर के अलिप्तता का सिद्धांत मनुष्य के अंदर उदासीनता और घृणा को जन्म देता है। सांसारिकता के बिना आध्यात्मिकता कोरी है। जब संसार की वस्तुओं से अलिप्त होना पड़ता है तो एक प्रकार से स्वार्थ अर्थात् 'मैं पन' की बात आ जाती है। संसार और उस समाज, जिस के हम अंग हैं, के स्थान पर 'मेरा कल्याण' स्थान ले लेता है। समाज की कितनी हानि इस सिद्धांत से हो सकती है, आप कल्पना कर सकते हैं। वास्तव में इस के विपरीत हमें सोचना चाहिए, हमारे समाज से ये दुर्गुण कैसे दूर किए जा सकते हैं।

संन्यास या ढोंग?

अलिप्तता की भावना के साथ जुड़ी हुई एक और भावना है जिस की चर्चा हक्सले ने अपनी पुस्तक 'पेनिलीयल फिलासफी' में की है। वह है सादा जीवन और शरीर को कष्ट देना। तपस्या करो, भूखे रहो, सोओ नहीं, सब जरूरतों को त्याग दो। यह संन्यास अलिप्तता की पहली सीढ़ी है। यही नैतिकता है, यही धर्म है, यही संस्कृति है। जब शरीर कोई चीज त्यागता है तो आत्मा का लाभ होता है। अर्थात् शरीर की हानि ही आत्मा का लाभ है।

क्या व्यावहारिकता की कसौटी पर यह सिद्धांत टिक सकता है? ज्ञान, वैराग्य, सादा जीवन, पवित्रता आदि के बावजूद संन्यासी एक बुरा व्यक्ति हो सकता है क्योंकि ये सारे गुण घमंड, ईर्ष्या, क्रोध आदि से जुड़े हुए हैं जिन को संन्यासी लोग नहीं त्याग पाते। वे समझते हैं कि शरीर को कष्ट दे कर और बाहरी सरलता और सादगी का नाटक कर के वे अपने अंतर

के अलगाव को छिपा सकते हैं। जीवन और शरीर को कष्ट देने का ढोंग रचने से खीरपूरी और मालपुए जरूर मिल जाते हैं। बस, इनसान और समाज का कोई भी कल्याण होने से रहा।

अलिप्तता का सिद्धांत पूरे तौर से व्यावहारिक है। आदमी तो क्या देवी-देवता भी इस सिद्धांत को अपने जीवन में नहीं ढाल पाए। भागवतकार कहते हैं कि शारीरिक भूख से मुझ मोड़ों और संसार से अलिप्त रहो। लेकिन ब्रह्माजी अपनी ही पुत्री पर मोहित हो जाते हैं और महादेवजी मोहिनी के पीछे मतवाले हो कर भागते हैं। क्रोध पर विजय प्राप्त करना अलिप्तता का एक और चिह्न है। लेकिन हमारी सारी धर्म कथाएं देवीदेवताओं के शापों से भरी हुई हैं। जरा किसी ने थोड़ी सी गलती की, बस फौरन ही उसे शाप मिल गया। और वह शाप जन्मजन्मांतर तक पीछा नहीं छोड़ता।

जो सिद्धांत देवीदेवता भी व्यवहार में न ला सके, उसे इनसान कैसे प्रयोग में ला सकता है! वास्तव में हिंदू धर्म की यह बड़ी भारी कमी रही है कि इस में भारी आदर्शत्मिक सिद्धांतों की विवेचना हुई है जिन का पालन साधारण इन्सान के लिए मुश्किल ही नहीं, असंभव है। नतीजा होता है खुद को धोखा देना और हृदय में एक प्रकार का बिचाव पैदा करना। यही बात अलिप्तता के ऊपर भी लागू होती है।

अंत में, अलिप्तता के सामने न्याय, जिम्मेदारी और सामाजिक शांति के सारे गुण धूल की तरह उड़ जाते हैं। गीता कहती है कि 'जो व्यक्ति कमल की तरह पानी में रह कर भी पानी से ऊपर रहता है, अपने सारे काम भगवान को समर्पित कर देता है और अलिप्त रहता है, वह सदैव पाप से दूर रहता है।' तथा 'कौन किस की हत्या करता है? शरीर मरता है, आत्मा अजरअमर है। मानव ईश्वर का निमित्त मात्र है।' ऐसे में सामाजिक इंसान

और जिम्मेदारी की भावना कहाँ रह जाएगी? आप मज से किसी की भी हत्या कर दीजिए और कह सकते हैं, "कौन मारता है? कौन मरता है? मैं तो भगवान का निमित्त मात्र हूँ।" आप हर महीने पहली तारीख को अपनी तनख्वाह लीजिए और मालिक का कुछ काम मत लीजिए, बल्कि उलटा उसे नुकसान पहुंचाइए और कहिए, "मैं जो करता हूँ, भगवान को अप्रति कर देता हूँ. मेरा दोष?"

सच तो यह है कि इनसान के कामों को पूर्ण बनाने में अलिप्तता का सिद्धांत विलकुल ही असफल रहा है. सच्चा कर्म-योगी अलिप्त नहीं होता, बल्कि वह सृजनात्मक काम करने के लिए जीजान लड़ा देता है. वह सामाजिक कल्याण के कामों में अपनी सारी शक्ति लगा देता है. अपने जीवन में वह एक लक्ष्य रखता है. इस के बाद वह उसे प्राप्त करने के लिए साधन जुटाता है. फिर वह एकाग्रता

तथा ईमानदारी से प्रयत्न करता है. वह फल की ओर से आँख नहीं मोड़ लेता. जब तक वह अपने मनचाहे फल की कामना करता रहता है, उसे काम करने की प्रेरणा मिलती रहती है.

काम के पूरा होने की इस यात्रा में आशा और निराशा, सफलता और असफलता, हानिलाभ आते रहते हैं. निराशा, असफलता, हानि जैसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ मंजिल की ओर बढ़ते कदमों को बांध नहीं पातीं. सच तो यह है कि उस की हर हार उस की जीत की पृष्ठ-भूमि तैयार करती है. चाहे कुछ भी हो वह तो अपने काम में लिप्त रहता है. यही लिप्तता उसे सफलता देती है, उस की ओर उस के समाज की उन्नति करती है. और यदि वह अलिप्तता के बहाव में आ कर जीवन की सारी मंजिलों का ही लोप कर दे तो फिर क्या वह जीवन जीवन रह जाएगा?

सरिता, जून (प्रथम) 1965 से उद्धृत

कर्म योग

वीणा अग्रवाल

आलोचना और आपत्तियों के उत्तर

‘कर्म योग’ (सरिता 15 फरवरी 1965) पर बड़ी व्यापक प्रतिक्रिया हुई है और अनेक पाठकों ने पत्रों द्वारा इस विवादास्पद विषय पर अपने विचार और आपत्तियां भेजी हैं। कई पत्रों में तो आलोचना व्यक्तिगत स्तर पर उतर आई है। व्यक्तिगत आलोचना को छोड़ कर विषय से संबंधित आधारभूत आपत्तियों का उत्तर देना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

मुख्य आपत्तियां निम्न हैं :

अधिकांश पाठकों ने आपत्ति की है कि मैं ने गीता की ओट में हिंदू धर्म पर आक्रमण किया। आवेश और संवेगशीलता के कारण कहींकहीं संदर्भ भी गलत हो गए हैं और लेख एकदम ‘विवेकहीन’ बन गया है। इसी कारण यह लेख ‘केवल अपरिपक्व मस्तिष्क की भावुकता भरी आलोचना मात्र’ है।

ये दोनों ही आपत्तियां निराधार हैं। सब से पहली बात तो यह है कि ‘कर्म-योग’ में मैं ने केवल गीता में वर्णित अलिप्तता के सिद्धांत की विवेचना की है और इस सिद्धांत को आज के संदर्भ में देखा है। वास्तव में आज के युग में यह सिद्धांत व्यावहारिक है या नहीं, यह प्रश्न मैं ने उठाया था। इस लेख में मेरा उद्देश्य भारतीय धर्म व संस्कृति की आलोचना करना कदापि नहीं था। (और यदि हमारे धर्म व संस्कृति का कोई अंग आलोचना योग्य है तो उस की आलोचना

होनी चाहिए और होगी।)

दूसरी बात, स्पष्ट विचारों और तर्क-सम्मत आलोचना को (मतभेद होना स्वाभाविक है और कुछ हद तक यह एक अच्छा लक्षण है) ‘आवेश’, ‘विवेकहीनता’, आदि की संज्ञा देना अनुचित ही नहीं, तर्कशास्त्र के बिल्कुल विपरीत है। ये आपत्तियां आलोचकों के पूर्वाग्रहों की ओर संकेत करती हैं।

यही नहीं, कुछ पाठकों की भावनाओं को इसलिए ठेस पहुंचाती हैं कि गीता हिंदुओं का पूज्य और पवित्र ग्रंथ है और उस की आलोचना करना पाप माना जाता है।

एक पाठिका का कहना है कि गीता तिलक, मालवीय, गांधी, नेहरू, विनोबा आदि भारतीय महापुरुषों और श्रीमती एनी बेसंट और शापनहावर आदि विदेशी विद्वानों का प्रिय ग्रंथ रहा था। अगर इस ग्रंथ में कोई विशेषता नहीं होती तो इतने सारे महापुरुष इसे क्यों इतना महत्व देते? एक पाठक ने तो यहां तक लिखा है कि किसी भी ग्रंथ की आलोचना करने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि उसे किस ने लिखा है।

इस आपत्ति के विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि आज का युग मानसिक गुलामी, भावनात्मक अधकचरेपन या अंधा मूढ़ कर महापुरुषों की बातों को मानने का नहीं, बल्कि विचारों की

स्वतंत्रता और निर्भीक चिंतन का है, जो कुछ गांधी, नेहरू, विनोबा या शासनदावर कहें, वही अंतिम नहीं। यदि महापुरुषों के व्यक्तित्व से भयभीत हो कर हम सारी बातें आंखें मूंद कर मानते चले जाएंगे तो यह हमारी दिमागी मृत्यु की सूचना ही होगी। फिर ये व्यक्ति केवल अपने-अपने ही क्षेत्र में महान थे, हर क्षेत्र में इन की महानता मानना गलत होगा।

आवश्यकता उचित विवेचन की

दूसरी बात यह है कि गीता के साथ हम धार्मिक पवित्रता को चिट चिपका कर क्यों देखते हैं? हम यह क्यों देखें कि इसे किस ने लिखा है? हमें तो यह देखना है कि इस में क्या लिखा है? किसी भी वस्तु की आलोचना और निष्पक्ष विवेचना के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम अपनी दृष्टि विषयवस्तु पर रखें, न कि उस के लेखक पर।

रही गांधीजी की गीताप्रियता की बात, इस के विषय में पाठकों का भ्रम दूर करना भी मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ। गांधीजी गीता को सिर्फ एक काल्पनिक नीति ग्रंथ मानते थे, उस में वर्णित पात्रों तथा घटनाओं को वह कोई महत्व नहीं देते थे। सच तो यह है कि गांधीजी की गीता में वर्णित अवतारवादी आडंबर में तनिक भी विश्वास नहीं था।

पाठकों के जितने भी पत्र मिले हैं उन सब में अलग-अलग ढंग से अलिप्तता के सिद्धांत की विवेचना की गई है, यह विवेचना इतनी परस्पर विरोधी है कि आश्चर्य होता है। पर इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि गीता का यह सिद्धांत (अलिप्तता) तथा अन्य शिक्षाएं इतनी परस्पर विरोधी और असंगत हैं कि पाठक का गुमराह हो जाना स्वाभाविक ही है। सब तो यह है कि पूरी गीता पढ़ कर बिल्कुल ऐसे लगता है कि जैसे हम अभिमन्यु की तरह तर्कों के चक्रव्यूह में

फँस गए हैं जिस से निकल पाना हमारे लिए संभव नहीं। गीता को पढ़ कर जो चाहे जैसा अर्थ लगा ले, वया कृष्ण जैसे राजपुरुष उपदेशक अथवा वेदव्यास जैसे प्रकांड पंडित की रचना से ऐसी ही आशा की जा सकती है?

पाठकों द्वारा अलिप्तता के विभिन्न अर्थों का संक्षिप्त विवरण देना यहां आवश्यक है। एक पाठिका का विचार है कि गीता ने केवल निष्काम कर्म के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है और निष्काम कर्म का अर्थ है इनसान का इच्छा रहित हो कर कर्म करना।

एक पाठक का मत है कि अलिप्तता का अर्थ है, कर्म कर किंतु फल की इच्छा मत कर। कर्म स्वार्थवश नहीं, लोकसंग्रह के लिए करना चाहिए, इसलिए घोर पाप कहलाने वाले कार्य को भी यदि तू लोकसंग्रह के लिए करता है तो तुझे कोई पाप नहीं लगेगा।

एक अन्य पाठक के अनुसार गीता के मुख्य श्लोक 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' में जो अलिप्तता का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है उस का अर्थ है : कार्य करने का तेरा अधिकार है, फलों (परिणामों) पर कभी नहीं।

एक और पाठक कहते हैं : अलिप्तता का अर्थ है पूर्ण मानसिक संतुलन के साथ निश्चित और ध्येय की ओर पूर्ण शक्ति व दृढ़ता के साथ अग्रसर होना।

इसी भांति प्रत्येक पाठक, आलोचक ने अलिप्तता के सिद्धांत की अपने-अपने मत से विभिन्न प्रकार की व्याख्याएं की हैं।

इस उपयुक्त अवसर पर इन सारे विचारों और व्याख्याओं की निष्पक्ष परीक्षा असंगत न होगी। सब से पहली बात तो यह है कि गीता में योग का अर्थ हर स्थान पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। कहीं योग को कर्म योग के अर्थ में लिया गया है तो कहीं समत्व योग, सांख्य योग, बुद्ध योग, विभूति योग आदि के रूप में

माना गया है। अतः योष के द्वन्द्वविधान के अनुसार कर्मण्यता का अर्थ ही दिखलाई देता। वेदों का ज्ञान प्राप्त करना और वैदिक कर्म करना भी काम्य है। (मनु. 2-2)

दूसरी बात, जो पाठक 'कर्मण्येवाधिकारस्ते...' श्लोक को अलिप्तता का सिद्धांत मानते हैं। मैं उन से सहमत नहीं। इस श्लोक में गीताकार केवल यही कहता है कि कर्म करना तेरा अधिकार है, फल पर तेरा अधिकार नहीं। यह आदेश अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। यह आदेश मनुष्य को कर्म करने की कोई प्रेरणा नहीं देता। इस श्लोक के अनुसार कर्म का फल भगवान ने अपने हाथों में रखा है।

अकर्मण्यता को प्रेरणा

सच तो यह है कि यह सिद्धांत मनुष्य को कर्म करने के लिए निरुत्साहित करता है। कारण यह है कि फल की इच्छा ही मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरणा देती है। यदि फल उस के हाथ में नहीं तो वह काम ही क्यों करे? फिर कर्म ठीक है या गलत, यह भी फल को देखते हुए ही जांचा जा सकता है। आप कुआँ खोद रहे हैं, पानी नहीं निकल रहा है पर इस की चिंता किए बिना आप धरती खोदे ही चले जा रहे हैं, क्योंकि आप का काम तो खोदना ही है। इस में क्या तुक हुई?

श्लोक का तीसरा चरण, जिस में कहा गया है कि 'तु कर्मों के फल की वासना वाला मत हो,' अत्यंत ही निराशापूर्ण स्थिति उत्पन्न करता है। संसार में जो भी कर्म किए जाते हैं वे बिना फल की इच्छा के किए ही नहीं जा सकते। संसार में निष्काम कर्म जैसी कोई चीज नहीं। कर्तव्य बुद्धि से जो कर्म किए जाते हैं, वे भी इच्छारहित नहीं हो सकते। इसी लिए मनु ने कहा है कि इस संसार में कामना किए बिना किसी का कर्म होता नहीं देखा जाता, क्योंकि जो कोई जो कुछ भी करता है वह सब इच्छा से ही होता है। (मनु 2-4, 2.3) कामना का मूल संकल्प है।

सच तो यही है कि जड़ और चेतन में अंतर करने वाली यही इच्छाशक्ति है। चेतन वस्तु में इच्छा होती है, जड़ में नहीं। चेतन की प्रत्येक क्रिया उस की इच्छानुसार होती है। कर्म के फल का पहले मन में विचार होता है। इस विचार के बाद ही क्रियाशीलता का जन्म होता है। यही इच्छा या कामना हमें विश्वास, प्रेरणा, उत्साह और दृढ़ता देती है। अतः बिना फल की इच्छा के कोई भी क्रिया संभव नहीं। इसलिए अगर इनसान को इच्छारहित कर दिया जाए तो उस में और पेड़पौधों तथा पत्थरों में क्या अंतर रह जाएगा।

अब रह गया फल का प्रश्न। गीताकार कहते हैं कि फल भगवान के हाथ में है। यह धारणा निर्मूल है। फल भगवान के हाथ में नहीं, इनसान की मुट्ठी में बंद है। यदि इनसान उचित ढंग से कर्म करे—इच्छाशक्ति, उत्साह, विश्वास, परिश्रम, लगन के साथ अपने लक्ष्य (फल) को प्राप्त करने की कोशिश करे—तो उस की सफलता में संदेह नहीं रह जाएगा।

और जो यह कहते हैं कि लोकसंग्रह के लिए किए जाने वाला घोर पाप कर्म भी पाप नहीं, वे अपनेआप को एकदम हास्यास्पद स्थिति में डाल देते हैं। क्या इस सिद्धांत के आधार पर हम चीन या पाकिस्तान की आलोचना कर सकते हैं? चीनी भूखों मर रहे हैं। भूखों मरती चीनी जनता की खातिर चीन भारत पर आक्रमण करे और उस पर अधिकार कर के अपनी जनता के लिए सुखसुविधा के साधन जुटाए, तो क्या यह पुण्य होगा? अनाथालय के लिए चंदा जुटाने के लिए कुछ अधिकारी एक सेठ के यहां डाका डालें तो यह पाप नहीं पुण्य होगा?

यदि यह कहा जाए कि अलिप्तता का अर्थ है कर्म करना किंतु लोभ, मोह, राग, द्वेष, क्रोध आदि विकारों से दूर

व्यवहारिक नहीं ठहरता। कुछ पाठकों ने पूछा है, क्या गांधी, नेहरू अलिप्त नहीं थे? इस के उत्तर में मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि क्या इन दोनों महान नेताओं ने इन विचारों को जीत लिया था? गांधीजी बात-बात पर अनशन और सत्याग्रह करते थे?

वे अनशन क्या गांधीजी के अंतर में उत्पन्न क्षीण क्रोध के परिचायक नहीं थे? क्या नेहरू का क्रोधी स्वभाव सर्वविदित नहीं? क्या किसी भी इन्सान के लिए, चाहे वह कितना ही बड़ा हो या छोटे से छोटा हो, क्रोध, लोभ, मोह से छुटकारा पाना संभव है? छोटे-छोटे इन्सानों की बात छोड़िए, देवीदेवताओं की बात ले लीजिए।

क्या कृष्ण उपदेश देने के पात्र थे?

देवीदेवताओं के क्रोध से उत्पन्न शाप कथाओं से हमारे धर्म ग्रंथ भरे पड़े हैं। रहा मोह अथवा समत्व, तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण, जिन्होंने गीता के रूप में अर्जुन को उपदेश दिया है, अलिप्त थे? कौरवों और पांडवों के प्रति उन के मन में समता का भाव था? अर्जुन के प्रति क्या उन के मन में मोह नहीं था? उन्होंने शिशुपाल की हत्या किस आधार पर की?

रहा क्रोध, क्या समूचे संसार में एक व्यक्ति भी ऐसा निकलेगा जिसे क्रोध स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से न आता हो? यही नहीं, क्रोध भी दो प्रकार का होता है: उचित और अनुचित।

चीन और पाकिस्तान हमारी सीमाओं का अतिक्रमण करें और हम क्रोध न करें! क्या यह क्रोध उचित नहीं ठहरेगा? कई बार उचित क्रोध ही कर्म को संचालित करता है।

आज वास्तव में भारत भयंकर संकट की घड़ी से गुजर रहा है। पड़ोसी देश

हमारे सीमाओं पर घात लगाए बैठे हैं। यदि ऐसे समय गीता की अलिप्तता या कर्मयोग का यह अर्थ है कि युद्ध करो और लिप्त हो कर, मातृभूमि की रक्षा की कामना से और इस फल की रक्षा के लिए कठिन संघर्ष करो तो मैं इस विवेचन से सहमत हूँ। आज अव्यावहारिक सिद्धांतों और कठोर आदर्शवादी नारों की आवश्यकता नहीं।

आज आवश्यकता है कर्मठ और संकटों से जूझने वाले क्रियाशील इन्सानों की। इस के लिए वे चाहे लिप्तता को अपनाएं या अलिप्तता का सहारा लें, किंतु उन का एक मात्र लक्ष्य (फल) होना चाहिए भारत की सुरक्षा तथा सार्वजनिक सुखसमृद्धि और कल्याण। और यह फल तथाकथित भगवान के हाथ में नहीं, अपनी मुट्ठी में बंद रखने का साहस रखना चाहिए।

संक्षेप में, मेरे पिछले लेख पर जो प्रतिक्रियाएं हुईं अथवा जिन आलोचनाओं का मुझे सामना करना पड़ा, वे तर्क पर आधारित नहीं थीं। इन आपत्तियों की तह में था वह रोष जो किसी की धार्मिक भावना के ठेस पहुंचाने पर उत्पन्न होता है (और जिस रोष का आलोचकों के मतानुसार अलिप्तता में कोई स्थान नहीं है। कसा विचित्र विरोधाभास है!)। फिर से मेरा उद्देश्य किसी की धर्म भावना का अनादर करना कदापि नहीं था। मेरा तो केवल एकमात्र उद्देश्य था गीता के बहु-चर्चित सिद्धांत अलिप्तता की निष्पक्ष व्याख्या और कुछ ऐसे विचारों का विवेचन करना जिन से हम प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकें।

गीता का प्रचार आज बहुत बड़ा व्यवसाय बन गया है। करोड़ों रुपया इस में लगा है। हर गांव शहर में गीता मंदिर खुले हैं और लाखों व्यक्ति इन में मौज उड़ा रहे हैं। रेडियो, सिनेमा, पत्रपत्रिकाओं और सभामंचों द्वारा गीता की महत्ता का धुआंधार प्रचार हो रहा है। ऐसे वातावरण

में यदि कुछ पाठकों ने मेरे लेख पर आपत्ति की तो मुझे कोई खेद और आश्चर्य नहीं है. आश्चर्य तो उलटा यह है कि प्रतिक्रिया इतने बड़े गीता प्रचार के बवंडर में और अधिक नहीं हुई.

पर किसी नीतिशास्त्र को जब धर्म-गुरु, बड़े सेठ और राजनीतिज्ञ जकड़ लें

तो बुद्धिमान व्यक्तियों को यह कर्तव्य हो जाता है कि उस नीतिशास्त्र को निष्पक्ष रूप से पढ़ाजांचा जाए. उपर्युक्त तीनों वर्ग जो काम करते हैं उस में उन के स्वार्थ का बहुत बड़ा पुट होता है. जनसाधारण यदि इस विषय में सावधान नहीं रहेगा तो हमेशा हानि उठाएगा. ●

गरुड़ पुराण

सतीश दुबे

क्या मात्र पाठ करने से स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त हो सकता है?

हिंदू धर्म की व्यवस्था एवं नैतिक नियमों ने पूरे संसार को प्रभावित किया था। इस धर्म की विशेषता के चिन्ह आज भी संसार के विभिन्न धर्मों में पाए जाते हैं। जिन्होंने इस धर्म से अच्छाई ग्रहण की उन्होंने तो उसे स्थायित्व प्रदान कर दिया, किंतु हम अपने ही घर में इस स्वस्थ परंपरा को कायम नहीं रख पाए और मूलरूप को इतना विकृत कर दिया कि मौलिकता के दर्शन ही कठिन हो गए। एक वर्ग विशेष के स्वार्थ और परंपरागत बदलती हुई रूढ़ियों ने धार्मिक व्यवस्था को उपहास का पात्र बना कर हमें यह सोचने के लिए विवश कर दिया कि क्या यही धर्म है?

इस परिवर्तन में उन धार्मिक पोथियों का अधिक महत्त्व है जिन से हमारे यहां हर कोई परिचित और प्रभावित है।

इसी शृंखला में एक ग्रंथ आता है—गरुड़ पुराण। इस के लेखकों ने भगवान के नाम की आड़ में अपनी स्वार्थी भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है। प्रारंभ से अंत तक धार्मिक भावनाओं की ओट में ठग विद्या के कई कारनामे दिखाए हैं। पूरे ग्रंथ का आलोड़नविलोड़न यह सिद्ध कर देता है कि यह ग्रंथ अष्टाचार, अहंवाद, रिश्वतखोरी, ब्राह्मणों के भाईभतीजावाद तथा लोगों को बेवकूफ बना कर ठगने का प्रयास मात्र है। एक अनुभवी ठग की भांति भूमिका इस ढंग से बांधी

गई है कि शिकार बिना मारे जाने पर ही आत्मसमर्पण कर देता है।

गरुड़ पुराण का पारायण मृत्यु के बाद आत्मा की शांति के लिए दस दिन तक कराया जाता है।

यह पहला झूठ है कि मृतात्मा दस दिन तक घर में ही रहती है तथा इस पोथी को सुनने के पश्चात् ही उसे शांति प्राप्त होती है। इसी लिए हिंदुओं में अग्नि संस्कार के पश्चात् पुरोहितजी शोक में डूबे हुए परिवार से पहला प्रश्न यही करते हैं कि क्या आप गरुड़ पुराण बिठा रहे हैं? उसी दिन से इस का पारायण प्रारंभ हो जाता है। इस गरुड़ पुराण के पारायण के दिनों में मृतात्मा को शांति मिलती है या नहीं, यह तो मृतात्मा ही जाने, किंतु पारायण करने वाले पंडितजी की आत्मा अवश्य ही तृप्त हो जाती है। एक बार एक गांव में इसी प्रकार गरुड़ पुराण बिठाया गया। गांव के पंडितजी के न मिलने के कारण 'जजमान' ने दूसरे पंडितजी को आमंत्रित कर लिया। सिर्फ चढ़ावे में 75 रुपए आए। जब गांव के पुरोहित को यह पता चला तो वह लट्ठ ले कर उन पंडितजी के द्वार पर पहुंच गए। दोनों में जम कर वाक्युद्ध तथा मल्लयुद्ध हुआ, और एक पंडितजी को 15 दिन तक अस्पताल में पड़े रहना पड़ा।

इन चर्चाओं को सुन कर हम ने

सोचा कि संभव है मृत्यु के बाद कोई गरुड़ पुराण पुनर्जन्म न सुनाए, इसलिए स्वयं ही इस का पारायण कर लेना चाहिए. मृत्यु से पूर्व तो आत्मा को शांति देने वाला कोई नहीं मिलता. बृद्ध पिता यदि बेटे से शैविंग के लिए चार आने भी मांगे तो चार झिड़कियां सुननी ही पड़ती हैं, किंतु मृत्यु के बाद उसी आत्मा की शांति के लिए वही सपूत चार हजार रुपए तक खर्च कर सकता है.

खुली लूट की छूट

जब श्रद्धापूर्वक इस गरुड़ पुराण का अध्ययन किया तो पता चला कि समाज में आज जितनी रूढ़ियां पनप रही हैं, भोलीभाली धर्म की कायल जनता को स्वर्गनरक का प्रलोभन या भय दिखा कर एक वर्ग विशेष ने जो खुली लूट मचा रखी है उस का मूल आधार यही गरुड़ पुराण है. मृतात्मा को शांति दिलाने के नाम पर ठग विद्या का यह एक महान आडंबर है.

इस बृहद पोथी में कुल मिला कर 16 अध्याय हैं. इस के मुख्य पात्र हैं—नैमिषारण्य में तप करने वाले ऋषि, उन के गुरुदेव सूतजी तथा गरुड़ और उन की शंकाओं का समाधान करने वाले भगवान विष्णु. जहांतहां भगवान के नाम की आड़ में स्वार्थी लोगों ने अपनी भावनाओं का विगदर्शन करा दिया है. इस में आरंभ से अंत तक एक वर्ग की महत्ता और उस के आदरसत्कार के विवरण को ही महत्त्व दिया गया है.

प्रथम अध्याय में विष्णु के क्षेत्र नैमिषारण्य में स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञ करने वाले शौनक आदि ऋषि सूतजी से यमलोक के मार्ग का वर्णन करने की इच्छा व्यक्त करते हैं. सूतजी उन की इच्छानुसार गरुड़ के पूछने पर वही वृत्तांत सुनाते हैं जो विष्णु ने कहा था. प्रारंभ में यह व्यक्त किया गया है कि जो मनुष्य

दान करते हैं वेदशास्त्र श्रवण तथा सत्संग करते हैं उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है. उदाहरण यह है :

‘ये नरा दानशीलाश्च ते यान्ति परमां गतिम् ।

पाप शीला नरा यान्ति दुःखेन यमयातनम् ॥’ (17-1)

(जो मनुष्य दान देने वाले हैं वे मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा जो लोग पापी हैं वे यमयातना सहते हुए यमलोक में जाते हैं.)

इस प्रकार इस का प्रारंभ ही दान की महत्ता से होता है. हमारे समाज में यह धारणा बनी हुई है कि मनुष्य को सुख तथा दुख अपने पूर्व जन्मों के संचित पुण्यों तथा पापों के आधार पर प्राप्त होते हैं. इसी धारणा का संदर्भ इस ग्रंथ में आता है.

‘सुकृतं दुष्कृतं वापि भुक्त्वा पूर्व यथाजितम् ।

कर्मयोगात्तदा तस्य कश्चिद्व्याधिः प्रजायते ॥’ (15-1)

(मनुष्य संसार में जन्म ले कर अपने पूर्व जन्म के संचित किए हुए पुण्य और पाप के अच्छेबुरे फल को भोगते हैं. शेष कर्मों के संयोग से शरीर में कोई रोग हो जाता है.)

प्रेमचंदजी के ‘गोदान’ का ‘हीरो’, जो हमारे देश की सब से बड़ी जनसंख्या का प्रतिनिधि है, इसी व्यधि से पीड़ित है. वह श्रेष्ठ वर्ग के अत्याचारों को यह सोच कर सहन करता है कि पूर्व जन्म में उस ने कोई पुण्य नहीं किया तथा उसी के बल पर गुलछरें उड़ाने वालों को वह कहता है, ‘यह सब उन के पूर्व जन्म के संचित पुण्य का फल है.’ पूर्व जन्म के इस लेखेजोखे के बाद, मृत्यु की स्थिति का वर्णन किया गया है तथा मृतक प्राणी के मुख से लार तथा फेन निकलने का कारण यमदूतों का भय दिखा कर, भय की भावना का स्थापित्व जमाना प्रारंभ कर दिया है. यमदूतों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है :

पूजित होता है, इसमें संदेह नहीं। व्यवस्था बन रही है कि अपने धर्म में पनप रही के संतुष्ट होने पर मैं संतुष्ट होता हूँ।

(13-16/16/2)

स्वर्ग में स्थान सुरक्षित करने वाली इस पीथी में मोटे रूप से अगर देखा जाए तो रिश्तखोरी को प्रोत्साहन दिया गया है। एक काल्पनिक नरक की अवतारणा कर के उस के निराकरण का समाधान किया गया है। हम यदि यह भी मान लें कि इस भय की व्यवस्था समाज में बुराई न पनपने देने के लिए की गई, तो फिर उस दान और महादान का उल्लेख क्यों किया गया? दान करने के पश्चात समस्त पाप धुल जाने का वर्णन कर हमारे समाज के धार्मिक ठेकेदारों ने बुराई को और अधिक प्रोत्साहन दिया है।

आज की स्थिति में भी पूंजीपति महाजन गरीबों का खून चूस कर उन्हें दो जून खाने तक के लिए परेशान करते हैं और अपने उन पापों को स्वयं महसूस कर रात्रि में ब्राह्मणों की कीर्तन मंडली बिठा कर प्रायश्चित्त कर लेते हैं। हम अपने धर्म की निंदा करना नहीं चाहते। संसार की हर जाति का अपना धर्म है। हम

इस प्रकार की बुराइयों को दूर करें जिस ने हमारी सामाजिक व्यवस्था को खोखला बना कर एक वर्ग विशेष को प्रोत्साहित किया है। धर्म तथा ईश्वर किसी को जिंदा जलाने की राय कभी नहीं दे सकता। धर्म व्यक्ति को आर्थिक व्यवस्था से जूझ कर अपने कर्तव्य पालन की ओर अग्रसर नहीं कर सकता।

समष्टि रूप में गहड़ पुराण लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभारने का मनो-वैज्ञानिक दर्पण है। इस पुराण के मूल विषय ने हमारे देश के कई घरों को उजाड़ कर उन में फूट डाल दी है। मृत्युभोज, क्रियाकर्म आदि के नाम पर कई गरीबों की गृहस्थियां नष्ट हो चुकी हैं। हमें चाहिए कि इस में वर्णित धार्मिक नियमों पर हम स्वतंत्रतापूर्वक विचार करें। हमारा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि अपने धर्म की स्वस्थ परंपरा कायम रखने के लिए हम धार्मिक पुस्तकों से सामाजिक विघटनकारी अंशों को नष्ट कर दें ताकि भावी पीढ़ी धर्म के नाम पर अपनेआप को नष्ट न कर ले।

बच्चे तीन से कम पैदा कीजिए, पेड़ पांच से अधिक लगाइए.

भारत की सब से बड़ी समस्या है गरीबी और जनसंख्या का बेलगाम बढ़ते जाना. सभी धर्म ग्रंथों में लिखा होने पर भी कि अमुक राजा या व्यक्ति अमुक पुरुष के वीर्य से, अमुक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, जनता को यही भुलावा दिया जाता रहा कि संतान भगवान की देन है.

जब तक आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी चिकित्सा पद्धति भारत में नहीं आई थी, गरीबी, भुखमरी, अकाल और अनेक महामारियों के कारण जनसंख्या सीमित रहती थी. मृत्यु दर लगातार घटती जा रही है. जहां पहले 100 बच्चों में से मुश्किल से 5-10 बच पाते थे, आज 60-70 से अधिक जीवित रहते हैं.

इस सब के कारण जनसंख्या में भारी वृद्धि हो रही है और इस व्याधि को भगवान और भाग्य के भरोसे छोड़ना सामूहिक आत्महत्या के समान है. 'भगवान जिसे दो हाथ देता है, उसे खाना भी देगा,' यह सिद्धांत बिल्कुल ही गलत और धामक है.

यदि आप अपनी, अपने परिवार की और देश की गरीबी रोकना चाहते हैं तो बच्चे कम पैदा कीजिए. भगवान का इस में कोई दखल नहीं है. यदि गर्भ निरोधक सही प्रकार से प्रयोग में लाए जाएं तो भगवान भी किसी स्त्री के संतान उत्पन्न नहीं कर सकते.

आज के मशीनी युग में. संकड़ों व्यक्तियों का काम एक मशीन हजार गुना गति से पूरा कर देती है. आज वही व्यक्ति शक्तिशाली व धनी हो सकता है, जिस को ऊंचे दर्जे की शिक्षा और प्रशिक्षण मिला हो. इन सब के लिए धन चाहिए. जितने अधिक बच्चे होंगे, उतना ही धन

प्रति बच्चा कम होता जाएगा. नतीजा यह होगा कि जिन के बच्चे कम होंगे, वे उन्हें अच्छा, महंगा प्रशिक्षण दे सकेंगे.

देश में अधिक से अधिक पेड़ लगाने की भी आवश्यकता है. क्योंकि बाढ़ें अधिक आ रही हैं, नदियों और बांधों में मिट्टी भरती जा रही है, सूखा पड़ता जा रहा है, रेगिस्तान फैलता जा रहा है. लकड़ी कम और महंगी होती जा रही है.

इसलिए आप अपने बच्चों का मोह अधिक वृक्ष उगा कर पूरा कीजिए. यह निश्चय कीजिए कि अपने जीवन में आप कम से कम पांच वृक्ष अवश्य लगा कर बड़े करेंगे. बच्चे बड़े हो कर विश्वासघात कर सकते हैं, आप को कष्ट पहुंचा सकते हैं, परंतु वृक्ष सदा आप के प्रति वफादार रहेंगे, वे आप को बराबर हर वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार फलफूल देंगे, छाया देंगे, मौसम की बदलती आंखों से आप के घर की रक्षा करेंगे.

हो सकता है आप किराए के भकान या फ्लैट में रहते हों. यदि आप निचली मंजिल में रहते हैं तो वहां भी पेड़ लगा सकते हैं—और इस पर लागत अधिक नहीं आती. यदि आप केवल ऊपरी मंजिलों में रहते हैं तो वहां गमलों में पौधे लगाइए, सब्जी बोइए, बेलें चढ़ाइए. अपनी जमीन न हो तो किसी सार्वजनिक स्थान में—स्कूल, अस्पताल, बगीचा, मड़क, धर्मशाला आदि में, प्रबंधकों से अनुमति ले कर वृक्ष लगाइए. ज्योंज्यों वे बढ़ते जाएंगे, आप को एक अपूर्व संतोष, शांति और परिपूर्ति का उत्तरोत्तर अनुभव हो जाएगा.

आज ही निश्चय कीजिए :

बच्चे दो या तीन, पेड़ पांच से पचीस.

ईश्वर, आत्मा और पाप

डाक्टर अ. मथाई

यदि ईश्वर अच्छा कार्य करवाता है तो बुरा कार्य कौन करवाता है?

साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण से मैं राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय, सांप्रदायिक व धार्मिक आचार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूंगा। अभी हाल में मैं अपने एक छोटेमोटे राजनीतिक विचारक से मिल कर राजनीति व धर्म के विषय में विचार-विनिमय कर रहा था। इस वार्तालाप के अंतर्गत उन्होंने मुझे बताया कि हम पश्चिमी पाकिस्तान को भारत की अपेक्षा अपने अधिक नजदीक पाते हैं, क्योंकि हम लोगों की भांति पाकिस्तान के निवासी भी एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं। निस्संदेह संकुचित विचारधारा के लोग अपने ही तरह के विश्वास करने वाले प्राणियों से सान्निध्य का अनुभव कर पाते हैं।

भगवान की परिभाषा

उन के इस राजनीतिक विचार को सुन कर मैं ने ही प्रश्न किया कि आप के भगवान की क्या परिभाषा है?

भाई ने बड़े तपाक से उत्तर दिया, "हम उस भगवान में विश्वास करते हैं जो सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है, तथा सभी स्थानों में उस का वास है।"

चलिए, इन की बताई हुई इस परिभाषा का सूक्ष्म निरूपण किया जाए। पहले सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ को ले लिया जाए। क्या इन दो गुणों के साथ कोई व्यक्तित्व हो सकता है? या ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं? उदाहरण के लिए एक

शीशे का बाल ऐसा बनाया जा सकता है, जिसे स्वयं निर्माणकर्ता ही उठा नहीं सकता। साथ ही यह कार्य कोई भी मानव कर सकता है। मित्र महोदय के कथनानुसार क्या उन का सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ भगवान एक ऐसे ही शीशे के बाल का निर्माण कर सकता है, जिसे वह स्वयं उठा नहीं सकता? यदि वह इस निर्माण में सफल न हुआ तो सर्वज्ञ कैसा? यदि सफल हुआ और उठा न सका तो वह सर्वशक्तिमान कैसा? इस के निरूपण से यह स्पष्ट है कि ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं। इसी प्रकार यदि 'सर्वशक्तिमान' तथा 'सभी स्थानों में वास' को लें तो परिभाषा के अनुरूप मित्र महोदय के भगवान को नरक में भी होना चाहिए। किंतु वह इस बात को मानने को तैयार नहीं कि उन के भगवान नरक में भी हैं। इस प्रकार या तो मित्र महोदय को अपनी विचारधारा को हटाना होगा या फिर अपनी परिभाषा में परिवर्तन करना पड़ेगा।

मित्र महोदय कह रहे थे कि उन के भगवान दया के अथाह सागर हैं, उन में अगाध प्रेम है और उन में सभी बातें अनंत हैं। मैं ने पूछा कि तब तो क्रोध भी उन में अगाध होगा? अब आप ही बताइए कि क्या कोई ऐसा व्यक्तित्व संभव है जिस में एक ओर तो अगाध दया का भाव हो तो दूसरी ओर महान क्रोध का भी। यदि इस प्रकार की कोई चीज है तो ऐसा कार्य

CC-0. Agamimgam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किया जा सकता है जिस से उसे कोष
 आए. यदि इस प्रकार का कोई कार्य ही
 नहीं है तो उस के परिणाम से भय का
 कोई प्रश्न ही नहीं उठता. स्पष्ट है कि
 इस प्रकार की परिभाषाओं से ईश्वर के
 बारे में फीले झूठ सच का पता नहीं चल
 सकता.

विरोधाभास का सिद्धांत

आश्चर्य यह है कि इन परिभाषाओं
 के सहारे एक मानव दूसरे मानव के प्राण
 लेता है, राजनीतिक निर्णय लेता है, दूसरों
 के जीवित रहने के सहारों को छीनता है.
 जिन सिद्धांतों के सहारे यह सब होता है,
 वे ही परस्पर विरोधी हैं. प्रमाणित है कि
 इस प्रकार के विरोधाभास का सिद्धांत
 कुछ निम्न स्तरीय मस्तिष्क वाले लोगों
 की उपज है.

कुछ धार्मिक ग्रंथों के अनुसार पृथ्वी
 से स्वर्ग तथा नरक की दूरी का नापा जा
 सकता है. ध्यान रहे, इन ग्रंथों का निर्माण
 अंशतः पौराणिक, ऐतिहासिक अंधविश्वासों
 तथा कल्पना के सहारे हुआ है. इस प्रकार
 की एक कथा ऐसे ही एक ग्रंथ में मिलती
 है. इस कथा के अनुसार पापियों के उद्धार
 के लिए ईश्वर पृथ्वी पर अवतरित हुआ. जैसे
 यदि आप को संतरा खरीदना है तो संतरे
 की ही दुकान पर जाएंगे. कथा के अनुसार
 ईश्वर का अवतार यहूदी लोगों के यहां
 हुआ. यदि उन के आने का उद्देश्य पूर्ण हुआ,
 तो प्रत्येक पापी का उद्धार हो गया. यदि
 इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई तो निस्संदेह
 वह सर्वशक्तिमान नहीं है. आखिर उस
 सर्वशक्तिमान को लोगों ने मार डाला तथा
 जमीन में गाड़ कर उस का अंतिम संस्कार
 किया. कथा के अनुसार वह शरीर पर-
 लोके गए तथा तीन दिन बाद उसी रूप
 में पृथ्वी पर वापस लौटे. इस वैज्ञानिक
 युग में सभी जानते हैं कि यदि पदार्थ एक
 निश्चित गति से अधिक गतिमान हो जाए
 तो वह पदार्थ ऊर्जा में परिवर्तित हो
 जाता है. यदि पदार्थ बिना विच्छेदन गति
 प्राप्त करता है और वही शरीर परलोक

से पृथ्वी तक और पृथ्वी से परलोक तक
 गया हो, तो पृथ्वी से स्वर्ग की दूरी डेढ़ दिन
 में होने वाले क्षणों का अगुना मील या
 उस से भी कम है. उसी कथा के अनुसार
 यह मानव रूपधारी ईश्वर अपनी मृत्यु के
 चालीसवें दिन स्वर्ग पहुंच कर अपने एक
 देवदूत को ठीक पचासवें दिन उसी स्थान
 पर भेजता है. इस प्रकार स्वर्ग से पृथ्वी
 तक की दूरी दस दिन में होने वाले क्षणों
 से दस अगुना मील से अधिक नहीं हो
 सकती.

जब ग्रह यात्राएं संभव हो जाएंगी और
 जब रूसी नास्तिक साम्यवादी ग्रहयात्री
 चंद्रलोक में पहुंचेंगे तो यह आश्चर्य नहीं
 कि वह यान स्वर्गद्वार पर न पहुंचे. इसलिए
 यह एक उपयोगी समय होगा जब विश्व
 के ईसाई धर्मावलंबी अपनी परिभाषाओं
 को बदलें तथा भारतीय दर्शन का निकटता
 से अध्ययन करें. जब मैं भारतीय दर्शन
 कहता हूं तो मेरा मतलब उस हिंदूधर्म से
 नहीं है जो आज समाज में प्रचलित है,
 और वास्तविक भारतीय दर्शन से कोसों
 दूर है.

पाप का निराकरण

एक दूसरा विचार है पाप का!
 दुनिया के सभी धर्म इसी पाप के निरा-
 करण के शुल्क से चलते हैं. यह तो वही
 बात हुई कि पहले यह कहा जाए कि
 अमुक धनी व्यक्ति बीमार है. फिर उस के
 स्वस्थ होने के लिए औषधि तथा चिकि-
 त्सक का व्यवस्था की जाए. पाप की परि-
 भाषा दुनिया के विभिन्न भागों में विभिन्न
 प्रकार से मानी जाती हैं. मजे की बात
 यह है कि यदि कोई किसी एक आदमी
 को मार डाले तो वह महापाप है किन्तु
 यदि हजारों आदमी बम के सहारे अथवा
 जहरीली गैस द्वारा मार डाले जाए तो वह
 पाप नहीं है, बल्कि उसे युद्ध की संज्ञा
 देते हैं. इन मारने वाले लोगों को धार्मिक
 नेता आशीर्वाद देते हैं, उन का सम्मान
 करते हैं तथा इस कार्य के लिए उन्हें
 पारितोषिक दिया जाता है. इन सभी

यदि एक गाय को मार डाले तो वह पाप है। लेकिन गाय की रक्षा के नाम पर सैकड़ों इन्सान मार डाले जाएं तो वह पाप नहीं।

लोगों को तथाकथित एकेश्वरवाद के देशों में खूब राजनीतिक अधिकार मिलते हैं। कुछ को शाही सम्मान से सुशोभित कर के विदेशों की गरीब जनता पर शासन करने के लिए भेजा जाता है। यह दशा तो उन हत्यारों की है जिन की विजय होती है। किंतु यदि हार हुई तो फिर चाहे कोई कितना बड़ा हत्यारा हो, उसे जेल की शरण में जाना पड़ेगा। कुछ स्थानों पर यदि कोई एक गाय को मार डाले तो वह पाप है किंतु गाय की रक्षा के नाम पर यदि सैकड़ों की संख्या में मानव मार डाले जाएं तो शायद वह पाप नहीं है।

मानव अपने ही बनाए नियमों से अंतरराष्ट्रीय व्यापार द्वारा सारे आर्थिक मार्गों पर नियंत्रण रख कर विश्व के आधे निवासियों को भूखा मारता है। किंतु उस की परिभाषा से यह पाप नहीं बुद्धिमानी है। यहां तक कि कुछ धार्मिक नेताओं का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति पाप ही में पैदा हुआ है। इसलिए पहले तो इस से ही प्रत्येक को छुटकारा पाना चाहिए, बहुत हद तक वे सही भी हैं क्योंकि उन के तर्कों के अनुसार विवाह एक लंबे अरसे के लिए वेश्यावृत्ति है तथा वेश्यावृत्ति एक थोड़े समय के लिए विवाह है।

प्रश्न यह उठता है आखिर पाप है क्या? विभिन्न धर्मों ने इस की व्याख्या अपनेअपने ढंग से की है। किंतु बहुत ही उपयुक्त दिखने वाली परिभाषा यह है, 'जो कार्य अंतरात्मा की आवाज के विरुद्ध किया जाए वही पाप है।'

तो फिर अंतरात्मा क्या है? बचपन से मिले हुए संस्कारों के आधार पर ही अंतरात्मा का विवेक निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए एक बच्चा ज्यों ही पैदा होता है, यदि उसे मानव समाज से दूर रखा जाए तो क्या उस के मन में किसी की मार डालने की भावना पैदा हो सकेगी?

यदि अच्छेबुरे की भावना बचपन से ही किसी के अंदर समाहित न हो तो क्या उसे किसी कार्य के करने में कोई हिचक पैदा हो सकती है? क्या कोई व्यक्ति उसे दंड देने का अधिकारी है? पहले ही उस ने अपने नियमों को बताया नहीं तो इस में दोष किस का है? व्यक्ति विशेष का, या जिस वातावरण से उसे यह सब मिला?

विभिन्न राष्ट्रों में विभिन्न नियम तथा कानून बनाए जाते हैं ताकि साधारण तथा भले लोग अपने कार्यों तथा अधिकारों का सही ढंग से उपयोग कर सकें और धनी एवं धूर्त लोग उन पर अत्याचार न कर सकें। यद्यपि कोई भी सिद्धांत न तो एकदम ठीक है और न ही एकदम गलत है। यहां तो सभी बातें सापेक्षित हैं। फिर भी किसी राष्ट्र के लिए नियमों का उल्लंघन ही बंड का कारण होता है।

अब यदि इस विचार को मान लिया जाए कि ईश्वर ने हम सब को जन्म दिया है तथा हमारी भौतिक तथा मानसिक शक्तियां उसी के द्वारा नियंत्रित हैं तो फिर 'गलत' का सिद्धांत ही नहीं रहेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करता है तो आखिर किन अवयवों द्वारा यह उल्लंघन हुआ?

कोई भी कार्य करने के लिए मनुष्य अपनी भौतिक या मानसिक शक्तियों का उपयोग करता है। स्पष्ट है कि शक्तियों पर भगवान का नियंत्रण है। यदि बचपन से मनुष्य को सहीगलत के सिद्धांत से परिचित न कराया जाए तो कोई भी नियम तोड़ने से मानसिक उथलपुथल मचने की कोई गुंजाइश नहीं। माना कि मानसिक द्वंद्व के बाद भी आप ने कोई कार्य करने का निर्णय लिया जिस के द्वारा किसी नियम का उल्लंघन होता है। इस अंतिम निर्णय की जिम्मेदारी भी उन्हीं मानसिक

शक्तियों की है जो ईश्वर प्रदत्त हैं। अब आप ही बताइए कि व्यक्तिगत रूप से आप के निर्णय होते हैं ईश्वरीय शक्तियों के द्वारा जो एक ही प्रकार का कार्य करने के लिए बनाई गई हैं। तो गलती किस की है?

सही गलत का विवेक

कुछ लोगों के मतानुसार आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो सहीगलत का विवेक करती है। मृत्यु आत्मा और शरीर का विछोह है इस प्रकार सभी जीवधारियों में आत्मा का प्रवेश है। कुछ धार्मिक पुस्तकों के अनुसार एक समय बहुत सी आत्माएं एक ही शरीर से निकल कर आग के गोले के समान बाहर गईं। यदि एक ही शरीर में कई आत्माओं का प्रवेश हो सकता है तो क्या यह संभव नहीं कि कोई शरीर बिना आत्मा के भी हो? यदि विवेक ही आत्मा की पहचान है तो जानवरों में आत्मा का वास है। अंतर केवल इतना है कि जानवरों में विवेक की क्षमता मानव की अपेक्षा कम होती है। यदि किसी ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लिया जाए जो मानसिक विकार से पीड़ित है तो जिन गुणों से आत्मा जानी जाती है उस के अनुसार व्यक्ति आत्माहीन है।

यदि आत्मा के गुणों में पारस्परिक अभिव्यक्ति की समता को लें तो यह विश्वास करना कि जानवर अपनी बातों को परस्पर कहते नहीं, महान मूर्खता होगी। यदि कोई किसी भाषा को न समझ सके या किसी के भाव व्यक्त करने के तरीके से परिचित न हो तो इस का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि दूसरे पारस्परिक अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं।

कुछ लोग कोई कार्य करने में स्वेच्छा की बात करते हैं। यह देखना कठिन नहीं कि स्वेच्छा शब्द भी विरोधाभास लिए है। उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे कि दूसरे के न जानते हुए, कोई कार्य स्वेच्छा से किया गया है तो ईश्वर की परिभाषा ऐसी है कि उस से कोई बात छिपी नहीं रह सकती। क्योंकि वह सर्वज्ञ तथा सर्व-

शक्तिमान है। इसलिए आप कोई कार्य नहीं करते। यह तो ईश्वर प्रदत्त शक्तियां हैं जो कार्य को करती हैं। स्पष्ट है कि ईश्वरीय प्रणाली स्वेच्छा से बिल्कुल विपरीत है। अतः इस प्रकार की कोई भी बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती, क्योंकि ईश्वर तो सर्वज्ञ है।

इन बातों को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। बताइए क्या किसी ने अपने जन्म के लिए प्रार्थना की थी? साथ ही न किसी ने कहा कि उस का जन्मस्थान कहां हो। किन परिस्थितियों में उस का भरणपोषण हो। इस तरह हर प्राणी का निर्माण बिना उस की इच्छा के हुआ। यदि किसी की इच्छा का प्रश्न रहा होता तो हर प्राणी अपनी इच्छा से यहां नहीं है बल्कि परिस्थितियों के कारण है।

इस तरह व्यक्ति का व्यक्तित्व परिस्थितियों के प्रभाव से बना है। आप का आचार, विचार एवं व्यवहार आप के अपने वातावरण के प्रभाव हैं। हां यह बात और है कि विभिन्न परिस्थितियों का विभिन्न पदार्थों पर एक ही सा प्रभाव नहीं होता। जैसे यदि आप मक्खन को गरम करें तो वह पिघल जाएगा। किंतु उसी मात्रा की गरमी में लोहे की एक छड़ नहीं पिघल सकती, गरम हो जाएगी। मान लीजिए कि कोई जेब काटता है, क्या यह गुण उस का अपना है? जब कि विभिन्न अवयवों पर विभिन्न परिस्थितियों का एक ही सा प्रभाव नहीं होता। जेब काटने वाले को कोई कैसे दंड दे सकता है?

कैसे उस के कार्य को गलत कहा जा सकता है? यद्यपि राज्य द्वारा उसे दंड मिलने का विधान है और शायद मिलेगा भी। इसलिए नहीं कि उस ने गलत काम किया है बल्कि इसलिए कि उस ने राज्य द्वारा निर्मित नियमों का उल्लंघन किया है। इस प्रकार किसी दूसरे की इच्छा से शरीर तथा परिस्थितियों को प्राप्त करने वाले प्राणी को कैसे दोषी ठहराया जा सकता है। इस संसार में न तो कुछ 'सही' है और न ही कुछ 'गलत' है। बल्कि सब

कुछ अवयवों से ही उत्पन्न कार्यकलाप हैं।

वर्तमान देश का निर्माण ही हाथों से ही हुआ है। फिर मालूम स्पष्ट है। कारावास देने की प्रथा तो सचमुच पुरानी पड़ गई है। इस प्रकार यदि जब काटने वाले प्राणी को कारावास दिया जाए तो वर्षों के अथक परिश्रम से सीखी हुई उस की कला का ह्रास नहीं तो क्या होगा? उसी के लिए सब से अच्छा स्थान है राष्ट्रीय गुप्तचर विभाग। यदि कोई व्यक्ति महान हत्यारा है तो उसे भी उचित प्रशिक्षण के साथ सेना में स्थान देना चाहिए। इस प्रकार हर पैदा होने वाला प्राणी देश के काम में अपना योगदान दे सकता है। बुद्धिमानों तो यही होगा कि हर पैदा होने वाले प्राणी का योगदान राष्ट्रीय कार्यों में लिया जाए।

अपराधियों के लिए सुखसुविधा

भारत जैसे गरीब देश के लिए कारावास की व्यवस्था वैसे ही है जैसे किसी गरीब के यहां वेश्या का नृत्य। कारावास तो अपराधियों के लिए सुखसुविधा का स्थान है। कुछ ऐसे लोगों को जो छोटेमोटे गुनाहों के कारण कारावास में हैं, सार्वजनिक कार्यों में लगा कर राष्ट्र का हित करना चाहिए। इसी प्रकार राजनीतिक कैदियों को जीवन की हर सुखसुविधा प्राप्त रहती है। यह राष्ट्र पर अपव्यय का बोझ नहीं तो क्या है?

बिना इच्छा के हम यहां आए। मन-चाही परिस्थितियों में हमारा लालनपालन नहीं हुआ। फिर किसी को क्या अधिकार है जो किसी को उस के अधिकार से वंचित रखे? किसी को क्या अधिकार है कि वह यह बताए कि कौन सी वस्तु किस की है? किसी की राष्ट्रीय सीमा को निर्धारित करने का अधिकार किसी अन्य को कैसे है?

जरा इस राष्ट्रीय सीमा के ऊपर भी थोड़ा विचार किया जाए। जब मैं प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहा था तो मुझे बताया गया था कि भारत की सीमा में आज का पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, भूटान,

बरमा, मलाया तथा सिंगापुर—सभी आज हैं। कुछ दिनों बाद फिर मालूम हुआ कि अब केवल आज का पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, सिक्किम, तिब्बत तथा लंका ही भारतीय सीमा में हैं।

फिर तिब्बत तथा लंका के भी निकलने की बात जानने को मिली। ये सीमाएं क्या हैं? इन्हें कौन बनाता है? विचार करने पर ऐसी ही बात होगी जैसे कोई शक्तिशाली व्यक्ति आप के घर में घुस कर आप को स्नानगृह में बंद कर के कहे कि आप का घर अब इतना ही है। आप भी यही मानने लगते हैं जब तक कि आप के पास अपने पूरे मकान को वापस लेने की शक्ति न आ जाए। इस प्रकार किसी को क्या अधिकार है कि वह आप के देश की सीमाओं को निर्धारित करे तथा अपने लाभ के लिए कुछ नियम बना कर आप को सचाई से सदा दूर रखे। अतः इस फलतीफूलती धरती पर आप का पूर्ण अधिकार है। देर केवल संगठित हो कर उसे प्राप्त करने की है।

व्यक्तिगत कठिनाइयां

अब अंतरराष्ट्रीय समस्याओं से हट कर कुछ व्यक्तिगत कठिनाइयों पर विचार किया जाए। आप परिश्रम कर के विश्व-विद्यालय की उपाधि ग्रहण करते हैं। फिर भी आप को कार्य नहीं मिलता। तो क्या यह सच माना जाए कि आप किसी कार्य को करने में समर्थ नहीं? कभीकभी तो कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिन में केवल हस्ताक्षर की आवश्यकता है, जिन्हें आप क्या कोई भी कर सकता है। फिर भी आप बेकार क्यों हैं? दूसरों को काम क्यों मिला हुआ है? उत्तर स्पष्ट है। कार्य मिलने वाले नियम ही उसी ने बनाए हैं। वे नियम भी ऐसे हैं कि जिन्हें बनाने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, आप का कोई हाथ ही नहीं रहा है। इस प्रकार के नियमों के आधार पर यदि किसी को कोई कार्य न मिले तो क्या यह बरदाश्त करने की बात है? क्या किसी भी व्यक्ति को किसी कार्य

के लिए स्थायित्व प्रदान करना उचित होगा जब कि बहुत से योग्य लोग उस कार्य के लिए बेकाम तथा बेरोजगार हैं?

यदि कोई नियम बना कर आप का शोषण करे तो इस के विरोध में अपनी आवाज बुलंद करने का आप का प्रथम कर्त्तव्य है। स्पष्ट है कि कुछ लोग मृत्युपर्यंत किसी काम को कर रहे हैं जब कि दूसरे योग्य व्यक्ति भी उपलब्ध हैं। क्या यह आप का कर्त्तव्य नहीं कि आप अपने अधिकारों को ले लें। सच तो यह है कि यदि आप किसी कार्य के लिए अधिक उपयोगी हैं तो दूसरे अनुपयोगी से उस कार्य को ले लेना चाहिए। सांख्यिकी पक्ष के अनुसार कुछ उमर तक व्यक्ति की कार्यक्षमता बढ़ती है। एक समय आता है जब क्षमता सर्वोत्तम हो जाती है। किंतु उमर के चढ़ाव के साथ क्षमता में घटाव भी प्रारंभ हो जाता है। हमारे यहां सब से मजे की बात तो यह है कि उमर बढ़ती जाती है, कार्य-क्षमता घटती रहती है किंतु नौकरी बरकरार रहती है।

सच तो यह है कि किसी योग्यतम उच्च पद पर बड़े दिमाग तथा कमजोर धमनियों वाले व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं। ऐसे कार्य के लिए तो किसी योग्य नवयुवक की आवश्यकता होगी जिस का निर्देशन सीधे उस कार्य में शोधरत वैज्ञानिकों द्वारा होगा। सच मानिए। यह हमारा और आप का कर्त्तव्य है कि जिस के हम अधिकारी हों, उसे ले लें। सारे मानसिक पतन का कारण है नौकरी में स्थायित्व का आना। इसी स्थायित्व के कारण लोग अकर्मण्य हो जाते हैं। दुनिया भर के खुराफाती विचार, जो जातिपांति से संबंधित हैं, उसी खाली समय में आते हैं।

अब थोड़ा जातिपांति के बारे में विचार किया जाए। जैसे रमन को लोग ब्राह्मण कहते हैं। पर उसे लोग ब्राह्मण क्यों और कैसे समझते हैं। यदि पैदा होते ही उसे वहां से हटा कर किसी हरिजन बालक से अनजाने ही बदल दिया जाए तो फिर ब्राह्मण कौन होगा? रमन ब्राह्मण

है, क्योंकि पैदा होते ही उसे बताया गया कि वह ब्राह्मण है। अन्य लोगों को कार्य का अभ्यास जाति के अनुसार ही करना है। कोई ऊंची जाति का है, कोई नीची जाति का है। क्योंकि वचपन से सभी को इसी प्रकार की बातें बताई गई हैं इसलिए जो बात जैसी कही जाती है वह उसे वैसे ही मान लेता है। निष्पक्ष भाव से किसी बात को तर्क की कसौटी पर कसने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। एक धार्मिक पुस्तक के अनुसार यदि आप में अटूट विश्वास है तो एक बार आप की आज्ञा मान कर पर्वत भी चल पड़ेगा तथा जहां आप चाहेंगे वहीं पहुंच जाएगा। अब यदि व्यक्ति के मन में जरा भी संदेह नहीं है कि पर्वत चल नहीं सकता तो कभी इस दृष्टिकोण से वह विचार ही नहीं करेगा। उस के लिए तो पर्वत चलता है।

इसी प्रकार राजा का निर्माण हुआ। उसे बाल्यावस्था से राजकुमार के नाम से पुकार कर उस के दिमाग को बताया जाता है कि वह राज्य करने के लिए ही पैदा हुआ है। अन्य लोगों को भी बताया जाता है कि वे शासित होने के लिए ही पैदा हुए हैं।

स्वार्थी लोगों की देन

संसार में न कोई हिंदू है न कोई मुसलमान और न कोई ईसाई। यह तो सब हमारे आप के दिमाग की उपज है जिसे कुछ स्वार्थी लोगों की देन कहना चाहिए। यदि इन सब पचड़ों से कोई बाहर निकल सका तो निश्चित ही उसे अनुभव होगा कि परस्पर लड़ाईझगड़ा कर के एकदूसरे के प्राण लेना केवल इसलिए कि दो मानव एक ही धर्मावलंबी नहीं हैं, कितना दुखद है!

मैं अपने कुछ अनुभव मानव वर्ण के बारे में व्यक्त करना चाहता हूं। भारतीय समाचारपत्रों में इस की चर्चा बहुत कम, या यों कहें कि नहीं के बराबर रहती है। पर पश्चिमी समाचारपत्रों से तो ऐसा लगता है कि इन के दिमाग में वर्ण-

भावना कटकट कर भरी हुई है। लगता है, विश्व में उदय होने वाली समझौती की जड़ मानव के वर्णभेद में ही है। इन की चर्चा के विषय गोरे रंग को छोड़ कर बाकी सभी रंग रहते हैं। ध्यान रहे कि भारतीय इस के बाहर नहीं। इन सभी को ये रंगीन वर्ण नाम से पुकारते हैं। यह वर्गीकरण, जो केवल वर्ण के ऊपर आधारित है, समझ में नहीं आता। आखिरकार रंग के नाम पर तो सफेद, काला, पीला, हरा सभी रंग ही तो हैं। भारतीय रंग फिर किस वर्गीकरण में आता है!

समझ में नहीं आता कि एक मानव रंग के नाम पर दूसरे मानव को भिन्न क्यों समझता है? इस प्रकार के कुछ लेख, जिन में रंग और गुलामी की बू बिना पढ़े आती है, यहां आए दिन समाचारपत्रों में देखने को मिलते हैं। वैसे उत्तरी अमरीका में नीग्रो लोगों की हालत खराब है। विश्व के इस भाग में यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि नीग्रो लड़कियां अपने बालों को सीधा करने के लिए क्या-क्या नहीं करतीं! लगता है उन के विचार में घुंघराले बाल सीधे बालों की अपेक्षा निम्न-स्तरीय सौंदर्य के प्रतीक हैं। इस भाग में जब कोई विशेष निर्णय लिया जाता है तो मानवी रंग विशेष महत्त्व रखता है। ज्यों-ज्यों मैं निर्णायकों तथा उन के द्वारा लिए गए निर्णयों को नजदीक से देखता हूं, मुझे लगता है कि इन निर्णयों के पीछे कोई विचार नहीं, अपितु केवल भावना है। इन भावनाओं के आधार पर ही राजनीतिक, राष्ट्रीय निर्णय दिए जा रहे हैं।

भारतीय रंग ही सर्वश्रेष्ठ

यदि सभी लोग रंग समस्या को गहराई से सोचें तो पता चलेगा कि भारतीय रंग सर्वश्रेष्ठ है। एक वंतकथा के अनुसार जब ब्रह्मा ने सृष्टि करने की सोची तो हिमालय पर आ कर उन्होंने मिट्टी से

मानव का पुतला बनाया और पकने के लिए आग में रख दिया। पहला मौका व अनुभव की कमी के कारण मूर्ति को आग से निकालने में थोड़ी देर हो गई। इस के कारण मूर्ति में कुछ टढ़ापन आ गया और बाल सिर से चिपक गए। इस मूर्ति को देख कर ब्रह्मा को बड़ा असंतोष हुआ। उस ने इसे शाप दे कर नीचे की ओर फेंक दिया जो अफ्रीका में जा गिरी। इस प्रकार अफ्रीका के निवासी वही रूपरंग लिए इस धरती पर पैदा हुए। दूसरी बार फिर यही क्रम दोहराया गया। किंतु जल्दबाजी के कारण मूर्ति को अपरिपक्ववस्था में ही आग से बाहर निकाला गया। परिणामतः इस के अंगप्रत्यंग सुगठित न रहे।

ब्रह्मा फिर असंतुष्ट ही रहे। जब उस ने प्राण दे कर इस मूर्ति को फंका तो वह इसी पश्चिमी भाग में आ गिरी। इस प्रकार इन गोरों का आविर्भाव हुआ। तीसरी बार इसी क्रम को दोहराया गया। हर अनुभव और सावधानी बरतने के बावजूद मूर्ति में उचित रंग न आ सका। ब्रह्मा ने इसे आग से देखा तो संतोष नहीं हुआ। झुंझलाहट में पीछे की ओर देखा, असंतोष और बढ़ा। परिणामतः पीछे से ऐसी लात मारी कि प्राण सहित मूर्ति हिमालय के नीचे पेट के बल जा गिरी। तभी तो यहां के निवासियों की नाक चपटी तथा उन में छाती का अभाव है।

चौथी बार ब्रह्मा ने इसी क्रम को फिर दोहराया। अनुभव भी अब पर्याप्त हो चुका था। इस बार मूर्ति को ठीक प्रकार से पका कर ही आग से निकाला गया। इसे देख कर ब्रह्मा बड़ा ही संतुष्ट हुआ। अतः प्राण दे कर भारतभूमि पर फेंक दिया। इसी लिए भारतवासी ब्रह्मा के प्रिय हैं। भारतपृथ्वी का केंद्र है। इसलिए कहीं पर किसी दुख को पनपने नहीं देना चाहिए। चाहे जिस कोने का भारतवासी हो, वह भारतीय पहले है और कुछ बाद में।

सरिता मुक्ता के रिप्रिंटस सैट

सेट नं. 1 : प्राचीन हिंदू संस्कृति, शंबूक वध, अतीत का मोह, पुरोहित-वाद, गौपूजा, हमारी धार्मिक सहिष्णुता, कृष्णनीति : हमारा नैतिक पतन, ज्ञान की कसौटी पर परलोकवाद, राम का अंतर्द्वंद्व, राम का अंतर्द्वंद्व : आलोचनाओं व आपत्तियों का उत्तर, भारत में संस्कृति का ब्राह्मण नियंत्रित विस्तार, हिंदू धर्म, संस्कृत, भारतीय नारी की धार्मिक यात्रा, कर्ण, भारतीय नारी की सामाजिक यात्रा, तुलसी और वेद, रामचरितमानस में ब्राह्मणशाही, युगोंयुगों से शोषित भारतीय नारी, भ्रष्टाचार, रामचरितमानस में नारी, सत्यनारायण व्रत कथा, क्या नास्तिक मूर्ख हैं? गांधीजी का बलिदान, यज्ञोपवीत, जंत्र तंत्र मंत्र, कर्मयोग, गरुड़ पुराण, ईश्वर, आत्मा और पाप, कितना महंगा धर्म, सरिता और हिंदू समाज।

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 2 : कितना महंगा धर्म : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, कितना महंगा धर्म (निर्णय), राम कथा व सीता चरित्र. सरिता और हिंदू समाज, तुलसी साहित्य : अनुवादों की सफल नुमाइश के सिवा क्या है? तुलसी साहित्य : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, हिंदूओं के मंदिर कैसे हों? रावण, रामचरितमानस के अविवेकपूर्ण प्रसंग, रामचरितमानस के कुछ असंगत स्थल, श्रीकृष्ण, गीता : कर्मवाद की व्याख्या या कृष्ण का आत्म प्रचार, क्या कौमार्य रक्षा दकियानूसी है? कृष्ण और राधा, श्रीमद्भागवत, भागवत और भूगोल, समाजवाद बनाम स्वतंत्रता, कामायनी, हिंदू विवाह पद्धति, पुत्रेष्टि यज्ञ, तुलसीदास और हिंदू समाज, हिंदी साहित्य का गलत इतिहास, धनुषयज्ञ, कृष्ण और गोपियां, हमारे देव मंदिर, क्या समाजवाद अनिवार्य है? विवाह पूर्व यौन संबंध, श्रीकृष्ण : अपने जीवन की संध्या में, सताई गई नारी, कृष्ण और कुंजा।

मूल्य 5 रुपए

सेट नं. 3 : सिपाही क्यों लड़ता है, प्रेम पत्र न लिखिए, डायरी न लिखिए, इस्लाम और स्त्री, योगी अरविंद, गीता में अंतर्विरोध, गायत्री मंत्र, गायत्री मंत्र : आलोचना व आपत्तियों का उत्तर, ट्रेड यूनियन, संसद सदस्य श्री चांदर वाला केस : मुकदमे की काररवाई, सेशन जज का निर्णय, उच्च न्यायालय का निर्णय, सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय, घाटे वाले बालाजी, आखिरत की अटकलें, हिंदी साहित्य की बपौती, भीष्म, मुसलिम विवाह, भगवान श्री रजनीचर, महाभारत की ऐतिहासिकता, महाभारत की ऐतिहासिकता : आलोचनाओं व आपत्तियों के उत्तर, रेंट कंट्रोल एक्ट एक विफल कानून, आप की लड़की प्रेम करती है, यूनियन, सौंदर्य प्रतियोगिता, वैज्ञानिक ज्ञान बनाम अध्यात्म ज्ञान, पूंजीपति, नियोग, सरिता और हिंदू समाज।

मूल्य 5 रुपए

दिल्ली बुक कंपनी, एम-12, कनाट सरकस, नई दिल्ली-110001.

कितना महंगा धर्म

सखा बोरड़

मोक्ष कहीं मुफ्त प्राप्त किया जा सकता है?

इस में शंका या तर्क करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि जैन साधुओं का जीवन दूसरे धर्मों के साधुओं की तरह ही, बिल्कुल अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक कल्पनाओं के पीछे गुजरता है। न केवल उन के शास्त्रों, उपदेशों, प्रवचनों और चिंतन में ही अवैज्ञानिकता है, बल्कि व्यवहार के हर क्षेत्र में इस का कुप्रभाव नजर आता है। उन की वेशभूषा, उन का खानपान, बोलचाल का तरीका, रहने का ढंग, सब अजीब बेढंगे और बौद्धिक खोखलेपन के प्रतीक हैं।

धर्म के ठेकेदार : अविवेक—अज्ञानता की भरमार

किसी भी पहलू पर जो चिंतन धर्म के ठेकेदारों और व्यापारियों ने किया है वह शत प्रति शत अज्ञानता और अविवेक से भरा हुआ है। जीवन के उद्देश्य के बारे में, उस की उपयोगिता के बारे में, तथा जीवन जीने के तरीकों के बारे में सब जगह गंदे, मिथ्या और निराशापूर्ण विचार मानव समाज को उन्होंने दिए हैं, तथा झूठे शब्दों की रचना कर जनसाधारण को गलत रास्तों पर चलने को विवश किया है। कहीं आत्मा की बात कही है, कहीं मोक्ष का लालच दिया है, कहीं नरक का भय दिखाया है, कहीं कर्मों को सब से ऊंचा माना है, कहीं स्यादवाद तो कहीं

कुछ, जब कि कोई भी विचार तर्कसम्मत तथा बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरने वाला नहीं। रेगिस्तान में झूठे जल के पीछे भटकने वाले यात्रियों की तरह ये युगोंयुगों से मतिभ्रम हो भटक रहे हैं और अपने पीछे दूसरों को भी भटका रहे हैं।

धर्म की अलगअलग दुकानें

अन्य धर्मों की तरह ही, जैन साधु, जैन धर्म के सिद्धांतों के बारे में एकमत नहीं हैं। वे अनेक फिरकों, पंथों और संप्रदायों में बंटे अपनीअपनी डफली पर अपनाअपना बेमेल और बेसुरा राग अलापते हैं। कोई दिगंबर बना फिरता है तो कोई सफेद कपड़ों में ही धर्म मानता है। किसी के हाथ में झाड़ू है तो कोई डंडा लिए घूमता है। पूरी धांधली और मनमानी है। उस पर तुरा शाश्वत सत्त्यों की मान्यता का। हंसी आती है ऐसे धर्म पर, साधुत्व तो मात्र दिखावा है, ढोंग है। इस की झाड़ू में अलग अलग दुकानें खुली हुई हैं। जहां सिद्धांतों की एकता नहीं, व्यवहार की समानता नहीं, रीतिरिवाजों में जहां गहरा अलगाव हो वह धर्म यदि प्रेम, मैत्री, विश्वबंधुत्व, सहिष्णुता आदि का डिंडोरा पीटे तो उस से अधिक बेईमानी और क्या हो सकती है। पंथाचार्यों से जो परिचित हैं वे जानते हैं कि दूसरों की मंत्री और विनय का उपदेश देने वाले स्वयं छोटीछोटी बातों के

लिए कितनी गंदी लड़ाइयां लड़ते हैं। कलकत्ता में एक मनुष्य का आचार्य जो पदोन्नति के लक्ष्य की मान्यताओं तक ही चलता है, उस के बाद तो वही होता है जो सामान्य व्यक्ति करता है।

सिद्धांतों और व्यवहार की विभिन्नता ने जैन साधुओं और श्रावकों के जीवन में अनोखी विद्रूपता भर दी है।

जैन साधु मुंह पर कपड़े की पट्टी बांधे रहते हैं। क्या तुक है इस में? कौन सी व्यावहारिकता है पट्टी लगाने में? कहा जाता है कि बोलने से हवा में तैरने वाले जीवों की हिंसा होती है। उस हिंसा से बचने के लिए आवरण रखा जाता है। कितना हास्यास्पद और गलत तर्क है। जीव तो आकाश के कणकण में हैं। कपड़े की पट्टी लगाओ चाहे लोहे की चादर, वे तो सब जगह चले जाते हैं। जहां तक उन के मरने का प्रश्न है, शरीर की प्रत्येक गति-विधि से वे मरते हैं। सांस लेने से मरते हैं। खाने से मरते हैं। चलने से मरते हैं। फिर बेचारे मुंह को ही यह सजा क्यों भुगतनी पड़ती है? और फिर, यदि जीव मरते हैं तो सभी जैन साधु मुंह पर पट्टी क्यों नहीं रखते, तथा किसी संप्रदाय को यह पट्टी छोटी और किसी की बड़ी क्यों होती है?

अवसरवादिता का ट्रेडमार्क

यह सब फिरकेबंदी की निशानियां हैं। ट्रेडमार्क हैं। जिन के साथ हिंसाग्रहिंसा, पापपुण्य को जबरदस्ती मिला कर एक प्रभाव उत्पन्न करने की कुचेष्टा की गई है। केवल ऐसा कह देने मात्र से ही नहीं चल सकता कि यह तो अपनी अपनी मान्यता है। फिर तो सभी की अपनी अपनी मान्यता है। अपने अपने विचार हैं। पराई स्त्री से प्रेम करना भी अपनी मान्यता है। किसी की हत्या करना भी अपनी मान्यता है। बलात्कार करना भी अपनी मान्यता है। किसे क्या प्रयोजन है कि कोई सोमाग्रों को बांधे, नियम बनाए या अपने सिद्धांतों का प्रचार करे और उन का ढोल पीटे।

अपनी मान्यताओं का सिद्धांत भी जैन स्वयं की मान्यताओं तक ही चलता है, उस के बाद तो वही होता है जो सामान्य व्यक्ति करता है।

जैन शास्त्र : अज्ञानता के अनमोल मंडार

जिन बातों को शाश्वत सत्य मान कर उन का आदर किया जाता है उन में सचाई जरा भी नहीं है। जैन शास्त्रों में भूगोल संबंधी ऐसी बेसिरपैर की गप्पें भरी पड़ी हैं जिन्हें पढ़ कर तरस आता है उन के रचनाकारों की बुद्धि पर। उस से भी अधिक तरस आता है उन शास्त्रों को भगवान की वाणी समझने वालों की अकल पर। क्या तथाकथित सर्वज्ञान संपन्न, सर्व-द्रष्टा, त्रिकालज्ञ महात्माओं और ज्ञानियों को इतना भी मालूम नहीं हो सका कि सूर्य गतिशील है अथवा पृथ्वी, चंद्रमा क्या है, पृथ्वी का क्षेत्रफल कितना है? इन का सही उत्तर तो तीसरी कक्षा का एक मामूली सा विद्यार्थी भी दे सकता है, जो सृष्टि के गुह्यतम रहस्यों की चर्चा करें, परलोक और मोक्ष की स्थितियों को जानने का दावा करें, वे व्यक्ति इस तरह की फूहड़ गलतियां करेंगे इस की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। धार्मिक पुस्तकों में तीर्थंकरों की उमर को नाटकीय संख्याओं में बताया गया है। किसी की उमर दस हजार वर्ष तो किसी की दस लाख, और किसी की दस करोड़, सूत्रों और शास्त्रों में सर्वथा अनैतिहासिक, असंगत और तमाम असत्य बातें भरी पड़ी हैं जिन को कोई भी आज तक प्रमाणित नहीं कर सका है। श्रद्धा और भक्ति की दुहाई केवल मूर्ख ही दिया करते हैं।

धर्मपालन में अतिनाटकीयता

सारा संसार जानता है कि हरी तर-कारियों में विटामिन होते हैं। जन साधु अपने भक्तों को हरी सब्जियां खाने को मना

करते हैं। क्योंकि हरी सज्जियों में जीव होते हैं। उन का कटना है कि हरी सज्जियाँ खाने से जीव हत्या का पाप लगता है। क्या यह मूर्खतापूर्ण अवैज्ञानिक व्यवहार नहीं है? श्रावक भी इतने होशियार कि मुप्त में धर्म भी करना चाहते हैं और स्वाद भी लेना चाहते हैं। वे आलू को ऐसे नहीं खाएंगे। पहले उसे उबालेंगे, फिर धूप में सुखाएंगे और फिर उबाल कर खाएंगे। क्या इस से ज्यादा जीव नहीं मरते? यह सब तमाशा नहीं तो और क्या है?

पानी में राख मिला कर पीना कौन सी वैज्ञानिकता है? क्या राख से पानी शुद्ध होता है? जिस तरह से जैन साधु और श्रावक श्राविकाएं उपवास करते हैं उस से निश्चित रूप से शरीर को क्षति पहुंचती है और कई बीमारियाँ लग जाती हैं।

लेकिन अधिक दिनों तक भूखे रहने की महिमा गाई जाती है और तरहतरह के सज्जबाग दिखाए जाते हैं। समझ में नहीं आता, भूखे रहने से आत्मा कैसे शुद्ध होती है? शरीर को कष्ट देना आत्मा को कष्ट देना है। आत्मा शरीर से अलग कुछ नहीं है। जब तक शरीर है आत्मा है उस के बाद सब कुछ समाप्त। लेकिन जैन धर्म में शारीरिक कष्ट को पुण्य माना गया है। यह शत प्रति शत अवैज्ञानिक कल्पना है।

अवैज्ञानिक—कल्पनाओं की अधिकता

जैनी संथारा को बहुत बड़ा धार्मिक कृत्य मानते हैं जो खुदकुशी के सिवा कुछ नहीं है। काल्पनिक विचारों के पीछे, भावावेश में आ कर खुद को मार डालना आत्महत्या नहीं तो क्या है? इस तरह की हत्या के लिए कभीकभी तो व्यक्ति को मजबूर किया जाता है। यह सब सामाजिक षड्यंत्रों, धार्मिक ढुढ़ियों और पारिवारिक उलझनों के बीच घटने वाली घटना है जिसे समाज के अंदर रह कर ही जाना जा सकता है।

जहां तक दवाओं के सेवन, अच्छे-अच्छे कपड़ों के प्रयोग, गरिष्ठ और स्वादिष्ट भोजन करने का प्रश्न है, ये सब प्रति दिन की साधारण बातें हैं जो कभी भी दिखाई और बताई जा सकती हैं।

बड़ेबड़े डाक्टरों से आपरेशन और इलाज कराए जाते हैं, उन्हें दर्शन के बहाने बुलाया जाता है। इन सब के समाचार तो जैन धर्म की पत्रपत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते रहते हैं। कपड़ा तो खेर अच्छे से अच्छा पहना ही जाता है। दिगंबरों साधु अवश्य नंगे रहते हैं। भक्त लोग अपने बच्चों तक को भूखा रख कर साधुसाधवियों को बढ़िया से बढ़िया भोजन देते हैं।

किसी भी चौमासे में कहीं पर भी जा कर पंडाल देखे जा सकते हैं। कलकत्ता में जब एक पंथाचार्य आए थे उस समय रवींद्र सरणी में एक बड़ा सा पंडाल बनाया गया था जो कई महीनों तक खड़ा रहा। यहां लगभग पांच हजार भक्त लोग (पंथभक्तों के शब्दों में ही) रोज एकत्र होते थे। ये पांच हजार व्यक्ति क्या दस फुट की जगह में ही समा जाते थे या इतना बड़ा पंडाल (मय बिजली पंखों के) क्या किसी ने मुप्त में ही बना दिया था? उस पर हजारों रुपए खर्च हुए थे। इस तरह के हजारों रुपए हर पंथ में हर साल कहीं न कहीं खर्च होते हैं।

जैन साधुसाधवियों के घिनौने तरीके से जीवन यापन करने के प्रमाण में केवल एक उदाहरण देना काफी होगा। कलकत्ता में सन 1959 में जैन संप्रदाय के आचार्य आए थे। उस समय उन के मलमूत्र त्याग करने के शरमनाक, जंगली और असभ्य तरीके के विरोध में एक बहुत बड़ा आंदोलन हुआ था।

इस आंदोलन को पश्चिमी बंगाल के कई मिनिस्टर्स, नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं का सहयोग मिला था और उन के हस्ताक्षर से इस गंदी, घिनौनी और अमानवीय परिपाटी को छोड़ने की अपील भी निकली थी। वे आचार्य मलमूत्राचार्य

के नाम से पुकारे भी जाने लगे थे, फिर भी धर्म के ठेकेदारों ने शास्त्रों की दुहाई दे कर अपने गंदे तरीकों के औचित्य को सिद्ध करने की कुचेष्टा की थी। श्रावकों ने विरोधियों पर झूठे मुकदमे भी चलाए थे।

इस संबंध में इतना अधिक साहित्य प्रकाशित हुआ था जिसे यदि कोई देखना चाहे तो भेजा जा सकता है। ये साधु-साध्वियां मूल त्याग के लिए पेशाब-घरों का उपयोग नहीं करते बल्कि पात्र में भर कर सार्वजनिक खुली सड़कों पर मूल को छिड़कते हैं। यह हकीकत है, कोई कल्पना नहीं है।

इसी तरह मूल त्याग के समय गंदी हरकतें की जाती हैं। यह सब धर्म और शास्त्रों के नाम पर होता है। क्या ये प्रथाएं धिनौनी और लज्जाजनक नहीं हैं?

ये साधुसाध्वियां : धिनौनी गतिविधियां

क्या इस के लिए और ज्यादा प्रमाणों की आवश्यकता है? व्यक्ति जानबूझ कर शुचुरमुर्ग की तरह यदि आंखें बंद कर ले तो चारा ही क्या है?

साधुओं की सेवापूजा पर लाखों रुपए हर वर्ष खर्च होते हैं। ऐसा हर धर्म और पंथ में होता है। इस का क्या प्रमाण दिया जाए। जहांजहां भी ये साधु जाते हैं उन के लिए विशेष व्यवस्था की जाती है। उन्हें मुफ्त का खाना दिया जाता है। उन की सेवा में आने वाले यात्रियों का खर्च स्थानीय धार्मिक संस्थाओं को उठाना पड़ता है। पंथाधोशों से मिलने के लिए तरहतरह के बहाने बना कर नेताओं को बुलाया जाता है और उन्हें बैलियां भेंट की जाती हैं। एक बार इसी बात पर देश के एक सुप्रसिद्ध नेता ने एक पंथ के श्रावकों को बुरी तरह से फटकार लगाई थी।

अत्याधिक अपव्यय : लाभ किस को?

साहित्य प्रकाशन, प्रचार आदि पर

लाखों रुपए हर वर्ष खर्च होते हैं। क्या बिना खर्च किए अखबार, पत्रपत्रिकाएं, डेर के डेर कूड़ेकरकट से भरी फालतू पुस्तकें, अभिनंदन ग्रंथ यों ही प्रकाशित हो जाते हैं, अथवा उन का खर्च आसमान से आता है?

किसी भी संस्था का हिसाब देखने से प्रमाण मिल जाएगा कि समाज के अंधकार-अज्ञान को फैलाने वाले साहित्य पर हर साल कितना खर्च होता है। धार्मिक पत्रिका के प्रकाशन की संख्या के झूठे आंकड़े बता कर सत्यव्रत तथाकथित ठेकेदार कागज के कोटे की ब्लैक में बेचते हुए भी शरम और हया का अनुभव नहीं करते।

जैन समाज एक सीधासादा व्यापारिक समाज है। इस कथन के बारे में क्या कहा जाए? कोई समाज सीधासादा हो तो ठीक ही है। लेकिन अच्छा होता पाठक जस्टिस दास की रिपोर्ट को एक बार पढ़ लेता जिस के कारण एक सीधासादा जैन आज सारे देश में चर्चा का विषय बना हुआ है।

अलावा इस के, धर्मांधता तो धर्म की विशेषता ही है। धर्म के नाम पर खून की नदियां बहाई गई हैं, लाखों आदमियों का संहार हुआ और हो रहा है।

अहिंसा के पुजारियों के लिए इस से बढ़ कर शरम और लानत की बात और क्या हो सकती है?

हाथ से नोचनोच कर खोपड़ी और दाढ़ी के बाल साफ करना, पैदल चलना, जिदगी भर स्नान नहीं करना, दांत साफ नहीं करना, क्या ये सब आदिम युग की परंपराएं नहीं हैं? क्या आधुनिक युग में इन की उपादेयता किसी भी तरह से सिद्ध की जा सकती है? फिर भी साधु समाज गधे की पूंछ की तरह ढुंढियों को पकड़े चला जा रहा है। न उसे अपने इस फूहड़पन पर शरम है, न आधुनिकता अपनाने का साहस।

सिद्धांतों की अव्यावहारिकता के और भी बढ़िया नमूने पेश किए जा सकते हैं। जैन धर्म के एक पंथ की यह मान्यता है कि मांबाप की सेवा करना पाप है, प्यासे

को पानी पिलाना पाप है, किसी की रक्षा करना पाप है, आदि। दूसरे को मारना पाप है, आदि। कभी देखें और सुनें हैं इतने ऊँचे आदर्शों? अलबत्ता पढ़ेलिखे लोगों को मूर्ख बनाने के लिए आजकल उलझन में डाल देने वाले उत्तर इस पंथ के आचार्य और मुनियों के द्वारा दिए जाने लगे हैं। इन से पूछिए कि मांबाप की सेवा करना धर्म है कि पाप? प्रथम तो ये इस प्रश्न का जल्दी से उत्तर ही नहीं देंगे। यदि देंगे भी तो कहेंगे सेवा करना लौकिक धर्म है। यह लौकिक धर्म क्या बला है कोई पूछे इन से, व्यक्ति समाज और राष्ट्र के प्रति द्रोहपूर्ण सिद्धांत स्थापित कर धर्म के इन पहलुओं द्वारा सरासर चालबाजियां बरती जा रही हैं।

यह कैसा राष्ट्र धर्म?

आजकल राजनीति का चस्का भी लगा है इन साधुओं को। जो कभी दिल्ली को अनार्य भूमि मान कर वहां जाते नहीं थे, वे ही आचार्य और मुनि अब दिल्ली की हर साल किसी न किसी बहाने प्रदक्षिणा लगाते हैं। राजनीति के साथ गठबंधन से साधुओं का आचरण भ्रष्ट से भ्रष्टतर हो गया है। ये राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री और अन्य मंत्रियों के सर्टिफिकेट लिए भी घूमते हैं। क्या राजनीति के चरणों में धर्म की यह पराजय नहीं है? क्या यह अवसरवादिता का घिनौना उदाहरण नहीं है? इस अवसरवादिता के नशे में ये ऊलजुलुल बातें भी कह जाते हैं। पिछले दिनों एक जन साधु ने यहां तक दावा किया कि भारत के नए प्रधान मंत्री को चुनने में उन के आचार्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

करुणा और मित्रता का शंखनाद करने वाले इन नकली ढपोरशंखों के व्यवहार में घृणा और द्वेष इतनी अधिक मात्रा में भरे हैं कि दूसरे मत वालों को फूटी आंखों से भी नहीं देखते। जुलाई 1964 में एक जन पत्रिका में अन्य

मतावलंबी साधु के कुशलक्षेम के समाचार एक बार छपे गए तो उस समाचार को तूल दे कर समूचे ग्रंथ को फिर से मुद्रित किया गया।

यह कह देने से कि, जनाब हमारे पंथ में तो अमुक बात नहीं होती, सचाई और कमजोरियों पर परदा नहीं डाला जा सकता। एक पंथ में अमुक बुराई नहीं तो उस से बड़ी दूसरी बुराई नहीं मिलेगी। तेरह पंथ हों अथवा बाइस मंदिरमागों हों अथवा स्थानकवासी, दिगंबरी हों या श्वेतांबरी, सभी एक थैली के चट्टेबट्टे हैं और तरहतरह की बुराइयों से समाज को दूषण बनाते जा रहे हैं। विरोध करे भी कौन, सब का स्वार्थ किसी न किसी तरह सधता है। और इसलिए एकदूसरे की विकृतियों पर परदा डाल कर अपनाअपना उल्लू सीधा करने में लगे हैं।

असल में साधु बनना ही हृदयरज की मूर्खता और अवैज्ञानिकता है। यह सरासर एक व्यापार है जिस की आड़ में निकम्मे, निठले और जाहिल व्यक्ति अपनी धूर्तता के बल पर हराम की रोटी खाते हैं और समाज में तेरहतरह की गंदगी फैलाते हैं। साधुत्व कायरता का चिन्ह है, पलायनवादिता है, जीवन के संघर्षों से डर कर भागने का तरीका है। किसी भी दृष्टि से इस का औचित्य सिद्ध नहीं होता।

कल्याण का ठेका क्या साधुओं को ही है?

जैन धर्म के अनुसार हर व्यक्ति अपने कर्मों से बंधा है। पूर्वजन्म में जैसे कर्म उस ने किए हैं उन्हीं को वह इस जन्म में भोगता है और उन्हीं के अनुसार उस का सारा क्रियाकलाप होता है। एक मिनट के लिए यदि इस पराधीनतावाद को मान लिया जाए तो फिर साधुओं की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? हर व्यक्ति पूर्व निर्धारित कर्मों के अनुसार ही तो कार्य करेगा, साधु और उस के उपदेश क्या उस की नियति को बदल सकते हैं।

यह कथन भी निरा बेईमानीपूर्ण है कि साधु बनने से आत्मा का कल्याण होता है। क्या आत्मकल्याण का ठेका साधु बनने पर ही मिल सकता है? और फिर गृहस्थियों के मध्य, शहरों और नगरों की चकाचौंध के बीच, भौतिक उपकरणों से घिरे रह कर, शरीर के एकएक अंग को उभाड़ रख देने वाली पारदर्शी नाइलोन में सजी-संवरी, वासनाओं को भड़काने वाली आवाजाओं के झुंड से निरंतर सेवित ये साधु अपनी आत्मा का कल्याण कहाँ तक कर सकते हैं? आत्मकल्याण तो जंगलों, पहाड़ों और निर्जन स्थानों में हो सकता है जहाँ भौतिक सुखसुविधाएँ नहीं हैं, कोई आकर्षण नहीं है। लेकिन ये साधु अपना सारा जीवन भौतिक संसार के बीच सांसारिक दांवपेचों में लिप्त रह कर व्यतीत करते हैं। केवल ढोंग करते हैं त्याग का, तपस्या का, विरक्ति और साधुत्व का। साधु बनने के बाद भी ये मांवाप, भाईवहन के रिश्ते से चिपके रहते हैं और उसी नाम से पुकारे जाते हैं। बड़ा भाई है तो 'भाईजी महाराज,' माँ है तो 'माँजी महाराज।' इस तरह की बेईमानी और इस तरह की ठगी इस बौद्धिक युग में नहीं चल सकती। कहाँ का कल्याण, कैसी आत्मशुद्धि? दिन भर ये साधुसाधवियाँ घरगृहस्थों की बातों में उलझे अपना वक्त जाया करते हैं, समाज में फिरकापरस्ती और गुटबाजी को बढ़ावा देते हैं, परिवारों में लड़ाइयाँ और झगड़े फैलाते हैं। 'अमुक की शादी में इतना दहेज दिया,' 'अमुक के घर में क्या खाना बना,' 'अमुक की लड़की कैसी है,' ये सब बातें इन साधुओं के ठिकानों पर दिनरात होती हैं, जिन्हें जब चाहे कोई भी, कहीं भी आसानी से देख सकता है। सुन सकता है

साधुत्व की आड़ में कामुकता

केवल इतना ही नहीं, ब्रह्मचर्य के प्रव्यावहारिक और खतरनाक आदर्श में ऐसे ये साधुसाधवियाँ सब तरह की योनि-

कंठाओं से पीड़ित होते हैं। इस के अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं। उन लोगों की जुबानी जिन्होंने साधुत्व की कारा से मुक्त हो कर पुनः आदमी की तरह जिंदा रहना शुरू किया है, साधुसाधवियों के कारनामों की दिलचस्प कहानियाँ सुनी जा सकती हैं। इन की रासलीलाओं और कामलीलाओं का भंडाफोड़ करने वाली कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जो आसानी से उपलब्ध हैं। साधुत्व की आड़ में घिनौना जीवन व्यतीत करने वाले ये असामाजिक तत्व समाज को हर समय हर तरह से अंधकार की और ढकेलने में लगे रहते हैं। सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से ब्रह्मचर्य ढोंग है, जीने की अर्वाचानिक प्रणाली है। ब्रह्मचारी कोई रह ही नहीं सकता। जिस अंग का जो कार्य है वह उसे किसी न किसी तरीके से पूरा करता ही है। ये ब्रह्मचारी हैं भी किस दर्जे के इस का अंदाज इन के पिचके गालों, निस्तेज और शुष्क चेहरों तथा नाना प्रकार की यौन संबंधी व्याधियों से ग्रस्त शरीरों को देख कर आसानी से लगाया जा सकता है।

पाप करो और भूल जाओ

इन के जीवन का उद्देश्य बिना परिश्रम किए ही पेट भरना है, दूसरा कोई भी शाश्वत सत्य नहीं। आदर्शों की दुहाई देने से ही उन की व्यावहारिकता प्रमाणित नहीं हो जाती। फिर आदर्श चाहे कितने ही ऊँचे क्यों न हों, व्यावहारिक परिणति से ही उन की कीमत आँकी जा सकती है। हजारों वर्षों से ये साधुसाधवियाँ रटेरटाए, पाठ पढ़ते आ रहे हैं, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो, परिग्रह मत रखो, काम से दूर रहो। लेकिन काल के किसी भी क्षण में किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति में किसी ने भी इन सिद्धांतों को नहीं माना है। झूठ व्यक्ति पहले भी बोलता था, आज भी बोलता है, बल्कि ज्यादा बोलता है। चोरी की संख्या में कोई फर्क

नहीं पड़ा है. युद्धों की ज्वालाओं ने अहिंसा की अर्थी को हजार बार जलाया है. व्यक्ति, घर, जमीन और जमीन के लिए कब नहीं लड़ा मिड़ा है? वह इन के पीछे आज पहले से भी ज्यादा पागल नजर आता है. सेक्स से दूर रहना तो असंभव है ही. हर रोज पैदा होने वाले लाखों बच्चे ब्रह्मचर्य का मजाक उड़ाया करते हैं. हर रोज बदस्तूर शादी और विवाह रचे जाते हैं, प्रेम और रोमांस किया जाता है, आदमी मौज और मजे लेता है.

इस में कौन सी महानता है?

तो कौन सा शाश्वत सत्य है? वह जो कभी देखा नहीं गया अथवा वह जो रोज देखा जाता है, जो रोज सामने आता है, जो आप का, हमारा, इन साधुसाधवियों का, सब के जीवन का आधार है? चारों ओर ढोंग का एकमात्र साम्राज्य स्थापित कर रखा है इन साधुसाधवियों और इन के मानने वालों ने और प्रदर्शन किया जाता है शाश्वत मूल्यों का. अहिंसा के ये नकली दावेदार एकएक दोबो रुपए दे कर भिखमंगों से चिलचिलाती धूप में जलती सड़कों पर सोने और चांदी के रथों को खिचवाते हैं, उन रथों पर वे स्वयं बैठते हैं. अभावग्रस्त इनसान की पीठ पर बड़ी शान से अहिंसा का देवता बैठता है. अपरिग्रह की चिल्लपों मचाने वाले भक्त रथ में बैठने के लिए रुपयों की बोली लगाते हैं. धन की बोली, परिग्रह और भौतिक द्रव्य की बोली. जो ज्यादा लगाएगा वही रथ पर बैठेगा और सब खुलेआम होता है.

कार्तिक महीने में कलकत्ता में जैनियों के उत्सव पर निकलने वाले जुलूस के समय यह सब देखा जा सकता है. क्या यही अहिंसा का रूप है? क्या यही शाश्वत सत्य है? क्या मूर्तियों को सोनेचांदी और हीरों के जेवरों से सजा कर रखना ही अपरिग्रह है? देश में आज अन्न की कमी है. धन का अभाव है, लेकिन मंदिरों में लाखों

बल्कि करोड़ों रुपयों की संपत्ति पड़ी है, पत्थर के छतों को केसर और चंदन से सजाया और संवारा जाता है जब कि जीता-जागता इनसान रोटी के अभाव में कुत्तों की मौत मरता है.

ये अंधयुग के अंधभक्त हैं!

मुश्किल तो यह है कि धर्म को मानने वाले अंधभक्त और अंधश्रद्धालु होते हैं. इस अंधभक्ति और श्रद्धा को एक बहुत बड़ा गुण मान कर गौरव का अनुभव किया जाता है. फल यह होता है कि वे किसी भी आलोचना को सुनना पसंद नहीं करते. स्वयं चाहे कितना ही झूठा प्रचार क्यों न करें, अपने सिद्धांतों के विरुद्ध किसी भी बात को नहीं मानते, भले ही वह कितनी ही सच्ची क्यों न हो. यह केवल जैन धर्म की ही विशेषता नहीं है, सभी धर्म अज्ञानता के अंधेरे में पलते हैं.

अज्ञानता के विरोध में होने वाली आलोचनाओं का तर्क से उत्तर न दे कर धार्मिक ठकेदार, पंडे और पुजारी इस बात का नारा लगाते हैं कि धर्म का विरोध किया जा रहा है. अमुक समाज की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाई जा रही है. धर्म के प्रति दुर्भावनाएं प्रकट की जा रही हैं.

यह सर्वथा तथ्यहीन और वाहिप्यात नारा है. गंदी और गलत बात का, वह चाहे किसी भी मजहब, धर्म या संप्रदाय में क्यों न हो, तीव्र से तीव्र प्रतिरोध होना चाहिए. यह कोई दुर्भावना नहीं है. कुछ मूर्खों के कारण मानव समाज की पीढ़ियां दर पीढ़ियां अभिशप्त नहीं रह सकतीं. धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर बेवकूफियों को बरदाश्त नहीं किया जा सकता और न रूढ़िवादी परंपराओं की लाशों को अधिक दिन तक ढोया जा सकता है. विचारों की स्वतंत्रता का. किसी मान्यता का यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्ति चाहे जैसा ऊलजुलूल विचार पैदा कर ले और उस का प्रचार-प्रसार करता फिरे. यह स्वतंत्रता नहीं,

शोषण है। शोषण की यह जंजीर हर कीमत पर टूटनी चाहिये। धर्म के कोठरों में जो कैंसा भी नारा कितनी ही तेजी से बुलंद क्यों न करें।

हमारी इन सब बातों का महत्त्व उस समय और भी साफ हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि आधुनिक युग में विज्ञान ने धर्म के सिद्धांतों और उस की मान्यताओं को पूरी तरह से झूठा और आधारहीन सिद्ध कर दिया है। हमारी आंखों के सामने ऐसे-ऐसे प्रमाण, चित्र, प्रयोग, अन्वेषण और आविष्कार विज्ञान ने प्रस्तुत किए हैं जिन से धर्म का सारा मायाजाल छिन्नभिन्न हो जाता है। कोई हठधर्मी के बल पर ही दोंग और झूठ को प्रश्रय देना चाहे अथवा

अपने को ऊंचा बताने की कोशिश करे तो उस का समाधान देश के पागलखानों में ही मिल सकता है।

अंधेरे से उजाले को चले।

हमें मूलभूत तरीके से नया चिंतन करना है। धर्म की अंधेरी कोठरियों में हम सदियों से कैद रहे हैं इसलिए अंधकार हमारे जीवन के हर पहलू पर हावी हो गया है और हम उसे ही सही मानने लगे हैं। इस स्थिति का हमें साहस के साथ मुकाबला करना होगा और मानव समाज को अंधेरे से निकाल कर रोशनी की ओर ले जाना होगा।

कितना सहंगा धर्म

से संबंधित अन्य रिप्रिंट

- (1) आलोचनाओं और आपत्तियों का उत्तर
- (2) मुकदमे का निर्णय



